गन्धमादन

*

कुबेरनाथ राय

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक : ३२५

सम्पादक एवं नियामक
लक्ष्मीचन्द्र जैन

प्रथम संस्करण जुलाई १९७२
मूल्य · ग्यारह रुपये

गन्धमादन

(ललित-निबन्ध)

कुबेरनाथ राय

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
३६२०/२१, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

मुद्रक
सन्मति मुद्रणालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५

Price Rs 11 00

GANDHAMADANA BELLES LETTRES KUBERNATH RAY

अनुक्रम

ललित निबन्ध

●

ललित निबन्ध

१०

शब्द-श्री

कभी पढा था कि व्याकरण भाषा का पुलिसमैन है। जब कोई शब्द वाक्य के भीतर कुमार्गगामी होता है तो उस की आवारागर्दी को ठीक करने के लिए व्याकरण उस पर लाठीचार्ज करता है, अश्रु-गैस छोडता है और गिरफ्तार करता है, जिस से वाक्य-सहिता का ठीक-ठीक पालन होता रहे। तब भी कुछ कालिदासो और शेक्सपियरों की शह पा कर कुछ शब्द नक्सलपन्थी रास्ता अख्तियार कर ही लेते हैं और बाद में अपनी क्रान्ति की सवैधानिक स्वीकृति भी पा जाते हैं। तब बेचारा व्याकरण अपना सा मुँह ले कर रह जाता है। तथ्य तो यह है कि कौतुकमयी शब्दरूपा वाक्श्री व्याकरण की चौकीदारी में रहते हुए भी उस के पाश-अंकुश के या उस के लाठी-बिल्ले के अधीन नही। यह तेजोमयी 'चटुल चक्षु.' शब्द-श्री अपनी गरिमा को छन्दबद्ध और छन्दमुक्त दोनो रूपो में प्रकाशित करती है। छन्द या नियम मानना इस के लिए आवश्यक नही। चिट्ठी-पत्री और बोलचाल के स्तर पर और कथा-वार्ता के स्तर पर यह नियम मान कर चलती है, पर अपने चरम प्रस्फुटन के अवसर पर यह शब्द-श्री नियमाधीन नही रहती। उस समय यह कभी तेजोमय भास्वर मन्त्र बन कर वृषभ सी हुँकड़ती है और एक-एक अक्षर बीजमन्त्र बन कर शक्ति-टंकार करने लगता है, तो कभी यह हैमवती उमा बन कर आदिम शक्तियों को विद्या का उपदेश दे जाती है और कठोपनिषद् बोल जाती है, तो कभी पूर्णिमा जैसा चेहरा धारण कर पचबाण मारती है और हृदय-हृदय में कविता का स्वाद जन्म लेता है, तो कभी यह क्रोध-उन्मत्त हो कर धूमावती

रूप धारण कर के गाली-गलौज और वीभत्स रस की नदी भी वहा देती है। इस चरम रूप में प्रस्फुटित शब्द-श्री की 'खटकामुखी' नृत्य-मुद्रा की चटुल नेत्र भगिमा ही कविता है, अनिमेप शान्त स्निग्ध दृष्टि ही दर्शन है और चतुर-चैतन्य-सावधान दृष्टि ही चिन्तन है। इसी कामरूपा इच्छावपु धारिणी शब्द-श्री के कविता-रूप का वर्णन करते हुए कविवर जयदेव ने एक सुन्दर श्लोक में लिखा है कि कविवर चोर ही इस के चिकुर-निकर अर्थात् केशपाश हैं, मयूर भट्ट कर्णपूर हैं, भास इस के हास हैं, कविगुरु कालिदास इस की विलास-छटा हैं, कवि हर्ष इस के हर्ष अर्थात् आनन्द हैं और वाणभट्ट ही हृदय में वस जाने वाले इस के चितवन के पञ्चवाण हैं -

"यस्याश्चोरश्चिकुरनिकर कर्णपूरो मयूर,
भासो हास कविकुलगुरु कालिदासो विलास ।
हर्षो हर्षो हृदयवसति पञ्चवाणस्तु वाण,
केषा नैषा कथय कविताकामिनी कौतुकाय ।"

परन्तु भारतीय जाति कर्मकाण्ड और कल्पो (रिचुअल्स) की इतनी प्रेमी है कि न केवल मन और अहकार को, वल्कि मति-वुद्धि को भी वह कल्पवद्ध और कर्मकाण्ड-वद्ध कर के चलती है। यह जाति भोजन से अधिक महत्त्व थाली-तसले और आसन को देती है, उपासना से अधिक महत्त्व पोडशोपचार को देती है, मनुष्यत्व से अधिक महत्त्व वर्णव्यवस्था को देती है, और भावो-विचारो से अधिक महत्त्व व्याकरण को देती है। यह अपनी शिथिल कर्म-निष्ठा को छिपाने के लिए तरह-तरह के कर्मकाण्ड-कलाप रचती है। फलत "यस्य ज्ञानदयासिन्धो ." वारह वरस रटने के वाद वुद्धि यह सोचने में असमर्थ हो जाती है कि व्यास या मनु का अमुक कथन किस 'उद्देश्य' और 'सन्दर्भ' में व्यक्त हुआ है और उक्त उद्देश्य और सन्दर्भ की अनुपस्थिति में यह कथन कहाँ तक उचित है, किस सीमा तक वरेण्य है। इस ने न केवल भाषा का व्याकरण रच रखा है

वल्कि धर्म, समाज-व्यवस्था, व्यक्तिगत आचार-विचार, यहाँ तक कि भोजन और मल-त्याग का भी एक-एक स्थायी अपरिवर्तनीय व्याकरण रच कर रख छोडा है कि कम्युनिस्टो की मस्तिष्क-प्रक्षालन विधियाँ इन के सामने मात है। एक प्रतिभाशाली यायावरीय कवि ने सुन्दर श्लोक में लिखा कि माधव की सारी प्रियाओ में श्वेत, चन्द्रवर्ण, दुग्ध-गौर रुक्मिणी वैसे ही श्रेष्ठ है जैसे सारी विद्याओ में 'शब्द-विद्या' श्रेष्ठ है।

तासा माधवपत्नीना सर्वासा चन्द्रवर्चसाम्
शब्दविद्येव विद्याना मध्ये जज्वाल रुक्मिणी।

—काव्यमीमासा (राजशेखर)

राजशेखर के मन में 'शब्द-विद्या' के माने जो हो, पर टीकाकारो ने व्याकरण-आविष्ट बुद्धि से 'शब्द-विद्या' का अर्थ लगाया है 'व्याकरण-विद्या', और फलत एक सुन्दर श्लोक बिलकुल श्री-हीन और अस्पताल जैसा अशोभन हो गया है। भला कहाँ चन्द्रोपम नारी रुक्मिणी और कहाँ बारह वर्ष तक गोखुर-शिखा धारण कर 'इको यणचि' रट कर प्राप्त होने वाला नीरस ज्ञान। एक अंगे-अगे शोभन, अगे-अगे दूध की तरह बूँद-बूँद स्निग्ध और मधुर, तो दूसरा आदि से अन्त तक शुद्ध ब्राह्मण खाद्य—सत्तू और नमक। टीकाकारो की बुद्धि पर तरस आता है जिन्होंने कान्ता, कामिनी और प्रेमिका की तुलना व्याकरण, बीजगणित और ज्यामिति से करने में कोई अनौचित्य नही देखा। मुझे यह तुलना स्वीकार नही। मेरी समझ से 'शब्द-विद्या' का अर्थ होना चाहिए 'कोष-विद्या', 'कोष-श्री', 'लेक्सिकन' (Lexicon) या 'शब्द-श्री' जो सारी अभिव्यक्तियों का स्रोत है, जो अपने में श्लील-अश्लील द्वन्द्व से परे निस्सग एवं वाक्य-मुक्त शब्दो का संचयन है, जिस में तान्त्रिक बीजाक्षरो, मन्त्राभिषिक्त शब्दो से ले कर कहारो, पालकी-वाहकों, मल्लाहो, दरवेशो और बाज़ीगरों तक के शब्द आ जाते है, जिस से प्रेमिका के रोदन-मधु और मनुहार-मधु से ले कर दुर्धर्ष गाली-गलौज का चण्डी पाठ तक—सभी कुछ अभिव्यक्त होता है। परन्तु इस

कोष-श्री के अन्दर ये शब्द सन्दर्भ-मुक्त या वाक्य-मुक्त अकेले-अकेले अपने विशुद्ध रूप में विकारहीन रूप में स्थित होते हैं। इसी से इस कोष-श्री की तुलना परमाप्रकृति त्रिपुरसुन्दरी माधव-प्रिया से करना ठीक जँचता है। नई पीढ़ी ठीक ही कहती है कि कोई शब्द अश्लील नही होता। परन्तु तभी तक, जब तक वह कोष-श्री की परमाप्रकृति का अंग है। कोष से बाहर आ कर वाक्यों के बीच बैठ कर, अर्थ का शृंगार सँवार रखते हुए वही शब्द अपनी निर्गुण निर्विकार गरिमा खो देता है और तब सन्दर्भ-आश्रित हो कर वह श्लील-अश्लील की लीलाकारियों का दास बन जाता है। अतः 'कोष-श्री' या 'कोष-प्रिया' ही उक्त श्लोक की 'शब्द-प्रिया' का सार्थक अर्थ हो सकता है। टीकाकारों ने इस का निरर्थक अर्थ प्रस्तुत किया है। कहाँ सारे रसों के रस माधव की प्रिया और कहाँ व्याकरण का नमक-नरू। कहाँ शब्दों का नक्षत्रों के मार्ग पर अभिसार और कहाँ प्रत्यय-विभक्तियों की तड़ातड़ बजती लाठियाँ और सन्धि-समास का अश्रु-गैस। पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी को भले ही व्याकरण के लाठी-सोटे की पैतरेबाजी मनमोहक लगे, पर मैं तो मालतीलतो का कामुक यक्ष-मेघ हूँ और भाषा के "दिङ्नागानाम्" के स्थूल हस्त-चपेटों से बच-बचा कर शब्दरूपा श्री का 'चाक्षुष-यज्ञ' भोग कर रहा हूँ। मेरे जीवन का क्षण-प्रतिक्षण इसी के यज्ञ का मन्त्रगान बनना चाहता है, मेरे 'अ' से 'ह' तक सारे वर्णोच्चार, मेरे सारे उच्चारण, मेरा सारा 'अहं', इसी की भाषामयी आरती है। यही सारी विद्याओं की अभिव्यक्ति का आधार है। इसी से इसे परमाप्रकृति माधवप्रिया के समकक्ष रखा जा सकता है। यही सभी अनुभवों को अभिव्यक्त और प्रकाशित करती है, "संचारिणी दीपशिखा" की तरह जिस अनुभव के चेहरे पर यह दृष्टिपात करती है, वही अभिव्यक्त और अर्थवान् हो उठता है, अन्यथा अर्थातीत के अन्धकार में अपने अस्तित्व की छटपटाहट भोगता रहता है।

यह शब्द-श्री या कोष-श्री एक दियासलाई की डिबिया है। प्रत्येक

शब्द एक-एक तीली है। डिबिया में पड़ी है, कोई कीमत नही। पर अचानक प्रयोग की रगड़ खा कर भक से जल उठती है और उस क्षण दीप्ति-रूपिणी स्वाहा-रूपिणी कमललोचना शब्द-श्री तेजस्वी रूप-शिखा के मध्य अवतरित हो जाती है, तब चाहे उस से तुलसी-चौरे का दीप जला लो, चाहे अध्ययन-मनन के लिए टेबल लैंप जलाओ, चाहे रतियज्ञ के लिए विलासकक्ष आलोकित करो, या ग्राम, नगर, रेलवे-स्टेशन, विद्यालय जला कर भस्मीभूत-क्षार कर डालो, तुम्हारी मरजी। तुम बली हो क्योंकि तुम्हारे पास दीप्ति-रूपिणी, स्वाहा-रूपिणी शब्दो की कोष-श्री है और तुम उस का प्रयोग करने में समर्थ हो। तुम सुप्त शब्द-शक्ति को प्रयोग द्वारा जाग्रत् करने की कला जानते हो, तो तुम सब कुछ कर सकने में समर्थ हो। क्योंकि प्रयोग द्वारा ही जो अनुभव जन-जन के हृदय अन्धकार में छटपटा रहा है, उस के चेहरे पर इस शब्द-श्री की सचारिणी दीप का आलोक फेंका जा सकता है, और उस अनुभव को प्रकाशित कर जन-जन को उस के अस्तित्व के प्रति सचेत किया जा सकता है तथा उन्हें अनुभव-चेतना के माध्यम से कर्मपथ पर प्रेरित किया जा सकता है। यों शब्द शव की तरह निष्क्रिय रहता है, पर प्रयोग द्वारा उस में 'चिति' का सचार हो जाता है। पतजलि ने अपने महाभाष्य में शब्द के शक्ति-संचार के रहस्य को "प्रयोगेण अभिज्वलति" कह कर निर्देशित किया है। आकाश शब्द का आश्रय है, कान से उपलब्ध होता है, बुद्धि से उस का विग्रह (रूप का ज्ञान) होता है, पर प्रयोग से वह रगड खा कर भक से जल उठता है और तब अपने तथा दूसरे के अनुभवों का चेहरा अन-भिव्यक्ति के अन्धकार को काट कर स्पष्ट हो उठता है। प्रत्येक अनुभव सार्थक होने के लिए शब्द पाना चाहता है। शब्द न पाना, नाम न पाना, अनामा रह जाना एक बहुत बडी व्यथा है। नाम न रहे तो गोबर और गौरी-गणेश में फर्क ही क्या है। फर्क आया नाम के कारण। व्यक्तित्व मिला नाम के कारण। अस्तित्व तो पहले से ही था, पर इसे 'अस्ति' की

चेतना मिली नाम के कारण। अत: शब्द पाने की, नाम पाने की, संज्ञा पाने की साधना का ही नाम है ज्ञान-विज्ञान, और सभ्यता-संस्कृति। बिना नाम पाये, बिना संज्ञा प्राप्त किये, यह सब असम्भव था। एक अविकसित-अधूरी भाषा को ले कर कोई भी व्यक्ति या जाति विकसित-उन्नत और ऊर्ध्वगामी नहीं हो सकती। सभ्यता की प्रगति का इतिहास इस हवा-पानी, पशु-पक्षी, पेड़-पल्लव की निर्वैयक्तिक सृष्टि से अलग होने की, एक व्यक्तित्व और एक नाम पाने की साधना का इतिहास है। जैसे-जैसे मनुष्य आगे बढ़ता गया, उस का अनामापन मिटता गया, उस के नाम के सारे बौद्धिक, मानसिक और आत्मिक कटाव, सारे नोक, सारी नक्काशी स्पष्ट से स्पष्टतर होने लगी। इसी से आज मनुष्य माने 'व्यक्ति' पर गाय माने गाय, इमली माने इमली और आम माने आम। मनुष्य व्यक्तिवाचक संज्ञा तक विकसित हो गया, जब कि शेष सृष्टि बौद्धिक-आत्मिक-मानसिक दृष्टि से जातिवाचक तक ही सीमित रह गयी। नाम व्यक्तित्व के मणि सर्प की त्रिगुणात्मक मणि है, और आहार-निद्रा, भय-मैथुन के समय भी यह मणि उस के मस्तक के मध्य, बाहर-भीतर प्रकाशित करती रहती है। यह नाम की मणि ही है जिस के संस्पर्श से वह आहार-निन्द्रा-भय-मैथुन की पाशविक क्रियाओं का षट्रस-नवरस-रूपान्तर कर चुका है। अन्य पशुओं के पास भूख है, पर इस व्यक्तित्व-धारी, नामधारी मनुष्य के पास केवल भूख नहीं, "कंस, महूख, पियूख" की विशेष भूख है और उस से भी बढ़ कर उस की चरम क्षुधा या चरम पिपासा है, रूप-तृषा, वतरस-तृषा और संग-तृषा। वह "संग-परस-सुधा" के लिए व्याकुल रहता है। अन्य पशुओं के भोग का या भोजन का उद्देश्य है भोग या भक्षण। पर मनुष्य के भोग और भोजन—दोनों लीला हैं, दोनों को वह लीला के रूप में, क्रीडा के रूप में, आनन्द के माध्यम के रूप में ग्रहण करता है। यह मनुष्य ही है जो चटनी-अचार खाता है; क्योंकि उस की भोजन-क्रिया, पशुओं की तरह शरीर या स्वास्थ्य की माँग

के अनुसार नही, उस के व्यक्तित्वधारी-नामधारी मन की क्रीडा के अनुसार होती है। पर अजीब बात है व्यक्तित्व और नाम के माध्यम से इतनी बौद्धिक, मानसिक और आत्मिक समृद्धि पा कर भी कुछ ऐसे निकलते हैं जो व्यक्तित्व और नाम के ऊर्णनाभ पाश को काट कर अखण्ड-मण्डलाकारम् आकाशोपम सत्ता के साथ एकाकार हो जाना चाहते है, पुन. निर्वैयक्तिकता की ओर, ब्रह्मत्व की ओर लौट जाना चाहते है, जिस में आकाश पिता है, धरती माता है, घासपात भाई-बहन हैं। शायद यह भी एक लीला है। लीला के पाश को तोड कर सांड की तरह हॅंकडने की लीला। लोग कहते हैं कि उन के अन्दर विश्व-प्रेम रहता है। पर व्यक्तिगत व्यवहार में ये संन्यासी बडे ही निर्मम और अक्खड होते हैं, "तदेकोऽवशिष्ट शिव केवलोऽहम्" कह कर हॅंकडने वाले छुट्टा मुक्त सांड की तरह। क्योंकि निर्वैयक्तिक प्रेम केवल एक आइडिया मात्र है, एक बौद्धिक तथ्य है 'समाजवाद' की तरह। इन के पास भाववाचक ऐब्स्ट्रैक्ट 'प्रेम' है, पर सगुण व्यक्तिवाचक प्रेमपात्र या प्रेमिका नही। यह सगुणबोध नही है। व्यक्तिवाचक का माया-जगत् हमारे लिए मन्दाक्रान्ता छन्द है तो इन कौपीनधारी अक्खडो के लिए मोह-पाश। हमें छन्दवरण करने में मौज मिलती है तो इन्हें पाश तोडने में।

लोग कहते हैं नाम में क्या धरा है। आंख के अन्धे का भी नाम पद्म-लोचन हो सकता है, 'क'-अक्षर-गोमास-समान तक की शिक्षा पाये व्यक्ति का नाम भी वाचस्पति दूबे हो सकता है, तो दूसरी ओर हजारीप्रसाद लक्ष्मीवाहन न बन कर सरस्वती-वाहन होना ही वरण कर सकते हैं। पर ऐसे उदाहरणों में ये नाम आरोपित नाम हैं और इन नामों में न तो पुकारने वाले का विश्वास रहता है और न इन्हें धारण करने वाले का। आरोपित होने के बावजूद ये नाम आत्मविश्वास के अग नही बन पाते, क्योंकि व्यक्तित्व के समानान्तर न हो कर ये विपरीत पड़ गये

है। जो नामधारी के व्यक्तित्व का वाचक नही बन पाता, वैसा नाम दम्भ या कपट से अथवा भूल से आरोपित नाम है। उस की तुलना सर्प-मणि या नाग-मणि से नही हो सकती, क्योंकि मणि माथे पर आरोपित नही रहती, माथे के भीतर रहती है। व्यक्तित्व और नाम परस्पर-पूरक हैं। कभी-कभी नाम भी व्यक्तित्व पर अद्भुत प्रभाव डालता है। और तो और, मैं अपने गाँव की बात बताता हूँ। मेरे पुराने साथी मुंशी जीउतलाल है। मरछहा होने के कारण उन के पिता दरबारीलाल ने जीउत नाम रखा। पढ-लिख कर वे बेचारे इस नाम से शर्म खाने लगे तो हम साथियों ने सर्वसम्मति से एक निर्विरोध प्रस्ताव द्वारा उन का नाम शुद्ध सस्कृत भाषा में 'जीमूतवाहन' रख दिया और जीमूतवाहन वर्मा की नयी सज्ञा से मैट्रिक के दरवाजे पर धक्कमधुक्की कर के तीन उमाँच में उक्त नाम के साथ एक योग्यता का प्रमाणपत्र भी हासिल कर लिया। पर जब से उन का नाम 'जीमूत' पडा, वे ग्राम की राजनीति में दखल देने लगे, धीरे-धीरे पुराने नाम की दीनता कट गयी, और आजकल तो ग्राम की सारी राजनीति वही सँभाल रहे है। धूल में रस्सी बटना कोई उन से सीखे। सारे गाँव को वे तुर्कनाच नचा रहे हैं। जिस दिन हम लोगो ने उन का यह नाम प्रस्तावित किया उसी दिन से उन में बौद्धिक और मानसिक परिवर्तन शुरू हुआ और आज तो वे सचमुच घनघोर गर्जन करने वाले जीमूत हैं, "वर्षा घोर निशाचररारी" वाले जीमूत हैं, और उन की कृपा से अभागे ग्राम के शीश पर मामले-मुकदमे के मेघ, दफा एक सौ सात के इन्द्रधनुष और फौजदारी के विद्युत्गर्जन से सदा पावस ऋतु छायी रहती हैं। 'जीमूत' शब्द के दो अर्थ होते हैं। प्रथम तो यह कि जो 'जी' अर्थात् 'जीवन' यानी 'जल' को अपने अन्दर 'मूत' अर्थात् 'बद्ध' रखे, धारण किये रहे। दूसरा यह कि जो 'जी' अर्थात् 'जीव' यानी प्राणियो को 'मूत' अर्थात् 'बद्ध' यानी अवरुद्ध या कैदी बना कर रखे, सारा कामधाम बन्द कर दे और लोग घर में या पेड के नीचे अवरुद्ध

चुपचाप पडे रहने के लिए वाध्य हो। मेघ में दोनो गुण हैं, पर हमारे मुंशी जी को दूसरा गुण ही रुचिकर लगा। अत. ऐसे उदाहरण के रहते हुए भी मैं कैसे मान लूँ कि नाम में क्या रखा है? अरे, मुझे तो अफसोस है कि माता-पिता ने मुझे 'कुवेर' के 'नाथ' की नकेल क्यो पहनायी, और 'कुवेरनाथ' कर के एक महा अडवंगी, दरिद्र और सनातन हिप्पी देवता का नाम दे डाला, जो अपने चढने के लिए एक घोडा तक नही जुटा पाया, हाथी और विमान की तो वात ही क्या? हो सकता है कि यदि मेरा नाम मात्र 'कुवेर' रहता तो यक्षराज धनद के रथ का पहिया मेरे आँगन में ही टूटता और उस पर लदे हीरे-मोती, रुपये-पैसे के वोरे मेरे आँगन में ही सडते। पर अव तो गलती हो ही गयी। अव क्या किया जाये? अव तो इस जन्म को, इस जीवन को, नाम के अनुरूप रूप में ही उपलब्ध करना है, अन्यथा यह वेचारा नाम निरर्थक हो जायेगा और जन्म भर रोता रह जायेगा। इतने दिन से जो नाम जन्म-सहचर की तरह साथ-साथ छाया की तरह मेरी काया का सहवासी रहा, उस के प्रति मेरा मोहवद्ध हो जाना स्वाभाविक ही है। इसी से ठोस, झकाझक ठनठनाते 'अर्थ' की चिन्ता न कर शब्दो के अर्थ की चिन्ता किया करता हूँ। शब्दो के अर्थ तो भाव और विचार वन कर सदैव सामने प्रस्तुत रहते है। यही क्या कम है? माना कि भावो और विचारो से पेट नही भरता, पेट भरने के लिए ठनठनिया चाँदी का 'अर्थ' ही चाहिए। परन्तु इन भावो और विचारो के बीच मन अपूर्व अवगाहन, अपूर्व स्नान पा जाता है। यह अपूर्व सुख है। जव तक सम्भव है, यह अपूर्व स्नान करता ही चलूँगा, भले ही खाने को वस, वम-वम महादेव ही रहे।

वम-वम-महादेव! यानी शून्य, हाथ की पकड में या मुट्ठी में आने वाली चीज़ नही। यह मेरे अपने नाम का ही एक अत्यन्त मस्तमौला सस्करण है, एक अद्भुत फक्कड रूपान्तर है। वम-वम-महादेव, खाली, शून्य, पर अपूर्व शक्तिमय महोच्चार। लगता है दुनिया की दिगन्त-

अवरोधी दीवारें थर्रा गयी, आसमान की छत गिर पडेगी। और इस की सारी अपूर्वता 'वम-वम' शब्द में है। इस शब्द का आधुनिक 'बाम्ब' के आविष्कार के पूर्व ही हिन्दुस्तानी मन में आविर्भाव हो चुका था। यह दरअसल 'व्योम, व्योम, महादेव' का विकृत रूप है। महादेव की अष्टमूर्तियाँ है यजमान, चन्द्र, सूर्य, क्षितिज, जल, पावक, पवन और व्योम। व्योम मूर्ति उन की चरम विराट् निराकार शून्य सत्ता का प्रतिनिधित्व करती है। दक्षिण भारत के चिदम्बरम् के मन्दिर में उन के आकाश विग्रह या शून्य विग्रह की पूजा होती है। गर्भगृह में कोई मूर्ति नही, पर दीवारो पर भरतनाट्य शास्त्र की एक सौ आठ नृत्त मुद्राएँ अंकित है। अत "वम-बम-महादेव" का मुहावरात्मक अर्थ 'कुछ नही', 'खाली', या 'शून्य' बावन तोले सवा पाव रत्ती ठीक है। 'व्योम' या 'वम' शून्य है, इसी से 'ब्रह्म' तुल्य है। यह महाशब्द ओ३म्कार तुल्य है, यह सारी कोप-श्री का सुमेरु-शब्द है। जिस तरह सारे अनुभव ब्रह्म की परमा प्रकृति के विस्तार है, वैसे ही सारे अन्य शब्द और उन शब्दो पर आधारित कोमल-कठोर काव्य-दर्शन-चिन्तन या गाली-गलौज-प्रेमालाप, इसी 'वम-बम-महादेव' के या सक्षेप में इसी 'वम' के विस्तार हैं, ऐसा दावा मैं कर सकता हूँ। जब मैं यह सोचता हूँ तो अपने नाम की काव्यहीनता की शर्म और ग्लानि कटती हुई ज्ञात होती है और मैं पश्चात्ताप-मुक्त हो जाता हूँ।

•

नदी, तुम बीजाक्षरा !

महाकवि के 'मेघदूत' में यक्ष कहता है · 'मित्र मेघ, तृतीय पाण्डव अर्जुन की महिमा से मण्डित कुरुक्षेत्र से आगे, जहाँ उस गाण्डीव धन्वा ने शत्रुओ पर धारासार बाण-वर्षा की थी, तुम उत्तराखण्ड की ओर बढ चलना जहाँ हिमालय के प्लक्षवनो से हो कर सरस्वती नदी प्रवाहित होती है, जिस के जल का सेवन बन्धु-स्नेह के कारण समर-विमुख हो कर अन्तेवासी बलराम ने अपनी प्रिया रेवती के नयन बिम्बो से अंकित परम प्रिय हाला का भी परित्याग कर के, किया था। प्रिय मित्र, तुम भी उस सारस्वत जल का पान करना। इस से तुम्हारा अभ्यन्तर धौत-शुभ्र हो जायेगा। भले ही बाहरी रूप श्यामवर्ण हो रह जाये।

"हित्वा हालामभिमतरसा रेवतीलोचनाङ्का,
बन्धुस्नेहात् समरविमुखो लाङ्गली या सिषेवे।
कृत्वा तासामधिगममपा सौम्यसारस्वतीना-
मन्त शुद्धस्त्वमसि भविता वर्णमात्रेण कृष्ण ॥" (पूर्वमेघ, ५१)

बलराम को कृष्ण द्वारा आहूत महाभारत का बन्धु-मेध यज्ञ रुचा नही और इस क्रूर कृत्य से अपने को दृष्टि अन्यत्र रखने के लिए वे सरस्वती के वैराग्यमय तट पर जा कर तीर्थवासी बन गये। सरस्वती का वैराग्यमय जल उस हाला से भी नशीला रहा होगा, जिस में रेवती के लोचनो का प्रतिबिम्ब झलक उठता था। फक्कड़ स्वभाव वाले बलराम हर जगह पत्नी को साथ ले कर थोडे घूमते थे! नाम से ही नही स्वभाव से भी वे शुद्ध लागली या हलायुध थे। सुरा उन्हें अत्यन्त प्रिय थी। सुरा का एक

नाम ही है 'हलिप्रिया'। "सुरा हलिप्रिया, हाला" (अमरकोश)।

प्रिया रेवती पास हो या न हो, पर नशे में उन की घुत्त लाल रतनार आंखों को लगता था कि सुरापात्र में प्रिया का सुन्दर मुख झलक रहा है, उस में उस के दीर्घ आयत लोचनों का प्रतिबिम्ब झांक रहा है। ऐसे फक्कड बेपरवाह बलराम के मन मे भी सगे-सम्बन्धियों के आगत सहार की कल्पना से हो दारुण व्यथा उठी, और कंचन की पुरी द्वारका, प्रियतमा रेवती और सुरापान-उन्माद सब कुछ को छोड कर, वे हताश मन, इस ज्ञान और वैराग्य की प्रतीक पवित्र नदी के तट पर चले आये और मन की दारुण वेदना को इस नदी के शान्त, ज्ञान-दीप्त, आलोक-भास्वर प्रवाह में समर्पित कर दिये। 'मेघदूत' का उपर्युक्त श्लोक मेरे मन में एक प्रकाशमान चित्र उपस्थित करता है। महाभारत में लिखा हुआ है 'प्लक्षजाता सरस्वती' अर्थात् सरस्वती नदी हिमालय की तलहटी के प्लक्षवनों से नि सृत हो कर मैदान में उतरती थी। मुझे लगता है कि एक झरित पत्र पाकड-तरुओं का वन है। एक पाकड की नग्न शाखा के नीचे बलराम सिंह-मुद्रा में लेटे हैं। सिंह और संन्यासी दायी करवट लेटते हैं और गृहस्थ बायी करवट, क्योंकि गृहस्थ के वाम भाग में किसी और के लेटने की अपेक्षा की जाती है। इस समय बलराम भी सन्यासी 'मूड' में ही हैं, 'कौपीनवन्त खलु भाग्यवन्तम्' की मौज में अपनी दारुण व्यथा को भूलने के फेर में हैं। अत. वे भी दायी करवट ही लेटे हैं। आदिगन्त नीचे झरित पत्र पाकड-वन और नग्न शिलाखण्डो का धूसर विस्तार और ऊपर प्रभामय आकाश की ठण्डी शान्त निर्बन्ध नीलिमा। इस सादे नील-धूसर वातावरण में सरस्वती का निर्मल, शान्त प्रवाह वैदिकोत्तर अनुष्टुप् छन्द की तरह सधी हुई, मध्यगति से चल रहा है। ऐसे परिवेश में एक मात्र यही अनुभव हो सकता है कि यह उदास धूसर शैल तटी अपनी ही देह है, झरते पत्तों की तरह इस का भी करुण पात एक दिन होना ही है, पर इस देह

के मध्य प्रवाहित भास्वर जल सी कोई सत्ता है, एवं इस देह को ऊपर से आवृत्त किये कोई भास्वर आकाश सी सत्ता है; ये दोनों चरम रूप में अवशिष्ट रह जाती है; और जो अवशिष्ट रह जाता है, जो चरम उच्छिष्ट है, जो सनातन शेष है वही तो मैं हूँ. इसी से तो मुझे लोग शेष और अनन्त कहते हैं। वह मैं ही तो हूँ जो जन-जन में शेष रह जाता है, जो कभी मरता नहीं....। यह शेषवती नदी ही हमारे अस्तित्व-प्रवाह का प्रतीक है। इस के किनारे को सगुण और सीमित प्लक्षवन अवरोध दे रहा है, पर इस का आदि है परमपद नील से झरता तुषार और अन्त है मुक्त विरक्त महासमुद्र। नदी का आदि और अवसान, इस के दोनों छोर विरक्त, मुक्त, अपार, निराकार और निर्गुण हैं, पर उस के तट या किनारे हैं सीमाबद्ध। देशकालबद्ध और सगुण। क्या ही अद्भुत विशिष्टाद्वैत है! हमारी आत्मसत्ता की प्रतीक यह नदी सगुण और निर्गुण दोनों है। बलराम के 'आवृत्त चक्षु', अर्धनिमीलित नयन इसी विराट् बोध या महा अनुभव के नशे में मूँदे जा रहे हैं। उन्हें अपार मौज आ रही है, अद्भुत आनन्द मिल रहा है, यही कारण है कि बलराम इस सरस्वती के तट पर वैराग्य जल के नशे का पान करते हुए उस बन्धु-मेध के महासहार की दारुण वेदना को भूलने के लिए चले आये हैं।

कालिदास का यह श्लोक मन में एक प्रश्न जगाता है यह सरस्वती, यह अपूर्व नदी है कहाँ, या कम से कम, थी कहाँ? अपने पापों को समर्पित करने के लिए तो घर से दो मील, डेढ मील दूरी पर प्रवाहित 'शिवजला भागीरथी' को पा जाता हूँ, पर अपनी वेदना समर्पित करने के लिए शोकहरा-तापहरा सरस्वती को कहाँ पाऊँ? यो सरस्वती वैदिक युग की नदी है और मेरी तो धारणा है कि यह वैदिक युग के पूर्व के स्मृति-प्रवाह को भी अपनी सज्ञा द्वारा वहन कर रही है। वर्तमान भारत ही नही, अखण्ड भारत क्या, उस से बढ कर वृहत्तर भारत की ऐतिहासिक स्मृतियाँ इस के नाम के साथ जुडी है। प्रोफेसर बर्नाफ ने

ईरान की हरक्वती नदी से इस सरस्वती के नाम-सम्बन्ध की कल्पना की है। मुझे लगता है कि ईरानी 'हरक्वती' और भारतीय 'सरस्वती' दोनों किसी प्राचीनतर नदी की स्मृतिवाहक सज्ञाएँ हैं, जिस से भारतीय ईरानी दोनों आर्य क़बीले परिचित थे। भारतीय 'स' का ईरानी 'ह' में रूपान्तर तो कई शब्दों के सन्दर्भ में देखा जाता है :

सिन्धु > हिन्धु > हिन्दु, मास > माह, अस्मद् > अस्म > अहम् > हम, सप्ताह > हप्ताह > हफ्ताह > हफ्ता। ये शब्द सम्भवत रूपान्तर नहीं, समानान्तर रूप हैं। इसी प्रकार 'सरस्वती' का प्रतिरूप 'हरस्वती' और बाद में 'हरक्वती' हो जाना असम्भव नहीं। 'स' का 'ह' में रूपान्तर तो अपने देश में भी कई प्रदेशों के उच्चारण में हो जाता है। अपने देश के पण्डितों में एक प्रचलित उक्ति है, जो मूलत भाषा-शास्त्र का एक सूक्त है, "सरितो हरितो भवति सरस्वत्य हरस्वत्य." और अपने देश में एक प्रचलित मज़ाक़ है 'अरे भाई कामरूपी पण्डित को नमस्कार कैसे करूँ! उस के मुख में तो 'शतायु' 'हतायु' बन कर उच्चारित होगा'। सम्भवत. इस उच्चारण के फेर से ही तान्त्रिकों ने 'श्री' और 'ह्रीं' दोनों को एक ही बीज मन्त्र का रूपान्तर माना है। और तो और ऋग्वेद में ही दोनों रूप प्राप्त होते हैं। 'सरस्वती' तो कई बार आया है पर "तंममर्तुंदुच्छुना हरस्वती" (ऋ. २२३६) में दूसरा रूप भी मौजूद है। अत हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि भारतीय 'सरस्वती' और ईरानी 'हरक्वती'—दोनों एक ही प्राचीन आर्य सरिता की स्मृति का सरक्षण-सवाहन करती हैं। उक्त सरिता का लोप हो गया, पर उस की महाभास्वर स्मृति इन दोनों नामों में प्रवाहित है।

'सरस्वती' और 'सरयू' दोनों शुद्ध आर्य शब्द हैं। पारसी ग्रन्थ 'वेंदीदाद' में 'हरयो' नाम की नदी का ज़िक्र है। यही 'हरयो' भारत में 'सरयो' 'सरयू' बन कर सुरक्षित है। यह नदी भी 'सरस्वती' की ही तरह किसी नदी की अत्यन्त प्राचीन स्मृति का सकेत करती है। इक्ष्वाकुओं की 'सरयू' भारतीय सरयू ही हो सकती है, पर आर्य जाति का

इतिहास तो इक्ष्वाकुवंशीय भारत से अधिक प्राचीन है। नदी का पुराना नाम रहा होगा 'घर्घरा' ('घाघरा' आज भी चलता है)। आर्य कबीलों ने जब ब्रह्मावर्त से आगे बढ़ने पर इस प्रदेश को दखल कर लिया तो नदी का नाम पुरानी नदी की स्मृति में 'सरयू' रख दिया होगा। ये नाम-प्रवाह हमारे ऐतिहासिक विस्तार के साथ-साथ अपना विस्तार करते गये। इसी से मैं तो मानता हूँ कि 'सरस्वती' मात्र नदी नहीं, हमारे इतिहास की सुषुम्ना नाड़ी है। यह कार्ल युग की भाषा में हमारे 'सामूहिक मन' या 'जातीय मानस' की सदानीरा नदी है। तभी तो ऋग्वेद में इसे जल-देवता के साथ-साथ वाक्-देवता का भी प्रतीक माना गया है और कालान्तर में भारतीय वाक् देवता की संज्ञा ही हो गयी 'सरस्वती'। नदी क्या है, मानो साक्षात् ऋतंभरा है, साक्षात् प्रज्ञा-प्रवाह है, सनातन संस्कार-प्रवाह है। न केवल फक्कड़-प्रमत्त बलराम ही इस के प्रज्ञाजल को पी कर अपनी वेदना भूल गये, बल्कि नामी-गरामी भृगु-वत्स-च्यवन-आप्नवान-यमदग्नि आदि से ले कर मेरे जैसे अनाम धीवर तक इस भावसत्तामयी अरूप नदी से प्रार्थना करते आ रहे हैं. "ओ माँ, बड़ी तृषा है! चुल्लू भर करुणा दे। ओ माँ, बड़ा अन्धकार है, पाप गरज रहा है, चुल्लू भर विद्या दे।"

परन्तु भाव-सत्ता के रूप में नदी का भले ही वरण किया जाये, इस की भौगोलिक सत्ता का भारत के नक्शे पर निर्देश करना आज एक टेढ़ी खीर है। आज तो नदी का 'विनशन' हो चुका है, वह अन्त सलिला है। वह अन्तर्धान है। आज हम इस की स्मृति-रक्षा के लिए गंगा-यमुना के संगम पर एक 'सरस्वती कूप' की कल्पना कर के इस के पातालवासी होने की बात करते हैं। पर वास्तविकता तो यह है कि यह उत्तर प्रदेश में कभी बही ही नहीं। ब्रह्म के साक्षात् चतुष्पाद-रूपान्तर पण्डे-पुरोहित इसे मानें या न मानें, पर जिन की बुद्धि के बल पर कर्मकाण्ड का सारा आडम्बर सारा झूठ-सच खड़ा है, वे मनु महाराज सरस्वती नदी का स्थान-निर्देश इस प्रकार करते हैं: 'सरस्वती दृषद्वती नामा देव-नदियों के मध्य जो

देवनिर्मित देश है, वह ब्रह्मावर्त है। 'ब्रह्मावर्त के अनन्तर' कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पांचाल, और शूरसेन (अर्थात् वर्तमान पश्चिमी यू. पी.) से मिल कर 'ब्रह्मर्षि देश' बनते है। हिमालय और विन्ध्याचल के मध्य (सरस्वती के) 'विनशन' बिन्दु से पूर्व और प्रयाग से पश्चिम का देश 'मध्य देश' कहलाता है।'

अब सर्वश्री टीमल चौबे, जोखू चौबे, मँगरू चौबे वग़ैरह-वग़ैरह साकिन भारतवर्ष, परगना एशिया, विश्व ब्रह्माण्ड, इसे मानें या न मानें, पर मनु महाराज के श्लोक और इन पर कुल्लूक भट्ट की टीका स्पष्ट निर्देश देते है कि सरस्वती नदी का प्रयाग या वर्तमान उत्तर प्रदेश से (जो अंशत ब्रह्मर्षिदेश और मध्य देश और आर्यावर्त का समवाय है) कभी भी कोई सम्बन्ध नही था और दूसरी बात यह कि सरस्वती नदी का स्पष्ट रेखा-निर्देश सम्भव न होने पर भी इतना तो ध्रुव लगता है कि यह हिमालय की दक्षिण पश्चिम नदी-परम्परा में थी, सप्तसिन्धु-परम्परा में। यह उस की दक्षिण-पूर्व परम्परा में, गंगा, यमुना, गोमती, सरयू की परम्परा के अन्तर्गत नही आती है। इस की अन्तर्धान-भूमि मध्य देश का पश्चिमी छोर है तो प्रयाग उस का पूर्वी छोर। "हाय रे, मयूर व्याल पूँछ से जुडे!" प्रयाग को सरस्वती-संगम कल्पित करना बहुत कुछ ऐसा ही लगता है। महाभारत के वनपर्व में तीर्थ यात्रा प्रकरण में भी सरस्वती का वर्णन पश्चिम प्रदेशो में ही किया गया है। अन्य पुराणो में भी गुजरात के सोमनाथ का दैनिक अभिषेक सरस्वती के जल से होना बताया जाता है। अत नदी अवश्य ही यमुना-पार, पश्चिम में थी। प्रयाग का सरस्वती कूप उस यशस्वी नदी की पुण्य स्मृति का संरक्षण मात्र है। इस का पौराणिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नही। यह एक कर्मकाण्ड-कल्पित तथ्य मात्र है। यह नदी वास्तव में सिन्धु की उपनदी थी। हो सकता है कि थानेसर (कुरुक्षेत्र) की वर्तमान 'सुरसुती' नदी ही पुरानी 'सरस्वती' हो। श्री एच एच विल्सन ने अपनी 'विष्णु पुराण' की अँगरेजी टीका में लिखा है कि सरस्वती और दृषद्वती दोनों वर्तमान

'कग्गर' या 'घग्घर' नदी की उत्तरी दक्षिणी शाखाएँ है जिन में आज भी एक शाखा को 'सुरसुती' कहते हैं (?) और ये दोनो मिल कर कग्गर या घग्घर वन कर राजस्थान के मरु प्रान्त में आज समाप्त हो जाती है। ए एल. बाशम लिखते है . 'आज यह (सरस्वती) नदी राजस्थान के मरु प्रान्त जा कर लुप्त हो जाने वाली एक मामूली पतली धारा है। पर कभी यह विस्तृत चौडी और शक्ति-सम्पन्न प्रवाह से युक्त थी तथा सिन्धु नदी से सतलज-सगम से कुछ नीचे दक्षिण में जा कर मिलती थी।'

प्रयाग तीर्थराज है और प्रतीक के रूप में सरस्वती ही क्यो, कृष्णा, कावेरी, गोदावरी, फल्गु, शोणभद्र और ब्रह्मपुत्र भी इस के हृदय में निवास करते हैं और जिस दिन भारतवर्ष ज्ञान-विज्ञान-कला और शक्ति के चतुरग विकास के शिखर पर पहुँचेगा उस दिन इस प्रयाग के हृदय में वोल्गा, नील, दजला-फरात, यागटोसीक्याग, ह्वागहो आदि तीर्थ जल भी समाधिस्थ हो कर अपने को निरुज और विषमुक्त करेंगे। यह हमारे जीवन काल में भले ही न घटित हो, पर एक दिन यह होगा अवश्य। ऐसा मेरा विश्वास है और ऐसी मेरी प्रार्थना है। पर यह तो आध्यात्मिक, बौद्धिक और काव्यात्मक अनुभव की बात हुई। जलधारा के रूप में तो यहाँ गगा-यमुना ही वहती थी, वहती है और वहती रहेंगी। जहाँ तक प्रतीक रूप में सरस्वती-तीर्थ स्थापन की बात है, प्रयाग के अतिरिक्त अन्य सात स्थलो पर भी सरस्वती को मन्त्राहूत कर के सारस्वत तीर्थों की रचना की गयी है। प्रयाग के सरस्वती-जलतीर्थ की महिमा गगा और तीर्थराज के सान्निध्य से बढ गयी। अन्यथा देश-भेद से इस पुण्यतोया के सात अन्य मन्त्राहूत रूप भी है। प्रथम, पुष्कर यज्ञ में पितामह ब्रह्मा द्वारा आहूत 'सुप्रभा' नाम से; द्वितीय, नैमिपारण्य में ऋषियो द्वारा आहूत 'काचनाक्षी' नाम से, तृतीय, गय देश में गयराज-यज्ञ में आहूत 'विशाला' नाम से, चतुर्थ, उत्तरकोशल में उद्दालक द्वारा यज्ञ में आहूत 'मनोरमा' नाम से, पंचम, कुरुक्षेत्र (ऋषभद्वीप) में कुरुराज द्वारा आहूत 'ओघवती'

नाम से, पष्ठम, गगा-द्वार में दक्ष प्रजापति द्वारा आहूत 'नृरेणु' नाम से, सप्तम, हिमालय में पुन पितामह द्वारा आहूत 'विमलोदा' नाम से—इस प्रकार सरस्वती सात वार मन्त्राहूत हो कर तीर्थजल में रूपान्तरित हो कर सात नामो से स्थित है। फर्क यही है कि अन्य स्थलो पर यह आहूत हुई और प्रयागराज में स्वय प्रकट हो गयी है, अन्त सलिला रूप छोड कर उद्घाटित हो गयी है। प्रतीक के रूप में, भावसत्ता के रूप में तो वात ठीक ही है। स्थूल नदी राजस्थान या सिन्धु के मरु प्रान्त में सूख गयी तो सूख जाये। अपनी सूक्ष्म सत्ता, भाव सत्ता, प्रतीक सत्ता के रूप में अव भी यह स्थित है, मन के भीतर और मन के वाहर—दोनो जगह। सोमनाथ के स्थूल लिंग को एक कुशिक्षित अर्घसभ्य तुर्क ने तोड डाला तो क्या सोमनाथ भी टूट गये? यदि मैं चिढ कर अपने घर की क़ुरान शरीफ की प्रति जला डालूँ तो क्या इस का मतलव कि पैगम्वर की विश्वव्यापी वाणी ही जल गयी, अस्तित्वहीन हो गयी? जो सूक्ष्म सत्ता है, जो भाव सत्ता है, उस के एक स्थूल रूप के नाश होने पर भी उस का अभाव या अनस्तित्व घटित नही होता। वैसे ही सरस्वती नदी भी अस्तित्वमान् है। प्रतीक रूप में प्रयाग-तीर्थ में और भाव के रूप में हमारे मन में, अनुभव के रूप में हमारी सुषुम्ना नाडी में, हमारे स्नायुमण्डल में। अत सरस्वती कूप भी कम महत्त्वपूर्ण नही। पर एक ही वात वहुत खटकती है। जो कभी जीवन्त प्रवाहमयी थी, जिस की लहरो पर मन्त्रगान जैसे स्वर तिरते चलते थे, जिस की सतह पर आलोक की धारा वरसती थी, वाग्देवता के हस विचरण करते थे, उषा और सन्ध्या के समय जीवन और मृत्यु के वीजमन्त्र रूप और दृश्य वन कर उतरते थे, वह मगलमयी प्रवाहमयी गतिमयी विस्तारमयी सरिता आज क्यों रुद्ध, क्षुद्र, आवृत्त कूप के रूप में ग्रहण की जाती है? यह तो नदी का उपहास है, जल-देवता का अपमान है और इस अपमान को पूजा की सज्ञा दी जाती है और इस विराट् प्रतीक को वेच कर रोजगार चलाया जाता है,

धर्मकर्म का, दान-दक्षिणा का। अरे, सुदूर अरुणाचल प्रदेश (नेफा) या तमिलनाडु को ही किसी नदी को सरस्वती का प्रतीकात्मक रूपान्तर मान लेते। कम से कम 'कूप' बना कर उपहास करने से तो यह अच्छा ही होता और देश के सांस्कृतिक ऐक्य की गाँठ और सुदृढ हो जाती। परन्तु व्यापकता-विरोधी, विस्तार-विरोधी, भूमा-घातिनी, समुद्र-यात्रा-निषेधक कूपमण्डूक बुद्धि वाले मन को कर्मकाण्डी 'कूप' ही अधिक रुचिकर हुआ। इस तरह मारे गये हम, मारी गयी नदी बेचारी और यह बूढा कर्मकाण्ड मौज से हुक्का पीता रहा। मैं जानता हूँ, और तो और, पूज्य पिता जी ही यह सब पढ कर महा क्रुद्ध होंगे। उन की दीमक लगी पुरानी पोथी में लिखा है कि सरस्वती का रंग लाल है और वह प्रयागराज में (पिता जी सदैव प्रयाग को 'प्रयागराज' और काशी को 'काशी जी' कहते हैं, यद्यपि कलकत्ता को 'मिस्टर कलकत्ता' और बम्बई को 'मिस बम्बई' कभी नही कहते) गंगा से मिलती है। वे निश्चय ही यह सब पढ कर क्रुद्ध होंगे 'वेनुवंस सुत भयउ घमोई'। पर मैं ने भी निश्चय किया है कि एक दिन जब पूज्य पिता जी सोये रहेंगे, उन के सिरहाने से अपने छोटे भाई की मदद से वह फटी दीमक लगी किताब निकाल लाऊँगा और आग लगा कर फूँक दूँगा। बस, हिन्दू धर्म शुद्ध हो जायेगा। तब हिन्दू धर्म के लिए एक नयी पोथी लिखनी पडेगी और उसे अब बूढे पिता जी क्या लिखेंगे, उस नयी किताब को मैं लिखूँगा, और जो-जो मन में आयेगा, सो लिखूँगा। आखिर मेरी बात भी तो कभी आनी चाहिए, कि आजीवन मैं "हाँ, कहारी हाँ" का ठेका ही पीछे से भरता रहूँगा? बिना यह सब किये विधिनिषेध के रेगिस्तान में खोयी सरस्वती का देश की प्रवाहशक्ति और वाक्‌शक्ति का, उद्धार असम्भव लगता है। अत परशुराम, हनुमान्, कृष्ण आदि उत्पाती देवगण मुझे और मेरी पीढी को आशीर्वाद दे।

हमें सूक्ष्म सरस्वती का उद्धार करना ही है। उस प्लक्षजाता स्थूल नदी की पाँच सूक्ष्म संज्ञाएँ है : वाक्‌प्रदा, ब्रह्मसुता, भारती, वेदाग्रणी और

वाणी। यह नदी कही गयी थोडे है। वस अपने भीतर है। इसे ठीक से पहचान लेना है। यही प्रत्यभिज्ञान ही इस का उद्धार है। इस सरस्वती को कर्मकाण्ड और विधि-निषेध की प्रतीक नही, वल्कि ज्ञान-विज्ञान की प्रतीक मान कर पहचानना है। तान्त्रिको ने तो कहा ही है कि हमारे शरीर में ही सरस्वती प्रवाहमान है सुषुम्ना नाडी के रूप में। इगला-पिंगला, गगा-यमुना है और सूक्ष्मतर अनुभव-प्रवाह, आध्यात्मिक ज्ञान की वाहिका है वीच की सुषुम्नारूपा सरस्वती। मुझे लगता है कि यह तथ्य 'व्यक्तिमन' और 'समूहमन'—दोनो स्तरो पर सही है। स्थूल रूप में यह दक्षिणी पश्चिम दिशा में वहती थी। पर यह सूक्ष्म रूप में, भावरूप में, 'वोध' के रूप में, दक्षिण-पूर्व की ओर मुडी और लोकमानस की गगा से सयुक्त हो गयी। सिद्धान्त में तो यह सदैव ब्रह्मवादिनी मानी गयी, हमारे वोध-प्रवाह का ही प्रतीक रही। पर व्यवहार में हम ने इसे कर्मकाण्ड के कूप में डाल दिया था। अब तो लोकमान्य तिलक ने 'कर्म' शब्द का भी अर्थ-रूपान्तर कर दिया है। अब तो 'कर्म' भी कर्मकाण्ड-मुक्त है, तो ज्ञानरूपा सरस्वती क्यो न कूप-मुक्त हो? अत अव यह सूक्ष्म सरस्वती देश के चतुर्दिक् शरीर में शिरा-शिरा, धमनी-धमनी, प्रत्येक जाति, प्रत्येक वर्ण, प्रत्येक नर, प्रत्येक नारी में प्रवेश कर के प्रवाहित हो, यह व्यक्ति व्यक्ति की सुषुम्ना में प्राण प्रवाहित कर दे, उज्ज्वल चैतन्य के विद्युन्मय अनुभव का व्यक्ति-व्यक्ति के स्नायु-मण्डल में सचार हो जिस से हम विकल हो उठें, हम वैठे न रह सकें, हम उठ खडे होने के लिए वेचैन हो जायें, हम चल पडे, हम भुजाएँ झटकार कर, शीश ऊँचा कर के एक पाँत में, एक छन्द में चल पडें। इस प्रकार राष्ट्र की और व्यक्ति की सुषुम्ना साथ-साथ जाग उठे, अधोमुखी कुण्डलिनी जाग्रत् हो जाये और ऊर्ध्वमुखी हो जाये, और तब यह अन्तर्वासिनी सूक्ष्म नदी दशभुजा वन कर खडी हो जाये और दसों दिशाओ में इस के वीज मन्त्रो का हुकार ध्वनित हो। व्यक्ति-व्यक्ति के मन में सुप्त इस वीजाक्षरा नदी से हम यही प्रार्थना करते हैं। ❂

अन्नपूर्णा बाणभूमि

मैं अपने गांव के गगा तट पर बैठा-बैठा बुद्ध जैसी अनिमेष लोचन-दृष्टि से इस पापहरा नदी के प्रवाह को देख रहा हूँ। विराम, क्षमा, शान्ति की वारिधारा मेरी दृष्टि और श्रवण के मध्य हो कर मस्तिष्क-शिला तक वह रही है, सज्ञातल प्रक्षालित कर रही है। सारा धिक्कार, सारे ताप, सारी ग्लानि धुल रहे है। सचमुच यह नदो पापहरा है। मैं ने किसी को कुछ देने की इच्छा की थी; मैं ने किसी से कुछ पाने की इच्छा की थी, मैं ने आकाश के तारो को बटोर कर घर-घर बच्चो में बाँट देना चाहा था, मैं ने चतुर्दिक् हँसती राका निशि में किसी का हाथ पकड कर कोई प्रतिज्ञा की थी। पर क्षमाहीन अर्थ-व्यवस्था, समाज-व्यवस्था और शासन-तन्त्र के मध्य कुछ कर नही पाया और दमित कामना का पाप ढोता हुआ इच्छाओ के फूल जैसे शिशुओ की निरन्तर हत्या करता हुआ जी रहा हूँ। आत्मा को निगडबद्ध कर के धर्म-परिवार और मर्यादा के राक्षसो का रात-दिन हुक्म बजा रहा हूँ। उन का पानी भरते-भरते मेरी कमर झुक गयी है, तो भी न विराम है और न क्षमा। इसी से इस पापहरा नदी के तट पर आ कर घडी, दो घडी बैठ कर शान्ति, मुक्ति, विराम और क्षमा का आहरण करता हूँ और वे मेरे दमित इच्छा-शिशु अवचेतन की कब्र से उठ कर फूल, तितली, इन्द्रधनुष या कुछ और रूप धारण कर मुक्त हो जाते हैं। सारी ग्लानि धुल सी जाती है, वे मेरी सज्ञा-शिला पर बहती वारिधारा के दृश्य पट पर बोलने से ज्ञात होते हैं· "पिता, तुम्हारे सस्कारो के वन में हम सब भाई-बहन गुलाब-चमेली बन कर फूल रहे है। पिता, अब

हम सब प्रेत नही, मुक्त हैं, चिन्ता मत करो। हम सब तुम्हारे ही मन के अशोक वन की क्यारियों में खेला करेंगे।" और तब मैं हलका-हलका अनुभव करता हूँ "माता, सुरेश्वरि गगे, पापहारिणी तापतारिणी .." अपनेआप मुँह से निकलता हूं और मैं इस प्रवाह की ओर उसी अनिमेष लोचन-दृष्टि से देख रहा हूँ, जिस दृष्टि से तृषाविद्ध बुद्ध ने प्रथम-प्रथम बोधि वृक्ष की ओर देखा होगा।

सवेरा हो चला है। क्षितिज भाल से 'अमित्रहा तमिस्रहा', दुश्मनो के और अन्धकार के नाशक परम पवित्र देवता का तेज इस पवित्र जल पर बरस रहा है। नदी के प्रवाह में वृत्त पर वृत्त जन्म ले रहे है, विस्तृत, और विस्तृत होते जा रहे हैं और अन्त में विलीन हो जाते है। एक ऊर्मिवृत्त मिटता है, तो उस की पीठ पर तुरत दूसरा जन्म लेता है। और इस तरह शृखला लगातार चलती रहती है। गगा का प्रवाह सयसपूर्ण है। उस की ऊर्मियां चाप या चक्राकृति बनाती चलती है, धीरे-धीरे प्रसार करती हैं और शान्त भाव से समाप्त हो जाती हैं। मैं ने ब्रह्मपुत्र को भी देखा है। उस का प्रवाह तीव्र, ज्वारमय और अत्यन्त क्रुद्ध है। उस की लहरें तिरछी या ऊर्ध्वमुखी हैं और त्रिशूलाकृति बनाती चलती है। ब्रह्मपुत्र के स्वर में बाघ की गुर्राहट होती है, जब कि गगा के ऊर्मिचक्रो पर स्वर की वीणा बजती है। नदी क्या है, साक्षात् सरस्वती है। बन्या में जब इस का स्वर तीव्र होता है, तब भी यह वृषभ जैसा हॅकडती नही, गाय जैसी रॅंभाती है। यो इस तरह से भी शान्त गंगा का प्रवाह मन में जो विम्ब उभारता है, वह है हजार-हजार श्वेत धवली गायों का रॅंभाता, उतरता हुआ झुण्ड, जिस के अगल-बगल पूँछ उठा कर मांकते, खेलते-कूदते बछडे चल रहे हैं। वत्स क्रीडा की उछल-कूद के बावजूद एक कोमल, शान्त, गतिमान् और छन्दमय चित्र-कल्प।

यह मतसा गांव की बाणभूमि है। 'बांड' या 'बाण' मूलत 'बाड्' धातु से बना है। 'बाड्' अर्थात् 'डूबना, स्नान करना अथवा डूब कर पुन·

वाहर निकलना। गगातट की यह भूमि प्रतिवर्ष या प्रति दूसरे वर्ष वाढ में डूवती है और वाहर निकल आती है। इसी से यह 'वाड्' भूमि है और इसी का अशुद्ध रूप है 'वाँड़' और उच्चारण साम्य होने से 'वाण'। मैं 'वाण' का ही प्रयोग करता हूँ। क्योकि 'वाण' शब्द का एक अर्थ होता है—गाय का थन। यह गौमातारूपिणी धरती पुत्रवत् हमारा पोपण इस तटीय भूमि की फसल द्वारा पुश्त दर पुश्त से कर रही है, अत हमारे लिए यह 'वाड्' या 'वांड' भूमि निश्चय वाणभूमि है। गगा का वाण संसार की सव से उपजाऊ भूमियो में से एक है। इस तट पर मनुष्य का आवास तथा इस तटभूमि द्वारा मनुष्य का पोषण कम से कम चार हज़ार वर्ष से हो रहा है। कितनी वार मतसा गाँव की यह वाणभूमि कट कर नदी के पेट में गयी, कितनी वार पुन. वाहर आयी। और इस के ऊपर काश और वेर के जंगल कितनी वार उगे, और कितनी वार कुदालो की चोट और श्रम-जल से मनुष्य ने इसे सुरम्य और सशस्य वनाया, यह सव कौन कह सकता है ! पर यह भूमि हमारी मातृका रही है और इस का स्तनपान कर हम पोषित होते रहे हैं, इस स्पष्ट तथ्य को कौन अस्वीकार करेगा ?

यह मेरे गाँव का सौभाग्य है कि गगा यहाँ उत्तरवाहिनी वहती है। जमानिया से ही यह उत्तरोन्मुख होती है और मत्स्या (मतसा) तक आते-आते यह विलकुल उत्तरवाहिनी हो जाती है। गगा का स्वाभाविक प्रवाह दक्षिण या पूर्व की ओर चलता है। पर कभी-कभी उत्तर की ओर घूम कर यह देवतात्मा हिमालय को प्रणाम कर लेती है और शिव का स्मरण कर लेती है, जिस के शिर को प्रेमिका की तरह चरण-ताडित किया था। जहाँ-जहाँ यह उत्तरमुखी हुई है, वहाँ-वहाँ तीर्थों की रचना होती गयी है। उदाहरण के लिए वाराणसी में भी यह उत्तरवाहिनी है। वाराणसी को केन्द्र कर के वीस कोस अर्धव्यास का क्षेत्र काशी-क्षेत्र है। हमारे गाँव के अन्दर भी हवन में "आनन्दवने, महाश्मशाने, गौरीमुखे

काशीक्षेत्रे...." आदि के द्वारा सकल्प में स्थल-निर्देश करने की परम्परा है। काशी नाम सम्भवत गगा तट पर स्वभावत उगने वाले काशवनो के कारण पडा है। हमारे गाँव का गंगा-तट यत्र-तत्र घनघोर काशवनों से ढका है और शरद् ऋतु में ये अट्टहास बाँध कर फूटते हैं। सफेद-सफ़ेद 'घुवो' अर्थात् काशपुष्पो से यह धरती भर जाती है। तब इस काशवन के भीतर घुसने की हिम्मत नही पडती। लोमडी, शृगाल, मृग, वनशूकर और विषधर व्याल इसी के अन्दर विहार करते है। अपने गाँव का काश-वन अब यत्र-तत्र ही बचा है, शेष कट कर नदी के पेट में चला गया, या इसे काट कर जमीन 'कुदाल' दी गयी। जगल या खर-पात साफ कर के भूमि को खेती-योग्य बनाने को 'कुदालना' कहते हैं। जोतने के पहले खेत कुदाला जाता है। प्रकृति और मनुष्य दोनो ने मिल कर इस काशवन को अब खत्म ही कर डाला है। पर तट पर अब भी यहाँ-वहाँ मदार और धतूरे के जगल लगे हैं। वन-तुलसी के झोप पर झोप उगे हैं। कगार से तट की ओर नीचे झुकी बनबेरी या झडबेरी की झाडियाँ है। कही-कही अपनेआप उग गये वट, पीपल तथा पाकड और लिसोडे के वृक्ष हैं। दो पीपल तो इतने पुराने और इतने विशाल हैं कि उन्हें वृक्ष न कह कर 'महीरुह' या 'दरख्त' कहना उचित है। बडे-बूढे भी जिन्दगी भर से उन्हें वैसे ही देख रहे हैं, और वे अब भी 'स्थाणु' नही हुए हैं, विश्वेश्वर और कालभैरव की तरह तट पर अचल खडे हैं।

लोग बताते हैं कि जिस जमीन को आज हम शस्यश्यामल देख रहे हैं, कभी वहाँ बेर की झाडियाँ थी। पर हमारे पूर्वजों ने इस बदरीवन को दो-ढाई सौ वर्षो पूर्व साफ करना शुरू किया और हर साल दस बीघे, पाँच बीघे साफ करते-करते कुछ ही वर्षों में सारी जमीन खेती के योग्य बना डाली। कागज़ में इस का बन्दोबस्त कभी मुगल करते रहे, तो कभी अँगरेज़, तो कभी आज के शासक। पर वास्तविकता में यह धरती श्रम-शुल्का रही है, जिन के पूर्वजो के ललाट का पसीना इस में गिरा, उन्ही के

दखल में आज तक रही है, उन्ही के बैलों की जोडी इस पर हेंकडती रही है। हमारे गंगातट पर यह बदरीवन थोडा सा नमूने के तौर पर वग़ल के गाँव ताजपुर में बचा है, जयमल भाई का वदरीवन। यह पख-पखेरुओ और जानवरो से भरा है, और इस में क़िस्म-क़िस्म के रुख और रुखडी लगे हैं।

यों, बनवेरी हमारे क्षेत्र में रास्ते-घाट यहाँ-वहाँ अपनेआप उग आती है। यह बडी कटीली, वडी खटमिट्ठी पर वडी थेथर या वेहया होती है। यहाँ से भगाओ, तो वहाँ उग आती है। इस का फल मृगयूथों, शृगालो और ग्वाल-बालो के बच्चो का भक्षण है। ग्वाल-वालो के ये बच्चे खटमिट्ठे वेर, और चने का कच्चा साग चवाते रहते हैं, मोटी रोटियाँ खाते हैं और गंगा का पानी पी कर स्वस्थ तगडे रहते हैं। हमारे गाँव के अहीर पहले घी वेचते थे, पर मट्ठा-दूध खाते भी थे। परन्तु जब से गाँव में खोये की भट्ठी जलने लगी है, तब से सारा दूध खोये की भट्ठी पर और पैसा लोभिनी वहू की मुट्ठी में। फलत दूध हमारा गाँव पैदा करता है, और खोया या छेना बना कर इसे बनारस और कलकत्ता के बाबुओं की प्लेट में परोस दिया जाता है। पर इस अन्याय के लिए जिम्मेवार पूँजीवाद नही, संचयवाद और लोभ हैं। परिग्रह और लोभ धनी, ग़रीब दोनो में ही रहते हैं, ऐसा लिख कर पूँजीवादी व्यवस्था के पापो को मैं क्षमा नही कर रहा हूँ। पर बीमारी के कीटाणु मनुष्य जाति के अन्दर कहीं अधिक गहरे में हैं, जहाँ आधुनिक अर्थशास्त्र पहुँच नही सकता।

कगार से कुछ दूर हट कर आदिगन्त शस्य सम्पत्ति है। 'उपकारी की सम्पत्ति जैसी!' पहले फूटती-फूलती कच्ची उमर की हरीतिमा ही देख कर आँखे नही तृप्त होती थी। आज दूर-दूर तक इसे शस्य-सम्पन्न देख कर मन और पुलकित हो जाता हैं। हमारे यहाँ दो फ़सलें मुख्य हैं— 'धान्य' अर्थात् खरीफ़ और 'शस्य' अर्थात् रबी। 'धान्य' की फसल भी दो क़िस्म की होती हैं—भँदई और अगहनी, जिन के वैदिक नाम हैं

क्रमश 'व्रीहि' और 'शालि', इस तरह बाढ न आये तो हमारा गाँव तीन फसल उगाये। पर शायद ही कोई वर्ष बाढ वाम जाती है। आती ही है हर साल। यों एक वर्ष बाढ नही आयी तो नहर विभाग ने उस की भूमिका को अभिनीत कर दिया। विभाग वालो की असावधानी से नहर टूटी, हमारी लगी फ़सल सड गयी और नहर विभाग उलटे टैक्स लगाने पर आमादा, क्योंकि हम ने जल का उपयोग किया है। पर मुग़लो के समय से अर्थात् टोडरमल के युग से आ रहे उत्तर प्रदेश का अमलातन्त्र कब किस को न्याय देता है, कहाँ कौन सुनता है ? यह धरती का शेषनाग किसान, भूमि जिस की माता है, बैल जिस का भाई है, खेत जिस का बेटा है, उस ने कब नही सहा और कब उसे नही सहना होगा ? .. मैं दुख की इस टमकती रग की ओर से ध्यान हटाने के लिए पुन शस्य-श्यामला भूमि की ओर ताकता हूँ। इस के तन पर पीली गहागह फूटी सरसो का शृंगार है। मुझे अपने किशोरवय में सुने एक गान का स्मरण हो उठता है, अत्यन्त रोमैंटिक ढर्रे का गान। पर पीली सरसों के इस रूप-आतप के सम्मुख, शस्य-लक्ष्मी के इस दिशामुक्त हास के सम्मुख मैं यथार्थवादी मिजाज कहाँ से लाऊँ ? गान की पहली पंक्ति का अर्थ है "अरी ओ मैना, अरी ओ निर्मम, तू मेरे मन-मुकुल को रूप की ज्वाला में मत भून।" जानता हूँ कि मेरे लिए यह गान अब सार्थकता खो चुका है। पर अगल-बगल की सार्थकता के बीच आज यह निरर्थक, यह व्यर्थ, यह अपदार्थ भी सार्थक हो उठा है। चारो ओर चने और गेहूँ के कचनार पौधे है। नीचे फलियों के घुँघरू से लदी छबीली गर्वभरी मटर की शैया है। चारो ओर सार्थकता है। चारो ओर उत्साह है। चारो ओर ईश्वर शस्य-शिशुओं के मध्य खेल रहा है।

इतनी सार्थकता और इतने उत्साह का अनुभव खरीफ अर्थात् 'धान्य' की फसल के अवलोकन में नही होता। इस का कारण दृश्यगत है। गंगा की बाणभूमि में 'धान्य' की फसल प्राय ज्वार-बाजरे की खेती के रूप

में होती है, धान की खेती के रूप में नही। तट से दूर वन्या-मुक्त 'बांगर' क्षेत्रो में धान पैदा होता है। वर्षा-शरद् में सारी वाणभूमि ज्वार-बाजरे से टक जाती है। ऊर्ध्वबाहु 'पुरुष'-प्रमाण अर्थात् 'पोरसा' भर उगो बाजरे की छरहरी फसल के नीचे जांघ भर या छाती भर उगी अरहर-कपास और नीचे जमीन पर जड में उर्द, मूंग, गुवार आदि—ऐसे ही पाट के पाट सौ-सौ एकड या पचास-पचास एकड पटे हैं। और यदि मघा नक्षत्र में मेघ पानी दे दे, तो यह बाजरा फूट कर के कचनार काला नाग हो उठता है। तब इस का दाना दूध सा मीठा होगा, भात मक्खन सा लस्सेदार, जिसे भैंस के औंटे गरम दूध में डाल देने पर चीनी डालने की जरूरत नहीं। पर इन सघन खेतो में पगडण्डियो पर चलते समय लगता है कि हम खो गये हैं, हम अरण्य में चल रहे हैं। हम अपनेआप को भटकता हुआ अनुभव करते है। एक अवरुद्ध भाव सा मन में आता है। एक क़ैद या बद्धता का अनुभव होता है। खुली जगह पाने की उत्कट इच्छा होती है और हम स्वयं को नाटा, बौना, लघु अनुभव करने लगते हैं। इसी मे इन खेतो के मध्य गुजरते हुए वह आन्तरिक समृद्धि, वह आत्मविस्तार का अनुभव, जिसे साधारण भाषा में 'उत्साह' कहा जाता है, नही प्राप्त होता, जो घुटने भर या जांघ भर उगे शस्य क्षेत्रो में खडे होने पर मिलता है। अरहर जरूर छाती भर या 'टीकासन भर' अर्थात् 'ललाट भर' ऊँची जाती है। पर यह तो आठ मासी फसल है; ईख की तरह शुद्ध 'शस्य' में इस की गणना नही, यद्यपि कटती है शस्य के ही साथ। इस तरह हम देखते है कि धान्यश्री के द्वारा हमें वह उत्फुल्लता नहीं मिलती, जो शस्यलक्ष्मी को देख कर प्राप्त होती है। क्योंकि, ज्वार-बाजरे के खेतो में हम भटकते है पर इस का अपूर्व रूप अपनी आक्षितिज चक्राकार दृष्टि में भर नही पाते और बिना देखे अंधेरे में रसास्वादन अधूरा होता है। यहाँ तक कि साधारण रसास्वादन भोजन भी अंधेरे में प्रेतयुक्त माना जाता है। सच तो यह कि अंधेरे के सारे भोग, सम्पूर्ण

पचास्वादन, ही प्रेताविष्ट होते है। इसी से इस पवित्र वारिधारा के सान्निध्य में आकाश मण्डल से झरते आलोक से रंजित इस शस्यलक्ष्मी की छवि का दृष्टि-भोग मेरी आत्मा को अपूर्व समृद्धि दे देता है। कही कोई श्वापद नही, कहीं कोई अपयश नही, जी भर कर, आंख भर कर भय-मुक्त अवरोधमुक्त मन से इस छवि को देख सकते है। पुरुष इसी लिए तो पुरुष है कि वह रूप के तीर से विद्ध होता रहे। यही तो सांख्य है। पर यदि वह असली पुरुष है, तो इस तीर का जहर कण्ठ में ही रख लेता है। और तीर का सारा अमृत अपनी कण्ठ-निःसृत वाणी पर उतार देता है। इस भांति हृदय मलिन नही हो पाता, वह 'विरजम् विशुद्धम्' रह जाता है। यही योग है। असली पुरुष सांख्य और योग के इन श्रुति कुण्डलों को धारण कर के बाजार-बाजार, घाट-घाट, नदी-नदी विचरता रहता है।

गगातट की हवा ही ऐसी है कि मन युधिष्ठिर के रथ पर सवार हो जाता है और धरती से सवा हाथ ऊपर-ऊपर ही विचरण करता है, यद्यपि इस के पचास्वादन को तलाक नही देता। मैं वारिधारा के अन्दर मन्त्रगान जैसी गूँजती वीणा को सुनने में लीन था कि मेरा ध्यान ढेकी की उतरती पांतो से भग हो गया। यह ढेंको भी अजीब पखेरू है। ये दल के दल पांत बांध कर कल कूजन करती हुई, बातचीत करती हुई, छन्दोबद्ध ढग से चलती है, तो लगता है लडकियो के स्कूल की छोटी-छोटी बालिकाएँ चल रही हो। बलाका पर बलाका, तीन धनुपाकार पांतें आकाश मण्डल से उतर कर कगार पर बैठ जाती है। तब उन की धूसर देह धरती के रग में ऐसे छिप जाती है कि जब तक 'भर्र' से आवाज के साथ एक साथ ही उड न पडें, देखने वालो को खयाल भी नही आयेगा कि दस गज की दूरी पर कगार के माथे सौ-दो सौ पक्षीगण बैठे है। गगा तट पर ढेकियो, पेंपो, रामचिरैयों, जांघिलो, सारसो के अतिरिक्त बनैले मुर्गे, हारिल और मयूर भी पाये जाते है। अपने जिले की वाणभूमि में मयूर नही है। इसी

से अपने सीवान-मथार में आजकल प्रचण्ड विषधर तक्षक मिलते हैं। तीन वर्ष पहले जो वाढ आयी थी, उस में लगता है कि कही कोई सर्पवन कटा और वे इधर वह कर आ गये है। एक से एक पुराने स्वस्तिक-लक्षण युक्त चौडे फण वाले विषधर व्याल वाग-बगीचे, खेतो में यदा-कदा दिखाई पड जाते है। पता नही क्यो, तमिल कवियो ने नारी की जाँघो को "व्यालफणोपम विस्तृत" कह कर वर्णित किया है, भयंकरता के सन्दर्भ में नही, मोहकता के सन्दर्भ में। इन से भयकर तो सृष्टि में और कुछ है ही नही। ये अपना पापमुख विवर में छिपाये रहते है, ईमान जैसी साफ धूप में निकलने का साहस इन में नहीं। ये जिधर से निकलते है, पंख-पखेरू, मैना और सुग्गे शोर मचाने लगते है। "देखो, देखो, वह महापापी जा रहा है!" और ये फिर खर-पात में अपना मुँह छिपा लेते है। यदि कही से दो-चार मयूर-मिथुन आ जाते, तो हमारे शोश का यह पाप कटता और गगा तट भी श्रीकृष्ण-रूप हो उठता, मनोहर मनोरम—"वर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णो" की तरह।

सुनता हूँ, उत्तरी भागो में गंगा तट मोरो से भरा है और उन के नृत्य-कलाप से तट रंग-बिरंग बना रहता है। अपने गगा तट के शृंगार तो मूलत तीन पक्षी है ढेंको, सारस और सब से बढ कर चक्रवाको के मिथुन। दो जोडे, चार जोडे यत्र-तत्र-सर्वत्र दिखाई पडते है। ये दिन में जोडे-जोडे तैरते है, रात में इस पार से उस पार करुण कण्ठ से परस्पर पुकारते है, एक जमाना था, जब मैं भी चक्रवाकों की मण्डली के मध्य द्वितीय सुपर्ण[१] की तरह सारे प्रणय व्यापार के एक निर्लिप्त साक्षी का जीवन जी रहा था—ये चक्रवाक परस्पर लाइब्रेरी या क्लास-रूम में आँखे भर-भर कर देखते थे। शाम को यहाँ-वहाँ मिल भी लेते थे। पर विरह की भारी

---

१ द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परिषस्वजाते। तयोरन्य पिप्पलस्वाद्वत्त्य-नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति"—श्वेताश्वतर उपनिषद्।

पहाड सी रात अकेले दूर-दूर काटने के लिए अभिशप्त थे। उन के दोनों कगारों के बीच अर्थव्यवस्था और मनुस्मृति की वैतरणी बहा करती थी। नदी पतली थी। महज एक पग चौडी धार! पर वे चक्रवाक ही कायर थे। अपनी कायरता के मारे दुख पिप्पल का भक्षण कर रहे थे और मुझे उन का साथी, उन का द्वितीय सुपर्ण होने के कारण साक्ष्य के द्वारा इन्हें देखना-भोगना पडता था, तटस्थ रह कर भी भावानुप्रवेश में जाना पडता था और लगता है कि 'नायक' के रूप में नहीं, उस की बहादुरी के साक्षी के रूप में जीने के लिए ही मैं पैदा हुआ हूं। पहले मित्रों के काम, क्रोध, लोभ का साक्षी था। अब इतिहास-चक्र के काम, क्रोध, लोभ का साक्षी हूं।

पानी की छपाछप के पास जहां ये पखेरू उड-उड कर जाते हैं, निषादों ने 'बोरो' धान छींट दिया है। बिना किसी मेहनत-मरम्मत के यह फसल तैयार हो गयी है। मुझे लगता है कि इतिहासकारों ने सृष्टि के जिस आदि धान को प्रथम-प्रथम गंगा की घाटी में अपनेआप जन्म लेते हुए वर्णित किया है वह 'बोरो' जैसा ही जंगली धान रहा होगा। अंगरेज भारतीय विद्याविद् ए एल बाशम ने भारत द्वारा मनुष्य जाति को दिये गये दानों की सूची में बौद्ध धर्म, सुदूर एशियाई सभ्यता, अंक-विद्या, शतरंज (पासे का द्यूत), रुई, मसाला, चीनी और ईख के साथ-साथ "सब से बढ कर चावल" की चर्चा की है। यह धान प्रथम-प्रथम ईश्वर के आशीर्वाद की तरह गंगा के तट पर जन्मा। वेदों में धान की दो फसलों की चर्चा है दक्षिणायण सूर्य के काल में 'व्रीहि' और उत्तरायण सूर्य के समय 'शालि'। व्रीहि की फसल में ही आहू (असम), सेरासांठी (उत्तर प्रदेश) आदि धान होते हैं। सांठी का चावल सांवा (श्यामाक) की ही तरह पवित्र अन्न माना गया है। यह रूप और स्वाद में वर्तमान बोरो से भिन्न है। सांठी या 'साठी' इस का नाम इस लिए है कि यह सावन-भादो के दो मासों में, साठ दिन में तैयार हो जाता है। "सांठी-सांवा साठ दिन जो दैव बरसे रात दिन।" पर इस की पवित्रता इस बात

का सकेत करती है कि यह आदिम प्रतिष्ठित धान 'वोरो' की ही एक परिष्कृत किस्म है। आजकल का 'वोरो' 'शस्य' अर्थात् रवी की फसल है, 'व्रीहि' अर्थात् भँदई की नही। पर आदिम मेघाच्छादित वारहमासी सावन-भादो की जलवायु में जो जगली धान उपजा था, वह बहुत सम्भव है कि 'वोरो' ही था। इस का उगने में थेथर-वेहया और सर्वहारा-स्वभाव तथा नाम में ध्वनि साम्य बताता है कि इसी का कोई भाई-बन्धु आदि 'बोरो' या आदि 'व्रीहि' रहा होगा। कुछ इतिहासकारो की पहले भ्रान्त धारणा थी कि चीन देश चावल की आदिभूमि है। पर आज यह धारणा खण्डित हो चुकी है। चीन ज्वार की जन्मभूमि है। हडप्पा-मोहनजोदडो की भोजनशाला में भात, मांस, केले और मछलियाँ खूब चलते थे। गंगा की तट-भूमि पर यह आदिधान या आदिव्रीहि पहले-पहले यहाँ के 'नीओलिथिक' निवासियों द्वारा पाया गया और उन्ही के द्वारा फसल के रूप में उगाया गया। इन आदिम जातियो ने जो भारत के वर्तमान तीन उत्तराधिकारी नस्लों, द्रविड, आग्नेय (निषाद) और आर्य के पूर्व इस देश में वर्तमान थी, धान के अलावा श्यामाक (साँवा) भी उगाया तथा विश्व में सब से पहले जंगली भैसो को पकड कर पालतू और दूधारू जानवर बनाया। गाय सारी दुनिया दुहती थी, पर भैंस दुहना पहलेपहल भारतीयो ने शुरू किया है। धान्य की अन्य फसलो में ज्वार-वाजरे की जन्मभूमि है चीन देश। भुट्टे की जन्मभूमि है 'भोट' देश, जिसे भूटान कहते है। 'भोट' शब्द से ही 'भुट्टा' निकला है, पर ये आज वडी शान से हिन्दुस्तानी बन कर हमारे गाँव की वाणभूमि को वरण कर चुके है।

यह तो 'धान्य' की वात हुई। हमारी वाणभूमि के 'शस्य' की फसल में मुख्य है गेहूं। गेहूँ या गोधूम आर्यो द्वारा इस भूमि में प्रचलित हुआ है। यद्यपि आर्य मूलत. गेहूँ नही जौ खाने वाली जाति है। होमर युग के ग्रीक आर्य जौ ही ज्यादा खाते थे। भारतीय आर्य परम्परा में साठो, श्यामाक के समकक्ष जौ को पवित्र माना जाता है। ससार में गोधूम की तीन मूल

जातियां हैं, उन्ही से आगे चल कर भेद-उपभेद पैदा हुए। प्रथम है, 'एमनर'–जो नील घाटी और ईरान में प्रथम-प्रथम जन्मा था। दूसरा है, 'ईनकार्न'—जो भूमध्य सागरीय तटो पर प्रथम-प्रथम जन्मा था। ग्रीक और रोमन यही गेहूं खाते थे, जरमन-रूसी उन दिनों जई खाते थे। आज सारे यूरोप और रूस में 'ईनकार्न' की ही वंश-परम्परा उगती है। तीसरी जाति है, 'स्पेल्ट'—जो तत्कालीन भारत के अंग कुम्भा की घाटी (काबुल का इलाक़ा) और गान्धार देश में पहलेपहल उगा। इसी की बौनी क़िस्म पचनद प्रदेश में आर्यों द्वारा उगायी गयी। वैज्ञानिक लोगों ने भारतीय गेहूं की आदिम पौध को 'वामन गेहूँ' की सज्ञा दी है, जो उपयुक्त तीसरी क़िस्म गान्धारी की प्रशाखा है। इस प्रकार गेहूं की तीन आदिम क़िस्में हैं · 'एमनर' (मिश्र-ईरानी), 'ईनकार्न' (भूमध्य सागरीय) और 'स्पेल्ट' (गान्धारी)। उन दिनों जब कि आर्य यहां आये, भारत की सीमा में ही गान्धार क्या, उस से आगे कुम्भा-पार का 'उद्यान देश' भी सम्मिलित था और भारतवर्ष का नाम था 'अजनाभ वर्ष'। भारतवर्ष नाम तो चन्द्रवंशी राजाओं के उत्थान के बाद आया।

हमारे यहां इधर कुछ दिनों से गेहूं की खेती में क्रान्ति हुई है, जिसे सरकार ने वाहवाही का मुकुट अपने सिर पर बाँधने के लिए 'हरित क्रान्ति' का नाम दिया है। पर इस क्रान्ति के लिए मँहगी, अकाल और पैसे की माया का अधिक हाथ है, सरकारी अमला-तन्त्र को इस का रत्ती भर भी श्रेय नही। फिर भी 'क्रान्ति' चल रही है, यद्यपि इस का उद्देश्य लोक-सग्रह नही, लोक-शोषण है। पर पहले चक्र चालू तो हो, फिर रास्ता ठीक कर लिया जायेगा। अत आंखों के सामने नाटे-नाटे, पर बालों से लदे 'लर्मा रोहो' और 'कानपुर-अडसठ' के 'सकर' बीजों की फ़सल लहलहा रही है। देशी गेहूं से ज्यादा उत्पादन-दर वाले ये नये गेहूँ वर्ण संकर गेहूं हैं। यों दोगली चीज़ गुणवान्, मीठी और ख़ूबसूरत होती ही है। उदाहरण के लिए कलमी आम है। यद्यपि सांस्कृतिक और ऐतिहासिक विकास में

न तो कोई कुलीन है और न कोई दोगला। ये सब मिथ्या मानदण्ड हैं।

गगा की नयी मिट्टी के दियारे में एक चास जोत कर जौ छीट देने पर भी छाती भर ऊँचा जौ बढता है और दाने बडे पुष्ट और मोटे-मोटे होते हैं। हरित क्रान्ति गेहूँ के क्षेत्र में ही हुई है। पर इस का एक बुरा फल यह हुआ है कि जो बोने का शौक बाँगर और बाण—दोनो में कम होता जा रहा है। आर्यों के आदि भोजन का अस्तित्व खतरे में हैं। लगता है कि थोडे दिनों में श्यामाक-साठी आदि यज्ञान्नो की तरह यह भी दुर्लभ ही हो जायेगा। हमारे पूर्वी उत्तर प्रदेश के क्षेत्र को पहले 'बेझड' का क्षेत्र कहते थे—जौ और चने का क्षेत्र। यहाँ जौ और चने को मिश्रित रोटी खाने का रिवाज था। यदि राम की कृपा से घर पर लगहर यानी दुधारू गाय-भैंस हों, तो यह अद्वितीय भोजन है। बेझड की रोटी घी खूब सोखती है और पेट साफ रखती है एव गेहूँ से अधिक सुखाद्य, अधिक पुष्टिकर है। अफसोस, हमारे गाँव में भी अब लोग इस अद्वितीय, श्रेष्ठ भोजन को छोड कर गेहूँ-चावल आदि "नरम चारा" के शौकीन हो गये हैं। जौ या बेझड की रोटी और दूध न खा कर वार्ली की बोतल शहर से खरीद कर लाते हैं, या मक्के से बना 'हार्लिक्स' लाते है और अँगरेजी शब्दकोश दिखा देने पर भी विश्वास नही करते कि 'बार्ली' माने 'जौ'। यह जौ और बेझड की पराजय आरोग्य और सस्कृति की पराजय है। इस से भी अधिक चिन्ता की बात है, चने बोने का शौक कम होता जा रहा है। विलायती या नये गेहूँ, चने के साथ नही, एकहन यानी अमिश्र बोये जाते है। अलग से चना बोने पर प्रति एकड जितना पैदा होगा, उस से किसान को घाटा लगेगा। यह तो अपना मध्य प्रदेश है जो चने का भार सँभाल रहा है, अन्यथा सतलज और गगा के क्षेत्रो में चना दिन पर दिन कम होता जा रहा है। चना अन्नों का शाहशाह है। यह बादशाही अन्न है। भारत की सारी रंधन-संस्कृति तो बेसन और घी-चीनी तथा मसालो पर निर्भर है। इन्ही चार के द्वारा भारत का अपना रंधन-व्यक्तित्व बनता है।

आज भी अँगरेज़ी में इस का नाम 'बगाल ग्राम' है, पर इस का लैटिन नाम बडा अद्भुत है 'सिसर अरीटियम' अर्थात् 'मेप-शीश', देखने में इस की आकृति मेप या मेढे के सिर जैसी होती ही है। चने की पराजय का अर्थ है हमारी रसवती की पराजय, और हमारी रसवती की पराजय सीधे-सीधे हमारे सस्कारो पर असर डालेगी एव हमारा मानसिक और शारीरिक आरोग्य प्रभावित होगा। मानसिक और शारीरिक आरोग्य ही तो सस्कृति का लक्ष्य है। अन्यथा संस्कृति की ज़रूरत क्या थी ?

भारतीय रसवती या रधन-व्यक्तित्व का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य है दाल। दाल-भात या रोटी-दाल यही हमारा असली भोजन है। सच पूछिए तो हमारे भोजन में जो चीज़ हमें दुनिया की अन्य जातियो से अलग करती है वह है दाल। और लोग अन्न और मछली, या अन्न और मांस खाते हैं। केवल हमी अन्न से अन्न 'सीरियल' से 'सीरियल' मिश्रित कर के खाने के आदी हैं। प्रवाद है रावण की भोजनशाला में भी कोई दाल नही खाता था, विभीपण को छोड कर भला लका में कौन दाल खाता ! पर सुनता हूँ कि तिस पर भी कुछ राक्षसो की नजर पडने लगी कि भाई, राजा के छोटे भाई और प्रधान मन्त्री विभीपण के लिए यह कौन सी बढिया, सुगन्धित, सुन्दर वस्तु बनती है। फलत विभीपण को यह दृष्टि-लाछित भोजन पचता ही नही था, तो सुपेण वैद्य की सलाह से दाल में हीग भी पडने लगी। 'सूप' शब्द सस्कृत शब्द है, अर्थ होता है 'दाल'। यह शब्द 'अलकोहल' की ही तरह अरबों के माध्यम से यूरोप पहुँचा। पर यूरोप के चने के 'सूप' और हमारे गरम मसाले, किशमिश, गरी, और तेजपात तथा प्रचुर घी एवं लौंग से सुवासित चने की दाल में कोई तुलना नही। दाल का इतना महत्त्व है कि सस्कृत में रसोइयादार को 'ओदनकार' या 'पायसकार' न कह कर 'सूपकार' कहा जाता है। मेरी तो दृढ धारणा है कि भारत में कही भी कोई परिवार, चाहे धनी हो या ग़रीब, पर कितना सस्कारशील है, इस की जाँच उस की रसोई में बनी

दाल के द्वारा ही होती है। दाल या इसी का प्रतिरूप साँभर और कढी, पारिवारिक संस्कृति का थर्मामीटर है। आज भारत विभेद पर जोर दे रहा है, क्षेत्रीयता पर जोर दे रहा है, परन्तु चार चीज़ें सर्वत्र मिलती है और चारो भारत के व्यक्ति की विशेषता के मूलाधार है। वे है वेदान्त दर्शन, हिन्दी भाषा, दही और दाल। ये हर जगह है। 'दूध-भात' हमारी महत्वाकांक्षा है, पर 'दाल-भात' या 'रोटी-दाल' रोज़-रोज़ का सहज यथार्थ जीवन। जहाँ 'दाल' नही, वहाँ दाल की बेटी 'कढी' है, अथवा उस की छोटी तेज-तर्रार बहन 'साँभर' है।

गंगा तट के पीपल के नीचे भीषम अहीर के शिवालय में घण्टा-ध्वनि टनटना उठती है। लगता है कि कोई देवता ध्वनि-सकेत द्वारा मेरी बात का अनुमोदन कर रहा है। इस पवित्र क्षण में घहराती घण्टा-ध्वनि, धूप में झलमलाता रजत-प्रवाह, काशवन का जटाजूट फैलाये शिव जैसा शस्यक्षेत्र, हरित-पीत वस्त्रा सौभाग्य-पार्वती सी धरती, ये सभी मुझे उस साईं के सान्निध्य में ले जाते है, जिस ने जानबूझ कर अपनी अर्थव्यवस्था में पानी और हवा को एकदम सस्ता कर के रखा है, इतना सस्ता कि न तो इस की कोई चोरबाज़ारी ही कर सकता है और न इस के राष्ट्रीय-करण का कोई आन्दोलन ही चल सकता है और हमारे भारतीय व्यव-सायियो और भारतीय राजनीतिज्ञो को ईश्वर की इस महान् भूल पर बडा क्षोभ है। बेचारे हाथ मल-मल कर रह जाते हैं कि यह ईश्वर इतना नालायक निकला!

गौरी-मार्ग और कामुक मेघ

आषाढ लगते-लगते विन्ध्यारण्य के उस पार एक कुटुज-शोभित पर्वत-चूडा पर एक आवारा मेघ दिखाई पडा। लगता था कि वह पर्वत के सानुदेश पर जानु टेक, दाँत भिडा कर कामोन्मत्त मदस्रावी मत्तगयन्द की तरह उत्खात क्रीडा कर रहा हो। यक्ष देखते ही समझ गया कि यह किशोर मेघ है, नयी पीढी का है, बडा खेलवाडी है और निश्चय ही स्वभाव से काम-लोलुप है, क्योंकि हाथी, साँड और कामुक पुरुष, तीन को ही अखाडने में मौज मिलती है। अत यक्ष ने उसे फुसलाना शुरू किया, जिस से वह मेघ उस की प्रिया के पास सन्देश ले जाने को तैयार हो जाये। इसी से यक्ष ने ऐसा मनोरम रास्ता बताना शुरू किया, जिस में पग-पग पर नदी-कन्याएँ सम्मोहन और वशीकरण का जाल ताने खडी हों और मेघ से उन के रूप-रस के जाल में आबद्ध होने के लालच में आ कर ज्योत्स्नामयी अलका तक जाये बिना न रहा जाये।

यक्ष ने जो कुछ कहा उस में पुरानी पीढी के लोगो को कुछ अश्लील अभिव्यक्ति की गन्ध मिल जाती है और वह कोमलवपु मेघ तत्कालीन दिङ्नागों के मोटे सूँडो की चपेट से तो किसी तरह बच निकला, पर 'सरस्वती' के एक क्रुद्ध दरबान के प्राचीन सोटे का प्रहार उस की लम्पट निरकुशता पर हो ही गया। परन्तु यह सीधी सी बात तो डूब-डूब कर पानी पीने वाली चुप्पा पुरानी पीढी भी जानती है कि अश्लील वार्ता-रस दो अनजान व्यक्तियो को कितना जल्दी अन्तरग बना देता है। होटल में, सराय में, ट्रेन में दो व्यक्ति जब षट्रस वार्ता में अश्लीलता को नौ-रतन

या पंच-रतन चटनी का ज़ायका लेने लगते है, तो इतनी जल्दी एक-दूसरे के निकट आ जाते है, जैसे वे परस्पर निरावरण, परस्पर शिशु-रूप हो गये हो। और शायद यह भी एक कारण है जिस से कि पुरुष की सर्वाधिक अन्तरग वन्धु पत्नी या प्रेमिका हो जाती है। अत यक्ष ने वडी वांकी मनोवैज्ञानिक पद्धति अपना कर उस किशोर मेघ का मन अपनी मुट्ठी में करना शुरू किया।

यक्ष यदि द्विवेदीयुगीन सुधारवादी बुद्धि वाला होता तो उसे कर्त्तव्य का वार-वार स्मरण दिला कर एक 'शार्टकट' रास्ता वता देता—और मेघ वही से ईशानोन्मुख हो कर मध्य प्रदेश को फाँदता, मिर्जापुर, वाराणसी, गाज़ीपुर, वलिया, छपरा होता हुआ, उसी रास्ते से, जिस से सेठ जी का नेपाल के साथ तस्कर व्यापार होता है, काठमाण्डू को लाँघता, मानसरोवर-अलका पहुँच जाता और शीघ्र ही यक्षप्रिया के हाथो उस का प्रेम-पत्र थमा देता। पर यक्ष और मेघ—दोनो कवि ठहरे और कविता का मार्ग वह मार्ग कभी नही हो सकता, जो काले अवैध वाज़ार का मार्ग हो। कवि और कामुक का अवैध मार्ग भिन्न दिशा में चलता है। वडा ही आँका-बाँका पथ है। इधर-उधर ताक-झाँक करते, बिना किसी नियम के घाट-घाट का पानी पीते, प्रलोभन पर प्रलोभन चखते निरन्तर चलना पडता है। बीच-बीच में कही दिशापालको के दिङ्नागो का भय, तो कही पर अकारण टकराने वाले नन्दी जैसे मत्त वृषभो का भय—पर सव से बच-बचा कर कावा काटते-काटते पहुँचने वाला पहुँच ही जाता है।

यहाँ तो यक्ष और मेघ—दोनो ही कामुक और दोनो ही कवि। वे 'पूर्व मेघ' के अन्त में परस्पर एक दूसरे के अभिन्न, एक दूसरे के द्वितीय 'स्व' वन जाते है। दोनो को लगता है कि उन के अनुभव की डाल एक ही है और उस पर वे दोनो दो सुपर्ण पक्षियो-से वैठे हैं। ऊपर से मेघ भोक्ता और कामुक की भूमिका में आता है और यक्ष कवि तथा द्रष्टा की भूमिका में। पर भीतर ही भीतर वूँद-वूँद का परस्पर सम-भोग उन दोनो

यक्ष कहता है · "हे मेघ, नदी-तट पर लगे जूही के झाडो पर नन्ही-नन्ही असख्य कलियाँ छायी है। वे तुम्हारे फुहार-कण को आशा में प्रतीक्षारत हैं, जूही यो ही नन्ही सी होती है और उस की कलियाँ तो और मुनिया सी होगी। आह, वे असख्य नन्ही-मुन्नी कलियाँ तृषा से आकुल है, उन के ओठ बन्द है, आँखे मुँदी है। ओ मेघ, तुम उन पर फुहार की हलकी कोमल वर्षा करना, जिस से उन की आँखे खुल जाये, उन में प्राण संचार हो जायें. .उसी तट पर, ओ मेघ, पुष्प-वन उगा हुआ है, जिन में परिश्रम-क्लान्त मालिनें फूल लोढती है, और रह-रह कर मुख और ललाट पर आते पसीने को पोछ लेती है, फिर तुरत कार्यरत हो जाती हैं। न विश्राम है, न क्षमा है, न शान्ति है। उन के मुख मुरझा, से गये हैं। ओ मेघ, तुम वहाँ रुक कर जरा शीतल छाया देना, झिरझिर नील-निर्मल वायु के साथ, फिर उन के परिश्रम-क्लान्त चेहरे पर हलकी सी फुहार देना। आह, शीतल छाया, शीतल फुर-फुर जलकण! आह, सुख अयाचित सुख! उन के कुम्हलाये मुख कमल अचानक खिल जायेगे, उन की आंखो में चमक आ जायेगी गोया अभी-अभी उन्होंने दर्पण में अपना मुख देखा हो! एक क्षण का स्पर्श, एक मुसकान; और फिर अपना रास्ता!"

फिर यक्ष एक स्थल पर कहता है "ओ मेघ, कृष्ण नील वर्ण वाले परस्पर सटे, देवदारुओ के घनघोर वन में उन की दुकंछो डालो की परस्पर रगड से कभी-कभी भयंकर दावाग्नि प्रकट होती है, चारो ओर लपटें हा-हा कर के उठने लगती हैं, प्राण ले कर भागते पशुओ एवं छोटे-छोटे जीवो पर क्रुद्ध चिनगारी की अग्नि-वर्षा होने लगती है, सारी वनानी स्वाहा-अग्नि को पेट में चली जाती है। उस समय चँवरी गाय की दशा अति दयनीय होती है। उस की पूँछ के लम्बे-लम्बे बाल छन-छना कर जलने लगते हैं। वह विकल प्राण ले कर इधर-उधर भागती है। पर कहाँ जाये? ऐसे दग्वारण्य में, हे मेघ, तुम अपनी सहस्र वारि-

धारा से धारासार वर्षा करना और उन जलते जीवो के दग्ध तन और विकल प्राणो की रक्षा उस कालमुखी ज्वाला को शान्त कर के करना !"

और आगे चल कर यक्ष कहता है · "ओ मेघ, तुम शिव के चरण-चिह्नो से अंकित शिलाओ की परिक्रमा करते हुए पशुपति की नृत्य-भूमि में प्रवेश करना, जहाँ आकाश में सारा देवलोक उन की आरती उतार रहा होगा और भूलोक में किन्नर कण्ठो से रुद्रस्तव का गान चल रहा होगा। उस समय वातास बाँसवन के कीचक-रन्ध्रों से वशी की तान छेड़ेगा और तुम अपने गुरु गम्भीर गर्जन से कन्दर-दरी आदि को अन्तर्ध्वनित करते हुए मृदग-घोष करोगे। गन्धर्वों के गान के साथ-साथ वातास-वशी और मेघ-मृदग का सहयोग पा कर रसोन्मत्त पशुपति स्वयं नृत्य कर उठेंगे और इस प्रकार गीत-वाद्य और नृत्य तीनो के एक साथ उपस्थित होने पर 'पूर्णाग सगीत' द्वारा सारस्वत रुद्र-अर्चना एक विराट् विश्वव्यापी स्तर पर सम्पन्न हो जायेगी।"

सारा 'उत्तर मेघ' विप्रलम्भ का मुखौटा धारण किये हुए सयोग-शृंगार का काव्य है। पर 'पूर्वमेघ' का भावपट बहुरगी है और वात्सल्य करुणा तथा भक्ति के सूत्रों को भी इस की बनावट में समान निष्ठा प्राप्त है। और यक्ष की कविता का चरम आत्मिक और भावगत उत्कर्ष मिलता है और नीचे उद्धृत इस श्लोक में, जहाँ शृंगार और भक्ति अपना व्यक्तित्व खो कर प्रणय की वैष्णव प्रभा मे अपना अवसान करते हुए ज्ञात होते है :

"तस्मिन्हृत्वा भुजगवलयं शम्भुना दत्तहस्ता
क्रीडाशैले यदि च विहरेत्पादचारेण गौरी।
भङ्गीभक्त्या विरचितवपु स्तम्भितान्तर्जलौघ
सोपानस्त्व कुरु मणितटारोहणायाग्रचारी" ॥६२॥

(उस क्रीडा-शैल पर पार्वती अपने हाथो को शम्भु के सर्पवलय-विहीन हाथों में देकर प्रिय के साथ विचरण कर रही हो तो झट उन के

आगे ही पहुँच कर अपनी अन्तर की जल-राशि को स्तम्भित कर के, सीधी-वक्र भंगिमा में अपने शरीर को विभक्त कर लेना और उस अर्धनारीश्वर-दम्पति के मणितट-मय लीला शिखर के आरोहण के लिए तुम अपनेआप को सोपानोपम बना देना। तुम्हारे उस सोपान-वपु पर पैर रखते हुए शिव-पार्वती सीढी दर सीढी कैलाश की कामभूमि के लीला-शिखर पर ऊर्ध्व उठते जायेगे।)

इस श्लोक का अर्थ डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने योग-दर्शन और शिव-शक्ति-रहस्य की यौगिक व्याख्या के आधार पर प्रस्तुत किया है। 'पूर्व मेघ' में कामायित यक्ष और काम-लोलुप मेघ—दोनो कामवृत्ति के द्रष्टा और भोक्ता रूप है। अत मेघ को कामवृत्ति का प्रतीक माना जा सकता है। और यह कामवृत्ति योगारूढ देह के भीतर शिव और शक्ति के प्रति आत्मसमर्पण कर देती है, शिव-शक्ति युग्म का बोध जो सहस्रार चक्र में पहुँचने पर साधक प्राप्त करता है, काम को अस्वीकृत या दमित कर के नही, बल्कि काम की पीठ पर लीला भाव के ऊर्ध्व आरोहण का अनुभव कर के उपलब्ध होता है। वास्तव में यह 'कामाध्यात्म' पुराने योग-दर्शन के 'ज्ञानाध्यात्म' के ऊपर बीसवी शती की मानववादी चिन्ता का आरोहण है, जो अरविन्द के योग-दर्शन में मिलता है। पर इस का मूल स्रोत निगमागम शैव-दर्शन के आनन्दवाद में मिलता है। अग्रवाल जी ने श्लोक के अन्दर 'मणितट' की ओर इंगित कर के इस का सम्बन्ध श्रीविद्या, योग-दर्शन तथा आनन्दवादी शैव-दर्शन—तीनो के साथ होने का इशारा किया है। यह प्रणय के अनुभव का श्लोक नही, साधक के गहरे रहस्य बोध की अभिव्यक्ति है।

अग्रवाल जी के मतानुसार यह श्लोक अनुभूति का काव्य नही, बोध का काव्य है। कामवृत्ति ही अपने अन्तर की तरलता को स्तम्भित कर के उक्त बोध के ऊर्ध्व शिखर पर आरोहण कराने के लिए सोपान की भूमिका ग्रहण करती है। गोया यह योगाभ्यास की कविता हो।

अग्रवाल जी से पहले भी बहुतों ने 'मेघदूत' का दार्शनिक अर्थ निकाला है। प्राय ही 'मेघदूत' की वेदान्ती व्याख्या करने का प्रयास चलता रहता है। पर ऐसी व्याख्याएँ चाहे वे निगमागम शैव सिद्धान्त और श्रीविद्या पर आधारित हो, या शकर के मायावाद पर, 'मेघदूत' का अवमूल्यन ही करती है। ये व्याख्याएँ इस काव्य का गोत्र-परिवर्तन करने के लिए इस को किसी दार्शनिक चिन्ता की शाखा पर रोपना चाहती हैं, जिस से इस का मात्र बादरायण-सम्बन्ध ही ठहर सकता है। आखिर यह खीचतान, यह द्रविड प्राणायाम किस लाभ के लिए किया जाता है? एक सुन्दर चन्द्रोपम चेहरे को सूची-कर्म-ग्रथित ज्ञान गुदडी से ढकने के लिए? आलोचक सौन्दर्य का अनावरण या उद्घाटन करता है, न कि उसे और नयी चिन्ता की रजाई ओढाता है। एक ओर तो ये नये-पुराने ऋषिगण हैं और दूसरी ओर हैं नयीदृष्टि-सम्पन्न बुद्धिजीवी, जिन्हें कविता के सौन्दर्य का उद्घाटन तब तक पूरा नही जँचता, जब तक उस का सम्पूर्ण चीरहरण न कर लिया जाये। फलत यदि पहले वर्ग की व्याख्या ऊटपटाँग होती है, तो इस वर्ग की व्याख्या फूहड श्रेणी में चली जाती है। इन के मतानुसार उक्त श्लोक क्या समूचा 'मेघदूत' दमित वासना की अभिव्यक्ति है—यक्ष की काम-तृषा 'लिबिडो' का एक रूपान्तर मात्र है। उस की अतृप्त रमण-तृषा उस की उत्कट लालसा सर्वत्र अधर, स्तन, भ्रूभग और रति-सकेत ही देखती है। 'मेघदूत' उसी का प्रत्यक्ष रूपान्तर है। यानी यह एक व्यभिचार-काव्य है।

इतना तो मैं स्वय मानता हूँ कि मेघदूत विप्रलम्भ के मुखोश में सयोग शृंगार का काव्य है। यह विरह काव्य नही। पर इसे 'लिबिडो'-काव्य मानने को मै तैयार नही। यह वस्तुत एक श्रेष्ठ प्रणय काव्य है। इस में प्रणय का सरस और सहज रूप मिलता है, गलित 'ऐब्नार्मल' रूप 'लिबिडो' इस में अनुपस्थित है। 'पूर्व मेघ' का कैनवास इतना खुला और विस्तृत है कि 'लिबिडो' का प्रवेश असम्भावित है। 'लिबिडो' के लिए

ऐसी 'थीम' चाहिए, जिस में कक्ष-बद्धता और अन्धकार का अनुभव हो (उदाहरण के लिए एक वेश्यालय का नैश वातावरण)। पर 'पूर्व मेघ' के खुले आदिगन्तव्यापी कैनवास और 'उत्तर मेघ' के नित्य ज्योत्स्ना लोक में ऐसी आत्मक्षयिष्णु कामना के उदित होने का अवसर कहां ? कवि नदी-नदी, तट-तट, पर्वत-पर्वत पर विचरते मृगों-मयूरों और हाथियों तथा वृक्ष-वृक्ष से बजती वातासवीणा के माध्यम से जो चित्र खींचता है, उस में विश्वव्यापी प्रणय का आस्वादन और सृष्टि की सरसता—ये ही दो भाव मुख्यत उपलब्ध होते हैं। इस प्रणय और सरसता के वातावरण में मुझे तो वैष्णवों का लीला रस नजर आता है, क्योंकि मेरे पास न तो ज्ञान-गुदड़ी है और न दृष्टि-सम्भोग की अहरह तृषा है।

इधर एक बंगाली पण्डित श्री पार्वतीनन्दन भट्टाचार्य ने इस श्लोक पर गौडीय वैष्णव रस दृष्टि से कुछ प्रकाश डाला है। वैष्णवों का दर्शन है लीलावाद। यह दर्शन होते हुए भी स्वभावत एक कविता है। इस के अनुसार सारी सृष्टि ही प्रणय या रस-लीला का काव्य है। इसी से इस के परिवेश में आ कर 'मेघदूत' का काव्य-सौन्दर्य विकृत नहीं होता, बल्कि भाव के नीर में स्नान करा कर के उस के श्रीअंगों पर चन्दन-विलेपन हो जाता है और मुखमण्डल पर पत्र-रचना हो जाती है। वैष्णव रस दृष्टि से सम्पृक्त 'मूड' में जब मैं इस श्लोक को पढ़ता हूं तो मुझे भी श्री भट्टाचार्य की तरह जयदेव और विद्यापति स्मरण हो आते हैं, परन्तु मात्र संयोग शृंगार के सन्दर्भ में ही। 'मेघदूत' पढ़ते समय वैष्णवों के महत्तर अश्रु-सिंचित विरह काव्य का, सूरदास और चण्डीदास का स्मरण नहीं हो पाता। जयदेव संयोग शृंगार के कवि थे। उन की सिसृक्षा भी कालिदास-काव्य का ही सतीर्थ है। अत स्वाभाविक ही है कि किसी को उक्त उद्धृत श्लोक का भावचित्र मन में आंकते समय "स्मरगरल खण्डनम् मम शिरसि मण्डनम् देहि पद पल्लवमुदारम्" की याद आ

जाये। कृष्ण ने राधा से अपने ललाट पर पद पल्लव की याचना की थी, तो यहां पार्वती का हाथ पकड़ कर शिव उन्हें [illegible] का आरोहण करा रहे हैं। यह [illegible] का मेघ सोपान है। प्रियतमा कहीं फिसल न जाये, वह कहीं गिर न पड़े, आल्हाद से अनुनय विनय कर उस का हाथ पकड़ कर धीरे-धीरे, स्तर प्रति स्तर, ले जा रहे हैं। इसी से शिव कोमलतापूर्वक उस के पाणि-पल्लव को ग्रहण कर लेते हैं। फर्क यही है कि इस बार "देहि पद पल्लवमुदारम्" के स्थान पर "देहि कर पल्लवमुदारम्" है।

इस श्लोक को पढ़ते समय लगता है कि कल्पना के चीड़ देव वन में अचानक वृन्दावन उग गया है और परस्पर से [illegible] तथा "देहि करपल्लवमुदारम्" व्यक्त हो रहा है। प्रिया का संग, उस की उपस्थिति ही अपूर्व स्नान है। यह भाव है, निरन्तर अपूर्व अमृत की धारा में हमारा रूपान्तर कर रही है, परस्पर देखते, परस्पर एक दूसरे के मन का सम-भोग करते हुए क्षण-प्रति-क्षण जीवन स्वादिष्ट बन रहा है। और फिर शिव जैसे प्रेमी के लिए जिन्होंने मृत हो जाने पर भी प्रियतमा को हृदय से लगाये रखा और नदी, वन, पहाड़ उन्मत्त से घूमते रहे, यह कितना सार्थक श्लोक है! वधू के प्रति इतना अतुलनीय प्रेम, परस्पर अनुराग की अनिर्वचनीय स्थिति, जीवन को नख-शिख परस्पर सम्मिलित कर लेना इस अर्धनारीश्वर को छोड़ कर अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। और इतना परस्पर संयुक्त रहने पर भी इन का प्रणय दंशित या दूषित नहीं होता। यह अतीन्द्रिय स्तर की अनुभूति बन कर सनातन रूप में सारी लीला के मध्य वर्तमान है। एक संस्कृत कवि ने शिव के वधू के प्रति उत्कट प्रेम और साथ ही अतीन्द्रिय प्रणय का चित्र एक श्लोक में बड़े ही सफल ढंग से व्यक्त किया है:

"अच्छिन्नमेखलमलब्धदृढोपगूढ-
मप्राप्तचुम्बनमवीक्षितवक्त्रकान्ति ।

कान्ताविमिश्रवपुष. कृतविप्रलम्भ-

सयोगसख्यमिव पातु वपु पुरारे" ॥

(कान्ता वपु के साथ नित्य संयुक्त होते हुए भी जो अर्धनारीश्वर अछिन्न मेखला, अप्राप्त चुम्बन, अलब्ध दृढ आलिंगन, और मुख श्री परस्पर अन-निहारे—अवीक्षित—रह जाते है, वे संयोग-विप्रलम्भ का साथ-साथ आस्वादन करने वाले शिव मेरे शरीर को पवित्र करे ।)

प्रिय और प्रिया साथ-साथ ही नही, परस्पर अमिश्र रूप से अन्तर्मुक्त हो गये है, पर स्थिति ऐसी है कि इस अर्धनारीश्वर रूप में न तो परस्पर मुख निहारना सम्भव है, न परस्पर चुम्बन और न परस्पर दृढ आलिंगन, मेखला-छिन्न स्थिति का तो कोई प्रश्न ही नही उठता। यह श्लोक प्रणय-आस्वादन के चरम शिखर बिन्दु का चित्र देता हैं। 'मेघदूत' का श्लोक इसी शिखर बिन्दु की ओर ऊर्ध्व आरोहण की आरम्भिक अवस्था का एक चित्र है। श्याममेघ की सीढी शिखर के पाद-मूल से परम पद तक लग गयी है, जिस पर यत्र-यत्र हँसी और व्रीडा के तोरण द्वार बने हैं। शिव-पार्वती आरोहण कर रहे हैं। पार्वती एक मुग्धा किशोरी नायिका हैं षोडशी, पूर्णिमा रूपिणी चन्द्रोपम नायिका। 'आह, मैं गिरी!' कहती हुई लाज तथा भय से कम्पित पग रखते हुए प्रणय-आस्वादन के इस पिच्छिल सोपान पर वह धीरे-धीरे उठ रही है। 'अपना हाथ दो न! देहि कर पल्लवमुदारम्।' आँखे मिलती है, हँसी की आभा फूटती है, आंखे नीचे होती हैं, चेहरा लाल होता है और पार्वती शिव के भुजग-मुक्त हाथो में अपना हाथ दे देती हैं। भुजंग रति-लम्पटता का प्रतीक है। सम्राट् हर्ष ने बाणभट्ट से पहली बार मिलने पर ही उन का चेहरा देख कर कह दिया था, 'महान् अय भुजंग.' यह भारी अंगना अर्थात् नारीभोगी या अगभोगी है। अत भुजंग रहित, यानी रक्तिम वासना से मुक्त हाथो को शिव बढा कर कहते हैं: 'देहि कर पल्लवमुदारम्' और वे दोनो परस्पर निहारते, परस्पर स्निग्ध

राघवः करुणो रसः

नये साहित्य में करुण रस की नवीनतम स्थिति है : निर्वासन। नये साहित्य में निर्वासन-भाव का स्वतन्त्र विकास इस रूप में हो रहा है कि यह स्थायी भाव जैसा बन गया है। ऐसी हालत में एक स्वतन्त्र 'निर्वासन-रस' की कल्पना कर ली जाये, तो भी कोई हर्ज नहीं। यह मात्र साहित्यिक व्यथा नहीं है। विश्व-स्तर पर आज मनुष्य इस निर्वासन-व्यथा को वास्तविक रूप में भोग रहा है। यह तथ्य है। यह सही है कि इस का जो रूप अर्थ-काम के अति सुख से उत्पीडित अमरीका में है, वही रूप त्रास और दैन्य से पीडित पश्चिमी यूरोप में नहीं है। रूस, चीन या तिब्बत में तो इस निर्वासन की विधा ही बिलकुल अलग किस्म की है। पर किसी न किसी रूप में मनुष्य (अर्थात् उस का सजीव रूप 'व्यक्ति') सर्वत्र निर्वासन भोग रहा है। हिन्दुस्तान में यह उतने व्यापक तौर पर भले ही न हो, पर है यह जरूर। सुबूत के तौर पर शरणार्थियों, विस्थापितों, पुराने ईमानदार कांग्रेसियों, आदर्शवादी बुद्धिजीवियों, नवबोध प्राप्त विश्वविद्यालय स्तर के छात्रों, आदर्शवादी पार्टी-कर्मियों (चाहे जो पार्टी हो, या जो आदर्श हो), अल्पसंख्यक ईमानदार अफसरों आदि के हृदय में प्रवेश कर के देखें, तो पता चलेगा कि सभी अपनेआप को अपने परिवेश से, एवं आसपास से निर्वासित अनुभव कर रहे हैं। कारण विभिन्न हैं, वस्तुस्थितियाँ विभिन्न हैं, पर शाप एक ही है, जो सब के शीश पर प्रेत की तरह मँडरा रहा है। इन में भी जो निर्वासन के साथ-साथ बौद्धिक 'अजनबीपन' के शिकार हैं (यद्यपि अपने देश में ऐसे बहुत कम

है) उन की यातना दुहरी भयावह है।

यहाँ पर हम समस्या को विश्व-स्तर पर ले रहे हैं। नया मनुष्य अकारण निर्वासित है, ऐतिहासिक शक्तियों द्वारा। इस पीढी का कोई अपराध नही। ऐसे अकारण निर्वासन का उदाहरण 'रामायण' में भी है। राम उसी तरह अकारण निर्वासित हुए थे, जैसे आज का नया मनुष्य। स्थिति दोनो की एक है। दोनों निरपराध हैं। पर परिवेश की सतही समानता के बावजूद अपने-अपने सन्दर्भ में उन की प्रतिक्रिया समानधर्मी नही होती है। राम का व्यक्तित्व निर्वासन-सन्दर्भ के भीतर जैसी प्रतिक्रिया करता है, वैसा नये मनुष्य का व्यक्तित्व नही। यहाँ पर हम राम के व्यक्तित्व के कुछ पहलुओ की चर्चा इस निर्वासन के सन्दर्भ में रख कर प्रस्तुत कर रहे हैं।

राम के निर्वासन का चरम रूप सीताहरण के पश्चात् और लका-अभियान के पूर्व के मध्यान्तर में मिलता है। इस मे भी 'किष्किन्धा काण्ड' के भीतर सुग्रीव-अभिषेक के बाद माल्यवत-शिखर पर विताये गये कुछ मास निर्वासन और निस्संगता को तीव्रतम स्थिति है। मन बालि-वध की उत्तेजना से पीडित है। नूपुर और वस्त्र देख कर उन्हें अन्दाज हो गया है कि उन का शत्रु रावण ही है। जटायु ने भी यही सूचना दी थी। अत महाप्रतापशाली शत्रु की चिन्ता, अपने अकेलेपन और असहायता का बोध, बालि-वध को उत्तेजना, मैथिली के प्रति करुणा, और अनिश्चित भविष्य की चिन्ता तो थी ही। ऊपर से वर्षाकाल आ जाने से कोई भी प्रयत्न नही किया जा सकता। शरद् के आगमन की प्रतीक्षा करो। तब तक निष्क्रिय बैठे रहो और कातरतावश अपना आत्मक्षय करो। इस मन स्थिति में ही राम का धीर-गम्भीर और करुण-श्यामल रूप दुख के अन्धकार के भीतर से फूटता है। यह रूप और यह आत्म-सघर्ष वाल्मीकि और तुलसीदास ने वर्षा-वर्णन और शरद्-वर्णन के माध्यम से प्रस्फुटित किया है। वाल्मीकि के वर्णन में आत्मसंघर्ष की ही प्रधानता है। उन का

वर्षा-वर्णन नायक की व्यथा और उस की सहज धीरता, उस की काम-कातरता और उस के शान्त सौन्दर्यबोध का घोर अन्तर्द्वन्द्व प्रस्तुत करता है। ऐसा लगता है कि राम अपनी उत्तेजना को प्रकृति के शान्त सौन्दर्य-बोध में डुबो कर एक शान्त बिन्दु पाने का दुर्निवार प्रयत्न कर रहे हैं। वाल्मीकि ने यह दिखाया है कि यह असह्य दुख मिट नही पाता। इसे भोगने के अतिरिक्त कोई चारा नही, कोई विकल्प नही। लीला का जन्म ही भोगने के लिए होता है। उन के शरद्-वर्णन में चल कर यह उत्तेजना और तीव्र हो गयी है। परन्तु तुलसी का बोध अलग है। उन की उदात्त धीरता को वे शरद्-वर्णन तक ले जाते-जाते इस आत्मसंघर्ष में जयी बना देते हैं और उन का मन शान्त, स्थिर और सबल हो जाता है।

क्षितिज के शिखरो पर मेघो की नील सोपान पंक्ति खडी है, नील अम्बर तक आरोहण करने के लिए। राम प्रारम्भ में ही कहते हैं, लक्ष्मण, देखो,

> सन्ध्यारागोत्थितैस्ताम्रैरन्तेष्वपि च पाण्डुभि ।
> स्निग्धैरभ्रपटच्छेदैर्बद्धव्रणमिवाम्बरम् ॥
> मन्दमारुतनि श्वास सन्ध्याचन्दनरञ्जितम् ।
> आपाण्डु जलद भाति कामातुरमिवाम्बरम् ॥
> एषा धर्मपरिक्लिष्टा नववारिपरिप्लुता ।
> सीतेव शोकसंतप्ता मही बाष्पं विमुञ्चति ॥

(सन्ध्या के कारण आकाश का रंग ताम्रवर्णी और पाण्डुर है। लगता है कि आकाश के हृदय में भी घाव है और भीगे बादलों को पट्टी उस पर बँधी है। सन्ध्या चन्दन से चर्चित पाण्डुरवर्णी बादलो वाला आकाश कामातुर सा लगता है, जिस का चेहरा पीला पड गया है और मन्द मारुत जिस की कामोत्तेजना का निश्वास है। तेज धूप से पीडित नये जल से सींची धरती से वाष्प उठ रही है, जैसे यह शोक-सन्तप्त सीता हो।)—किष्किन्धा काण्ड, सर्ग २७।

राम अपने अन्तर के घाव को विश्व प्रकृति के हृदय में ('वद्ध-व्रणमिवाम्वरम्') पाते हैं और यह घाव तब और रिस उठता है, जब नील मेघ में दामिनी दमकती है। उन्हें लगता है, मानो रावण के अक में कातर तपस्विनी वैदेही हो। वे फिर कहते हैं "हे सौमित्र, पर्वत के सानु पर फूले हुए कुटजों को देखो। ये मेरे शोकाभिभूत मन में काम-सन्दीपनार्थ पुष्पित हो रहे हैं।" इस के बाद छन्द बदल जाता है और एक से एक कोमल और संगीतमय चित्र आते हैं। पर असह्य दुख की अन्तर्धारा सारी कोमलता को भेद कर प्रतापशाली शत्रु की चिन्ता के रूप में आ जाती है और फिर शोक और कातरता का अनुष्टुप् छन्द लौट आता है। यह दुख प्रेमिका के लिए रीतिबद्ध नागर का दुख नही है। यह 'तपस्विनी वैदेही' 'पवित्र मैथिली' की कातर अवस्था के प्रति करुणा अधिक है और व्यक्तिगत निजी काम-व्यथा कम। यह पवित्रता और सौन्दर्य के आहत होने पर बोध किया गया एक विश्वव्यापी दुख है। इस दुख को राम कातर रूमानी नायक की तरह नही वहन करते हैं। वे धीरता के समुद्र हैं और दुख उन्हें उद्धार की चिन्ता की ओर प्रेरित करता है। यद्यपि दुख असह्य है और उन के व्यक्तित्व का एक अश उसे अहर्निश भोग रहा है। इस नियति से कोई मुक्ति नही, कोई क्षमा नही। कोई शान्त विन्दु नही।

पर तुलसी इस यातनामय निर्वासन और आत्मसघर्ष के बीच से नायक को शान्त बिन्दु की ओर ले गये हैं। उन के 'नीलाम्बुज श्यामल कोमल' राम के व्यक्तित्व की जड़ें अगाध धीरता के समुद्र में हैं। उन्होने उत्तेजना और आत्मसघर्ष से शान्त बिन्दु तक की मानसिक प्रक्रिया को मूलत चार स्तरो मे विभाजित किया है। उत्तेजना के प्रथम आघात से जब वे दीन भाव से "हे खगमृग, हे मधुकर श्रेणी" आदि कहते हैं, तो लगता है कि उन का व्यक्तित्व टूट-टूट कर बिखर जायेगा। पर भीतर ही भीतर अमृत और प्राण की शक्तियाँ सक्रिय हैं। फिर वसन्त आता है।

सारा वन कुसुमित हो उठता है। काम के तीरो से तरु-लता तथा, सारी सृष्टि, पीड़ित और उल्लसित है। यह पीडा राम भी भोगते हैं, पर उन के भीतर का देवता, उन का सहज पुनीत मन, 'अनासक्ति के अमृत से उस यातना को सींच कर ठण्डा कर रहा है। एक ओर कामना तीव्र है, तो दूसरी ओर वैराग्य का स्वर भी सक्रिय है। जो आत्मसंघर्ष वाल्मीकि के वर्षा-वर्णन में है, वह तुलसी के वसन्त-वर्णन (अरण्यकाण्ड) में है। कल्याण के कल्पवृक्ष स्वरूप नारद का प्रवेश इसी सघर्ष-भूमि में आ कर वैराग्य और अनासक्ति के वातावरण को और सबल बना देता है। फिर पम्पासर आते हैं। बालि का वध करते है। रावण जैसे शत्रु को चिन्ता, अनिश्चित भविष्य तथा निष्क्रिय स्थिति की पीडा के सन्दर्भ में वर्षा आती है। पर उत्तेजना का पर्याप्त अवसर होने पर भी मन सहज धीरता की स्थिति में है। "प्रियाहीन डरपत मन मोरा" कह कर अन्तर की सतत जागरूक व्यथा का एक सकेत मात्र कर देते हैं। अब वे प्रथम अवस्था की तरह कातर और कमजोर नही हैं। मयूर नृत्य और मेघ गर्जन से प्रिया की याद आती है। पर वे उत्तेजना को प्रकृति के शान्त सतोगुणी सौन्दर्य में लीन कर देते हैं। सारी मानसिक भूमि अचानक हरी-भरी और नील-रमणीय हो उठती हैं। दुख और उत्तेजना शान्तसौन्दर्य में स्नान कर के शुद्ध हो चुके हैं। प्रकृति के कोमल चित्रो से सरल, सादे नागरिक विदग्ध-ताहीन, सतोगुणी संस्कार जन्म ले रहे हैं। शरद् तक आते-आते मन पूरा प्रकृतिस्थ हैं। शरद् इस समूची प्रक्रिया की अन्तिम कड़ी है, जहाँ मन पूर्ण शान्त है, जहाँ धीरता जयी हो गयी है। वे जानते हैं, शोक का समुद्र विस्तीर्ण है। पर अब वे शान्त उत्तेजनाहीन मन से उद्धार की चिन्ता करने में समर्थ हैं। वाल्मीकि का चित्र मानवीयता की दृष्टि से तुलसी से अधिक वास्तविक लगता है। पर निर्वासन के भीतर से "धीर गम्भीर स्निग्ध श्यामल" रूप तुलसी में अधिक सशक्त ढंग से अभिव्यक्त होता है। सहज सौन्दर्यबोध और सतोगुणी मन की यह विजय 'धीर-

करुण' रस के प्रतीक राघव के अधिक उपयुक्त हैं। यद्यपि दोनों चित्र मानवीय हैं, दोनों सहज हैं, पर एक है मात्र यथार्थ और दूसरा है 'अतिमापरक (ट्रान्सेण्डेण्टल) यथार्थ'। जीवन में दोनों का अस्तित्व है और दोनों वास्तविक हैं। यह और बात है कि एक की मिसालें ज्यादा मिलती हैं और दूसरे की कम। पर महिमा का जन्म दूसरे से ही होता है। राम मनुष्य की इसी महिमा के प्रतीक हैं।

नये मनुष्य के निर्वासन में शान्त सौन्दर्यबोध के इसी अमृत स्पर्श का अभाव है। ऐतिहासिक शक्तियों ने (नाज़ीवाद, कम्यूनिज़्म, महायुद्ध और विभाजन) ने उस के ऊपर जितना निर्वासन थोपा है, उस से ज्यादा उस ने स्वयं आगे बढ़ कर वरण कर लिया है। उस का 'स्व' जिस ऋत का पान कर के जी रहा है, उसी ऋत की धुरी (अर्थात् मानवीय मूल्य जिन में 'सौन्दर्य' भी एक है) उस ने छिन्न-भिन्न कर डाली है। फलत कई प्रकार के मूल्यों के प्रति एक मानसिक अवरोध (इनहिबीशन) की रचना उस ने कर ली है। शान्त सौन्दर्यबोध को 'वर्डस्वार्थियन' या 'रूमानी' कह कर तिरस्कृत करना आज का आम कायदा हो गया है। रामायणकार ने वर्षा और शरद् का वर्णन केवल महाकाव्य की परिभाषा-सम्मत परिपाटी के पालन के लिए नहीं किया है। रामायणकार यहाँ दिखाना चाहता है कि शान्त सौन्दर्यबोध से निर्वासन का विष कटता है। परिपाटी पालन के लिए तो अयोध्याकाण्ड में या सीताहरण के पूर्व भी वर्षा-वर्णन दिया जा सकता है। पर वाल्मीकि या तुलसीदास ने उपर्युक्त कारण से ही वर्षा-वर्णन को निर्वासन की तीव्रतम अवस्था के सन्दर्भ में रखा है।

निर्वासन की इस स्थिति में, आत्मक्षय और कुण्ठा से राम की रक्षा में उन के स्वभाव का एक दूसरा दिक् भी है, जिस का महत्त्व इस सौन्दर्य-बोध से अधिक है। सौन्दर्यबोध तो अवसर-जात निदान है। स्थायी निदान नहीं। स्थायी निदान है अनासक्ति या 'स्व' के प्रति तटस्थता।

राम किसी मोह से बँधे नही हैं। भरत और लक्ष्मण उन की दोनो आँखो के तारे हैं। मैथिली उन के हृदय की सहज साँस हैं। पर इतना होते हुए भी जब चरम बिन्दु आता है तो वे घोर अनासक्त हो जाते है, और किसी का भी त्याग कर सकते है। चरम बिन्दु पर उपस्थित होने पर उन के मन में न तो काम की उत्तेजना है और न क्रोध की। वे अपनेआप को ऋत चक्र के साथ एकाकार मानने लगते हैं। इसी से उन्हें दर्द नही होता, मनस्ताप नही होता, आत्मक्षय नही होता। निर्वासिन के नागदन्त विष-हीन हो जाते है। उन में सहज प्रेम है, पर आसक्ति नही। सहज प्रेम आत्मा का अमृत रस है, पर आसक्ति आत्मा का बन्धन है। वे 'रोमियो' या 'दुष्यन्त' नही। सीता को अग्नि-परीक्षा के अवसर पर स्पष्ट बता देते हैं—"मैथिली, यह युद्ध मैं ने तुम्हारे प्रति आसक्ति या कामना से नही किया। ऐसा मुझे 'करना' था, अत. मैं ने किया।" रावण का वध वे व्यक्तिगत रोष के कारण या पत्नी के उद्धार के लिए नहीं करते हैं। पत्नी-उद्धार तो निमित्त मात्र था। वास्तविक उद्देश्य था, ऋत चक्र की बिगडी गति को ठीक करना, उस की दिशा को ठीक करना। यदि 'रामायण' पत्नी-हरण और उद्धार का काव्यमात्र है तो इस का विश्वव्यापी मूल्य क्या रह गया ? यह व्यक्तिगत ट्रेजेडी और व्यक्तिगत समाधान के स्तर की चीज नही। यदि प्रिया मैथिली के प्रति आसक्ति ही इस युद्ध का कारण रहती, तो इतनी निर्विकारता से सारी व्यक्तिगत व्यथा को दबा कर मैथिली का दुबारा वे त्याग नही कर सकते थे। तथ्य तो यह है कि राम ऋत-चक्र से प्रतिबद्ध थे और यह प्रतिबद्धता जैसा आदेश देती गयी, वैसा वे स्व-निरपेक्ष ढंग से, घोर अनासक्ति के साथ करते गये। हमारे लाभ-हानि वाली सांसारिक युक्ति-युक्तता के अनुसार वे कार्य न्याय हों या अन्याय, पर उन का पाप राम को स्पर्श नही कर पाता, क्योंकि वे सारे कार्य विना काम, क्रोध, रोप, मोह के, अनासक्त ढंग से किये गये हैं। बालि का वध उन्होने अकारण ही किया। पर इस

का उन्हें जरा भी 'मनस्ताप' नही हुआ। ("न मे तत्र मनस्तापो न मन्युर्हरिपुगव .. ") यह क्यो ? भारत के बूढे कूटनीतिज्ञ राजगोपालाचारी का उत्तर है 'यह राजनीतिक आवश्यकता थी, यह एक अनिवार्यता थी।' पर उन के जैसे शील और करुणा के समुद्र को किसी का अकारण वध करने पर मनस्ताप न हो, यह असम्भव है। पर तथ्य है कि उन्हें मनस्ताप नही हुआ। क्योकि क्रोध या रोष की प्रेरणा से उन्होने मारा नही था। उन्होंने, वाल्मीकि के अनुसार, कहा है—"हे वीर, वानरश्रेष्ठ, इस समय धरती के सम्राट् भरत हैं। उन के द्वारा स्थापित और परिचालित धर्मचक्र के विपरीत तुम कार्य कर रहे थे। अत मेरा कर्त्तव्य था कि उन के विधान से भिन्न मर्यादा का निग्रह करूँ। (मैं ने किसी व्यक्तिगत कारण से तुम्हें नही मारा है)।" ऐसी घोर अनासक्ति, ऐसी घोर निर्विकारता एक मात्र 'ईश्वर' में या 'ऋत चक्र' में ही प्राप्त हो सकती है। इसी निर्विकारता, शुद्धता और इसी पाप-मुक्त मन के कारण राम को लोग ईश्वर मानते है। और कोई कारण नही। राम कर्म करते भी जाते है। पर न केवल 'कर्मफल' के प्रति, बल्कि 'कर्म' के प्रति भी निरासक्त रहते है। ऋत चक्र का जो सूत्रधार होगा, वही इतने कठोर अनुशासित ढंग से तटस्थ रह सकेगा, दूसरा नही।

१४ राम मनुष्य है। पर मनुष्यता का वरण उन्होंने उसी सीमा तक किया है, जहाँ तक 'शील' और 'करुणा' का सम्बन्ध है। 'शील' और 'करुणा' उन के व्यक्तित्व के अन्य दिक् हैं, जो मनुष्यतामुखी है। पर उन की 'स्व' से तटस्थता या अनासक्ति ईश्वरीयतामुखी है। राम के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का चरित्र वाल्मीकि से अधिक परिष्कृत ढग से तुलसीदास में मिलता है। वालि का वध उन्होने 'ऋत' को रक्षा के लिए किया। पर जरा सी कोमल वाणी सुनने पर ("प्रभु अजहूँ मैं पातकी अन्त काल गति तोरि") उन की मनुष्यता उन की निर्मम तटस्थता को दबा कर उभर आती है और वे विगलित हो जाते है। उस मरणोन्मुख योद्धा के

शीश को सहला कर कहते हैं "अचल करौं तनु, राखहु प्राना !" यह है उन का करुणामय रूप। 'घोर गम्भीर' के साथ-साथ 'स्निग्ध, करुण, श्यामल'। यह उन के व्यक्तित्व की अद्‌भुत विशेषता है। पर निर्वासन की समस्या के सन्दर्भ में हमारा तात्पर्य इस स्थल पर उन के व्यक्तित्व के पूर्वोक्त दिक 'अनासक्ति' या 'स्व' से तटस्थता से ही है।

इस के विपरीत आज के नये मनुष्य ने अपनेआप को 'स्व' की कोटर में बन्द कर लिया है। वह धुरीहीन है। उस की प्रतिवद्धता किसी से नही है। देश, राष्ट्र, समाज, परिवार, मानवीय भाव (प्रेम, करुणा, दया, अभिमान आदि) आदि से वह कट कर अलग हो कर जीना चाहता है। वह स्वय को संकुचित कर के 'स्व' के भीतर कर के, चरम निर्वासन को रसपूर्वक भोगने को सोचता है। पर राम का जो निर्वासन हुआ था, उसे 'वनवास' कहते हैं। मुक्त नील आकाश-तले, रम्य दारुण वन में, छह ऋतुओं की हवाओं के परिवेश में उन्हें निर्वासन भोगने को कहा गया था—'स्व' की कोटर में नही। दोनो स्थितियो में सतही समानता हैं, जिसे हम ने प्रारम्भ में स्थितिगत समानता कहा है। पर दोनो में मौलिक अन्तर स्पष्ट है।

फल होता है कि राम निर्वासन तो भोगते हैं, पर 'अजनबीपन' की यातना उन्हें नहीं भोगनी पडती है। मेरे एक मित्र ने एक बार सवाल उठाया 'राम और नये मनुष्य—दोनों पर अकारण निर्वासन लादा गया। पर क्या कारण है कि राम ने निर्वासन में रचना की, जब कि आज का आदमी केवल आत्मक्षय करता है ?' उत्तर निर्वासन की दोनो स्थितियों के उक्त मौलिक अन्तर में है। यह सही है कि रचना के लिए, सृष्टि के लिए, अकेलापन आवश्यक है। प्रत्येक विधाता अकेले-अकेले सृजन का कष्ट भोगता है। पर अकेलापन और चीज है, अजनबीपन और। राम की रचना-शक्ति अजनबीपन के कारण कुण्ठित नही हुई। उन से कोई अजनबी नही। निषाद, रास्ते के कोल-भील, खग-मृग, सरिता-सर,

घाट-बाट, नर-वानर उन से सभी की पहचान है। ये बे-पहचान में भी पहचान करते हैं, प्रीति करते हैं और ऐसी प्रीति कि "कीन्ह प्रीति कछु बीच न राखा।" निशिचर कामरूप होता है। स्वभाव से मायावी होता है। पर तो भी कोई हर्ज नही। वह भी अपना है। और यदि "भेद लेन पठवा दससीसा। तबहुँ कछु नहि हानि कपीसा।" पर इतना होते हुए भी वे अकेले हैं, एकदम अकेले। उस चरम बिन्दु पर लक्ष्मण भी उन के साथ नही। यह अकेलापन जाने-अनजाने लोगों के बीच, 'पद्मपत्रमिवाम्भसा'-वाला अकेलापन है। निर्वासन या अकेलापन मूलत शाप की स्थिति नही। यह शाप की स्थिति तब हो जाती है, जब इस में अजनबीपन भी आ कर जुट जाये। जब निर्वासन का अर्थ रचनाकार का 'नित्य अकेलापन' हो तो यह शाप की स्थिति नही है। पर जब निर्वासन का अर्थ विश्व से, मनुष्य से, सौन्दर्य से, अपनेआप से 'अजनबीपन' हो तो यह अवश्य ही शाप की स्थिति है। निर्वासन की ऐसी ही स्थिति को मैं हेय मानता हूँ।

राम का जीवन एक ट्रेजेडी है। किसी भी बडी महिमा की अवतारणा के लिए, किसी भी महासत्य की स्थापना के लिए, ट्रेजेडी की आवश्यकता होती है। ये महासत्य सिद्धि के पूर्व बलि माँगते है। इन का अवतरण विश्व के लिए मगलमय होता है, पर जिस के माथे ये उतरते हैं, उस को तो भोगना ही भोगना पडता है। राम को प्रारम्भ में वन में निर्वासन मिला, बाद में राजदरबार की छोटी सीमा में ही निर्वासन भोगना पडा। सीता मिली, फिर उसे त्याग देना पडा। और एक लम्बे काल तक, कम से कम लव-कुश के १२-१४ वर्ष के हो जाने तक, शासन इसी निर्मम निर्वासन की स्थिति में चलाना पडा, रामराज्य की सारी मर्यादाओ के साथ। वरण का पथ, रचना का पथ, सृष्टि का पथ, सत्य का पथ, महिमा का पथ सदा निर्जन-निस्सग होता है। उस पर नायक अकेले चलता है। साथ-साथ अदृश्य रूप में ऋत चक्र उस का सहचर होता है। राम का

समस्त जीवन इसी महासत्य की व्याख्या है। महाभारत के अन्तिम पर्व 'स्वर्गारोहण' में यही बात प्रतीक रूप में प्रस्तुत की गयी है। स्वर्ग-शिखर पर आरोहण अकेले ही हो सकता है। श्वानरूप धर्म ही उस चरम विन्दु तक साथ दे सकता है, दूसरा नहीं।

राम का जीवन साक्षात् करुण रस है। वे ईश्वर की तरह अनासक्त, तटस्थ और महिमामय हैं, तो मनुष्य की तरह 'धीर, वीर, गम्भीर' हैं; 'स्निग्ध, श्यामल, करुण' हैं। जब मैं ऐसा सोचता हूँ तो मेरे मन के अन्धकार को चीरती हुई एक छवि हठात् उगती है और मेरे अन्तर में धीरे-धीरे नील पद्म की तरह प्रस्फुटित होती है। उस नीलोत्पल के कोमल स्पर्श से मेरा अस्तित्व विगलित हो कर फिर वायवीय हो जाता है और हलका-हलका सौरभ वन कर मनोरम पम्पासर के धीर समीरण में लीन हो जाता है। तब राम के द्वारा भोगी गयी सारी व्यथा एवं उन के जीवन की सम्पूर्ण करुणा का मैं सहभोगी साक्षी वन जाता हूँ और उस क्षण भर की लघु अवधि में लगता है कि मैं भी देवता ही हूँ।

●

चित्र-विचित्र

अब निर्मल ऋतु आ गयी। पूरे पावस भर मेरा मन हवाओ को रग-बिरंगी चित्रसारी पहनाता रहा। पर वे हवाएँ, वे पावस की लीलावधुएँ अपनी अलका को लौट गयी और अब धरती पर नयी हवाओ का जन्म हुआ है। नग्न, निरावरण, शिशुओं जैसी चपल और मुक्त हवाएँ। मेरा मन एक अनजाने विमल स्नेह से स्वय ही पारदर्शक हो उठा, मैं ने एक निराभरण तलदर्शी विमलता और प्रसन्नता का अनुभव किया, और मुझे लगा कि 'प्रसन्न' शब्द का अर्थ 'तरल और तलदर्शी' बिलकुल सटीक है। इसी से जिस गद्य को पढते ही पढते अनुभव हो कि यद्यपि भाव बडा ही गम्भीर है, पर अर्थ पढते-पढते हो स्वत स्पष्ट हो उठता है उसे 'निर्मल प्रसन्न गद्य' कहते हैं। ऐसा प्रसादयुक्त गद्य भगवत्पाद शकराचार्य का है। शरद् की इस प्रसन्न और अगाध निर्मलता के अन्दर मैं ने इस अर्थ को मति और धृति ही नही, देह और मन के स्तर पर भी अनुभूत किया।

शरदागम के साथ ही, आदिगन्त अगाध निर्मलता छा गयी। आकाश में अगस्त्य नक्षत्र का उदय हुआ और उस के समुद्र-सोखी स्वभाव ने घाट-बाट से जल के सारे अतिचार को सोख लिया। न नीचे कीच-काच और न ऊपर मेघ-पक। इसी काल के शुभारम्भ में देवी के ध्यानस्थ नयन-पल्लवो वाली मुख-मुद्रा का उदय आकाश के हृदय-मध्य हुआ। राम ने पहले वन में झरती शेफाली की श्वेत-कुसम्भी अजलि दी, फिर काश-गुच्छ का श्वेत चामर डुलाया, फिर मर्दित कच्ची घास के परिमल से, पकते धान की गुरुपाक भरी गन्ध से, बाग-बगीचे में फूलती तगर की भीनी

सुवास से उन्होंने देवी की गन्ध-पूजा की; फिर खेत-खलिहान-जंगल में व्याप्त स्वरों के मंगलाचार से राम ने देवी का स्तोत्र-गान किया। इस प्रकार इन सारे अनुपम, अद्वितीय माध्यमो से राम ने देवी को रूप, गन्ध और गान समर्पित किया और देवी भी हस्त-नक्षत्र मण्डल पर सवार हो कर आकाश से उतरीं और राम के अकाल वोधन को स्वीकृत करती हुई, स्नेह-अवरुद्ध कण्ठ से "मैं पुन. आऊँगी, मैं वार-वार आऊँगी, मैं आ कर फिर तुम्हें देख जाऊँगी !" कहती हुई दशमी तिथि को पुनः नील व्योम में लीन हो गयी और धरती पर रह गया उन का आशीर्वाद। वही आशीष पल्लवित-पुष्पित और फलित होगा चित्रा, स्वाति और विशाखा वन कर।

पहले चित्रा की वय सन्धि और रूप-आतप, फिर स्वाति का पूर्वराग और अन्त में विशाखा का समर्पण और महाभाव। इसी तरह शरद् की वीणा पर रसो का रस यह महारस स्थायी-अन्तरा के साथ प्रतिवर्ष वज उठता है। और इसी तरह राम प्रति वर्ष तृप्त और सफलकाम होते है। दरअसल यह रूपसी चित्रा, यह मुग्धा स्वाति, यह विरजा विशाखा और कोई नही, ये राम की मैथिली के ही भिन्न-भिन्न चेहरे हैं, जो पंकिल वासना द्वारा मेघो के जगल में अपहृत और अवरुद्ध हो गये थे। वही विरजा भूमि श्री अर्थात् मैथिली अब अवरोध-मुक्त हो कर शरद् लक्ष्मी वन कर धरती पर आ गयी है। हमें लगा कि वाहर-वाहर व्याप्त निरुजता-निर्मलता आँखो में उतरी है और दृष्टि वन कर निरुज-विरज नीलव्योम में विहार करने लगी है। हम सव ने देवी के आशीर्वाद-तरु को इस प्रकार फलता देख कर अपनेआप को धन्य माना। मैं ने इस सारे लीला-प्रवाह को प्रथम अक से अन्तिम अक तक अपने वातायन से, वरामदे से, पगला दह नदी की रेती से, पश्चिम के आम्रवन से, पूरव के चण्डीथान से, जंगल-पहाड चीरती रेल की खिडकी से, नदी-वक्ष पर तिरती नौका से और भीतर की समय-असमय जाग्रत् मनोभूमि से, तन्ह-

तरह की स्थितियो में अपनेआप को प्रतिष्ठित कर के, एक वार, दो वार नही, छत्तीस वार देखा हूँ और कभी भी इस लीला से अपनेआप को छत्तीस अर्थात् मुख मोडे विरक्त नही रखा। और कौन जानता है कि इस अनुभव में अभी और कितनी वार रत और अनुरक्त होऊँगा। पुराने हिन्दुस्तान में रहता तो कह देता . 'सौ वार देखूँगा। जीवेम शरद शतम्'। परन्तु इस नये हिन्दुस्तान में शरद् लीला का उदात्त आस्वादन कितनी वार सम्भव है, इस पर तो वस 'समुझि मनहिं मन रहिए!'

चित्रा, स्वाति और विशाखा, शरद् लीला की मुख्य भावभूमियाँ— ये तीन ही हैं। यों इन के पूर्व आधा-तिहाई उत्तरा फाल्गुनी और पूरा-पूरा हस्ता भी आती हैं जो शरद् के ही अन्तर्गत हैं। इन के वाद आती हैं ये तीनो चित्रा, स्वाति और विशाखा। विशाखा का अन्तिम चरण शिशिर में स्थित है। काश-गुच्छ तो उत्तरा फाल्गुनी से ही फूटने लगते हैं। खजन का आगमन उत्तरा फाल्गुनी में ही हो जाता हैं। मयूर अपने पख-कलाप का उत्तरा फाल्गुनी में ही परित्याग करना आरम्भ कर देता है क्योंकि शरद् उस का वानप्रस्थ काल है। मरालयूथ अवश्य कुछ देर से आते है, पर चित्रा-पूर्व वे भी हाज़िर हो जाते हैं। लोमडी की वोली, जो पावस के भैरव घोष से दवी हुई थी, हस्ता में ही उच्चारित होने लगती है। शृगाल चतुर्वेदी भादों में भी वोलते थे पर मेघ-गर्जन के सम्मुख ज़रा दवक कर। वाढ-वन्या में वेचारे का घर-द्वार ही नष्ट हो गया था तो काव्य-चर्चा कहाँ करें और कैसे करें। तव तो सिर छिपाने को जगह पाना ही मुश्किल था। अव ज़रा फांक मिली है तो साहित्यिक मनोविनोद और शरद्-गोष्ठी रचाने का कार्यक्रम वना रहे है। भाद्रपद की पूर्णिमा को ही चन्द्रमयी ज्योत्सना में उन का ललित काव्य-पाठ हो भी चुका है और आये दिन प्राय उन के मित्रों का समवेत शान्ति-पाठ आधी रात को प्राय सुना जाता है। शरद् की ये सारी भूमिकाएँ चित्रा, स्वाति के आगमन के पूर्व ही घटित हो चुकी है। पर जैसे मन के ऋतु-

परिवर्तन में असल चीज़ है मनोभाव, वैसे ही धरती के ऋतु-परिवर्तन में असल वस्तु है हवा का स्वभाव। और उत्तरा फाल्गुनी की हवा का स्वभाव गान-गन्ध-मान-मनुहार की दृष्टि से पावस से अनुरक्त है। यह पावस का अन्तिम राग-रोप है। इस में वर्षा खूब झड-तूफान के साथ होती है। पर पावस के हा-हा-हू-हू आदि मृदंग वादकगण अब बूढे हो चले हैं। उन के उनचास मरुद गन्धर्वों को वही अन्तिम लय प्रस्तुत कर रही है। इसी से ये अन्तिम विदा का ताल ज़रा मन से बजाते है। यह पावस की कूच की लकडो बज रही है। 'बोलो लोमडी, फूटा कास, अब नाही वर्षा की आस' तो भी उत्तरा फाल्गुनी की हवा में पावस की ही बाँसुरी और मृदंग बज रहे हैं।

अत. यद्यपि शरद् की सादी शुभ्र डाक उत्तरा फाल्गुनी ही हमें थमा जाती है तो भी है यह पावस का नक्षत्र। हस्ता अवश्य ही शुद्धत शरद्-काल है। पर शरद् अभी-अभी जन्मी है। यह बालिका है। इस के व्यक्तित्व का निखार अभी नही हुआ है। हस्त के नवरात्र में ही देवी की आगमनी होती है। इस के चार चरण हैं लौह, ताम्र, रजत और स्वर्ण। प्रथम चरण में हस्तमेघ फुहार दे दें तो भूमि लोहे जैसी कडी हो जाती है जो अगली फसल के लिए अनिष्टकर है। यदि अन्तिम चरण में हलकी वर्षा हो जाये तो वसुमती धरती सोने जैसी सुभग, सुगम और सुचारु हो जाती है। हस्त नक्षत्र के काल में शरद् लक्ष्मी नन्ही-मुन्नी तुल-तुल बालिका जैसी जगह-जगह, खेतो की पगडण्डियो, बाग-बगान, घाट-बाट, नदी-तट, उषा और सन्ध्या की दिगन्त भूमि में इधर-उधर दौडती नज़र आती है। यह मरालों से खेलती है, चातको से मचलती है, बक-पाँति के साथ होड लेती है, तुहिन बरसाती है और रात होने पर थक कर सो जाती है। यह है मुक्तवेणी, अप्रस्फुटित, धूलि-धूसरित, खिलखिलाती, तुलतुलाती, बीच-बीच में रोदन-मधु बरसाती बालिका शरद् की छवि। हस्ता बीतते-बीतते इस बालिका चित्रा में वय सन्धि की अवस्था प्रवेश

कर जाती है। स्वाति आने पर इस का यौवन अनुराग-आर्द्र हो जाता है और विशाखा में यह चरम षोडशी रूप को प्राप्त हो कर पुन शिशिर में विलीन हो जाती है।

वास्तव में जिसे हम शरद्-शिशिर-हेमन्त के तीन खण्डों में विभाजित करते हैं वह परस्पर सयुक्त एक ही ऋतु-गुम्फ है। एक ही ऋतु शीत के वय.सन्धि का मुकुल है शरद्, प्रस्फुटित तारुण्य का भोग-काल है शिशिर, और धीर प्रशान्त प्रौढता है हेमन्त। सिद्धान्त. हम षट् ऋतु की चर्चा करते हैं। पर व्यवहार में भारतवर्ष में भी चार ही ऋतुएँ हैं—वसन्त, ग्रीष्म, पावस और शीत। इस शीतकाल को ही शरद्-शिशिर-हेमन्त में विभाजित कर दिया गया है। चित्रा शरद् की वय सन्धि है। इसी से यह चटुल-चपल और रूप-भास्वर है। पर कौमार्य कच्चा रहने पर तिक्त और कापाय रहता है क्योंकि उस के पानी का विषहरण अभी नही हुआ है। चित्रा के स्वभाव की अभिव्यक्ति छोटे-छोटे, निरन्तर नाचते खजन पक्षी करते हैं। मराल और खंजन चित्रा की छवि के प्रतिनिधि अलंकरण हैं। विशेषत खजन तो स्वभाव की चटुलता-चपलता के कारण चित्रा का प्रतीक-पक्षी है। नन्ही, चुनमुनी, चटुल-चपल, एक ही साथ चारों दिशाओ में दृष्टि डालने की अभ्यासी, डूरती हुई नृत्यरत देह पर चंचल उद्ग्रीव नन्हा चेहरा! अद्भुत है यह पक्षी! इस की चंचलता को देख कर इस की तुलना वय सन्धि की अवस्था में आयी नायिका की आंखो से की गयी है। 'खंजन नयन' बडी ही सटीक अभिव्यक्ति है।

कुछ आँखें होती हैं जो देखती ही नही, दृष्टि-क्रीडा करती चलती है, चारो दिशाओ में उन की दृष्टि एक ही साथ छन्दों का जाल फेंकती चलती है, और ऐसी आंखो की दृष्टि-क्रीडा और इस पक्षी की देह-क्रीडा में बड़ा ही साम्य है। लगता है कि उन आँखों में खजन अवतरित हो गये हैं। तभी वे सीधे न देख कर एक छन्द-विह्वल दृष्टि-'लय' (रिद्म) की रचना करती चलती हैं। मेरे मन में इस खंजनलीला को विविध देखो-

भोगी स्मृतियाँ भिन्न-भिन्न चेहरों के साथ अवतरित होती हैं। पहले वे नैन निर्मल नील थे। उन में हंस तैरते थे। पर वयस की बारहवीं ड्योढ़ी पर पैर रखते ही नेत्रों में युगल खंजनों का जन्म हो गया। चेहरे पर शैतानियत, मुँह पर लाल रिबन जैसी फूटती गुलनार हँसी, और आँखों में फुदकते खंजन। मैं परेशान हो उठता हूँ उस शैतानियत, उस हँसी, उस चेहरे से, और तब पंचांगुलियों का पचशर! तडाक, निर्मम वशीकरण का थप्पड! क्योंकि यह स्मृति उन दिनों की है जब मैं पचशायक वाले के महाप्रतापी शरासन का नाम-धाम भी नहीं जानता था और काली जामुन किसी भी नीलोत्पल आदि से अधिक आकर्षक थी। और पचांगुलियों के इस कठोर वशीकरण प्रयोग के बाद खंजन व्यथित हो कर छिप जाते हैं, पुतलियों में शरारत की धूप मर जाती है और उन में मेघ डबडबा आते हैं। तब सारा मनोजगत् वाष्पाछन्न हो उठता है, उलटे मेरा ही वशीकरण हो जाता है। तब मान और मनुहार और अन्त में मुँह पर फिर वही लाल रिबन सी चटक हँसी का पद्म-प्रस्फुटन। फिर वयस्क चौदह वर्ष, और मुझे लगता है कि उन आँखों के खंजन युगल वचन-चातुरी के ताल-ताल पर नृत्य कला का अभ्यास कर रहे हैं—"चलि-चलि जात निकट श्रवणनि के . !" मेरी दृष्टि भी विकल हो जाती है और मुझे लगता है कि वे निरन्तर नाचते खजन केवल आँखों में ही नहीं हैं, उन की भगिमा का आवेश अंग-अग में तरह-तरह से व्यक्त हो रहा है। वयस सोलह वर्ष, और आँखों में बसे खजनों की नृत्य-भाषा और व्यापक हो उठती है, अंग-प्रत्यंग से अविराम रति-सकेत और अविराम मुद्रा-परिवर्तन देख-देख कर मैं क्षिप्त ही नहीं विक्षिप्त हो उठता हूँ और मेरी शकुन-दृष्टि भाषा का अनगढ भोट ले कर उस पर शिल्प-रचना करने लगती है। पर वह रूपमय संकेतों को उरेह भी नहीं पाती, उद्घाटित करना तो दूर रहा। फिर वयस बीस वर्ष, और मैं देखता हूँ कि वे दोनों नेत्र-खजन सारी विद्या पढ-पढा कर बडे चतुर हो गये हैं। अब न कहीं

वे बाहर झाँकते है और नृत्य करते है। पर वे कही गये थोडे है। घात लगाये छिपे है। अपलक घोर गाढी दृष्टि की यवनिका के पीछे धारानन तान कर वे छिपे हैं, और मै जानता हूँ कि किसी एकान्त क्षण में सम्मुख पडते ही मेरे लिए यह अर्घ-निमीलित अपलक दृष्टि ही हठात् हलाल का खजर बन जायेगी, भौंहो के शरासन तन जायेंगे, तीखा तीर छूटेगा, और खंजन-युगल नाचते हुए मेरे सम्मुख आ जायेंगे।

मैं पुरुष, मैं पुरूरवा, मैं इस सारे कपट को जानता हूँ। मै ने बाग-बगीचे, घाट-बाट, स्कूल-कॉलेज, राह-बाजार, स्टेशन-सिनेमागृह जगल-झाड, जाग्रत्-स्वप्न अनेक अवस्थाओ में इन युगल खजनों की लीला को भिन्न-भिन्न भूमिकाओ में देखा है। उन सारी स्मृतियो के माध्यम से तिल-तिल रच कर जिस अनामा तिलोत्तमा की रचना मैं ने जन्मान्तर के सस्कार प्रवाह के मध्य कर डाली है, उस के कपट, उस की आखेट-लीला को मैं खूब पहचानता हूँ। उस सारी आखेट-लीला का मोह-जाल दो खजन-धर्मी आँखों द्वारा ही ताना जाता है। और यह मोह-जाल, यह माया का ऊर्णनाभ-तन्तु, हमारे लिए सृष्टि में आदिगन्त तान कर वह तिलोत्तमा परमाप्रकृति व्यग्यपूर्वक हँसती है।

चर्चा तो कर रहा था चित्रा के चटुल-चपल रूप की कि बीच में ये खजन उडते आ गये और हमारा मन कुछ क्षणो के लिए दूर खीच ले गये। चित्रा का कामना-सम्पृक्त सन्दर्भ ही ऐसा है कि उस में इस प्रकार मन का अपहरण हो जाना स्वाभाविक है। सृष्टि का मूल है कामबीज और सृष्टि में इस कामबीज का प्रथम आगमन जिस काल खण्ड में पहले-पहले हुआ था, उस में सूर्य 'चित्रा' नक्षत्र में स्थित था। इसी से ज्योतिषियो ने संवत्सर के प्रथम मास का नाम 'चैत्र' रखा। सृष्टि का प्रथम वसन्त, प्रथम मुकुलोद्गम, प्रथम काम विह्वलता, प्रथम रमण तृषा इसी चित्रा नक्षत्र में अवतरित हुई थी। विश्व और सम्पूर्ण आकाश चक्र स्थिर नही। वे अपनी-अपनी गति पर सचल है। अत. आज आकाश की

स्थिति ऐसी है कि चित्रा का आगमन आश्विन मास में होता है, चैत्र में नहीं। अत चित्रा की भूमिका बदल गयी है। पर स्वभाव में वय सन्धि का भाव अब भी कही गया नही है।

चित्रा की धूप बडी चटकीली और प्रखर होती है। इस का रूप देखने के लिए तो ठीक है, पर इस में दो-चार मील विहार करे तो फिर यह शिरा-धमनी को विकल करती हुई मस्तिष्क में चढ जाती है तथा दाह, ज्वर, विषम ज्वर एव प्रलाप की सृष्टि कर सकती है। इसी से आयुर्वेद ने 'बालार्क' अर्थात् 'बाला (कन्या) राशि के सूर्य' यानी क्वार की धूप के सेवन का दृढ निषेध किया है। बडे बूढे भी कहते है, 'कुआँर की धूप, कुआँर के रूप से बच कर रहो।' अर्थात् क्वार की धूप और कौमार्य के रूप से बचे रहो। यह धूप ज्वर का स्रोत है और यह रूप पातक और ग्लानि का। लगता है कि चित्रा के रूप-आतप से कभी तुलसीदास भी विकल हुए थे। 'शरदातप निसि शशि अपहरई, सन्त दरस जिमि पातक टरई।' दिवस के आतप का पातक रात की चाँदनी अवश्य खीच लेती है। पर आश्विन की चांदनी भी पित्त को प्रबल रूप से जगाती है। अत चित्रा की दोनो रूपकलाएँ धूप और चाँदनी, अनुपम रूपमयी होते हुए भी आरोग्य और तृप्ति का स्रोत नही। यह वह रूप है जो चित्रमय है, जो चित्त को चुरा लेता है पर इस की चितचोर चितवन में विष और वारुणी है। सूरदास ने चित्रा को 'चितरी' और 'चित' अर्थात् 'मन' या 'हृदय' माना है। सूरदास स्वभाव से प्रेमी अधिक है, भक्त कम। अरी, 'कहत कत परदेशी की बात' वह 'अक्रूर' नही, 'क्रूर' था जो आया और हमारे श्याम को प्रवास में ले गया और वे अब तक नही लौटे। 'मघपचम लै गयो श्यामघन ताते जिय अकुलात।' मघा नक्षत्र से जो पचम है अर्थात् 'चित्रा' अर्थात् 'चितरी' या 'चित', उस 'चित्त' को उस 'मन' को तो वह 'श्याम घन रूप कृष्ण' लेता गया है, इसी से हमारा जी आकुल है। इस प्रकार सूरदास ने मारे शर्म के इस वय सन्धि पर चढी नायिका के प्रति

अपना 'भेद'भरा प्रेम-भाव दृष्टिकूट के सहारे ही व्यक्त किया है। इस के चन्द्रोपम चेहरे, इस की चढती धूप जैसा रूप, इस की मनोहर नील व्योम में फैली चित्रसारी को देख कर भला कौन नहीं इसे 'हृदय,' 'हिया,' 'तन-मन' कह कर पुकारेगा ? तुलसी को भले ही शरदातप पातक जैसा लगे, कबीर भले ही आजन्म चांदनी के प्रति जन्मान्ध बने रहे, पर हम तो अन्धा हो कर भी सब-कुछ देखने वाले सूरदास के साथ हैं। हमें तो बस हलाल होने में ही मौज मिलती है। यदि विष रूपमय है तो 'नखत वेद ग्रह जोरि अरध करि को बरजत हम खात ?' निरर्थक रिक्त जीवन की तुलना में तो यह दुर्लभ चिन्तामणि जैसा है।

पर कभी-कभी चित्रा की आंख भी मलिन हो जाती है। उन में सर्वनाशी रोष छा जाता है। पहले आकाश में दो-तीन दिन तक सादे हंस-धवल मेघ पाल ताने ओर-छोर तैरते हैं। फिर एक दिन अचानक वे श्यामल हो जाते हैं। तब चित्रा की बदली आंखों में किसान अपना सर्वनाश देखता है। यों पावस की प्रतिनिधि हवा पूर्वा है। पर चित्रा में वर्षाकाल में प्राय उत्तरी हवा बहती है। उत्तरी हवा शरद् की विशेषता है। झड, तूफान, अविराम वर्षा और उत्तरी हवा के क्रुद्ध झकोरे—सब मिल कर एक खण्ड प्रलय की सृष्टि कर देते हैं। किसान इस चित्रा के झड-तूफान 'चितरी के झांटे' से बहुत शकित रहते हैं। यह कालमुखी उत्तरा एकाध दिन में जाने वाली नही। चित्रा का झड कम से कम सात दिन रहता है। सात नही, तो कम से कम पांच दिन तो बान ही नही जा सकता। तब यही रूपसी, यही चितचोर हमारे लिए कीर्तिनाशा, कर्मनाशा बन जाती है। लगी फ़सल इस की मार से धराशायी हो जाती। सारी खेती क्षत-विक्षत और घायल हो जाती है। धान के पौधे तो छोटे होते हैं। उन पर असर उतना नही होता। पर लम्बी यष्टि वाले पौधे यथा ज्वार, बाजरा आदि की कमर टूट जाती है। उत्तरी हवा के झोके उन्हें मार कर खेत में ही खलिहान बना डालते है। जिन का अंग-अग

टूट गया है, वे उठ नही पाते। जो सूर्य की किरणो के पान के लोभ से जरा उठते भी हैं, वे टेढे रह जाते हैं। जो गिरते नही, उन के शीर्ष को कलगी पर लगे फूल धुल जाते हैं और वालो में दाना नही लग पाता। उन के दाने जल कर राख वन जाते हैं। इस तरह किसान के करम में यह चित्रा कोयला वो जाती है। गगा की वाणभूमि में तट पर प्रायः धान नही, ज्वार-वाजरे की फ़सल लगती है और उन प्रदेशो में चित्रा का झड़-तूफान अकाल का आगमन है। फसल एक तिहाई हो जाती है।

अभी-अभी आसमान साफ था, चित्रा की हँसती छवि, आभा भास्वर रूप को देख कर हम सुख पा रहे थे, कि एक कोने से वादल का एक टुकडा उठा और शाम होते न होते सारा आकाश 'दुर्दिन. मेघाच्छन्न.।' फिर रात जाते-जाते झड-तूफान, वर्षा-झकोरे, रोना-धोना, प्रलय, कोई भी उत्पात वाक़ी नही और वह भी एक दिन, दो दिन नही, पूरे अठवारे भर। किसान कहता है, "चितरी है डायन। देखते-देखते मुँह का कौर छीन ले गयी। इसे जवानी का 'उखमज' (उष्मज) पैदा हुआ है।" तो ज्ञानी कहता है, "सब लोग पापी हो गये हैं। यह हमारे पापो का परिणाम है।" और मैं कहता हूँ, "अरी ओ निर्मम, ओ निष्ठुर, इतना मत वरस। वस, वन-ठन कर हँसती भर रह। नही तो मेरी लगी खेती चौपट हो जायेगी।" मुझे लगता है कि यह चित्रा एक ऐसी नायिका है जिस ने अभी तक करुणा वारि में स्नान नही किया है। शीघ्र ही इस के मन का द्वितीय चरण विकसित होगा। यह करुणा-वारि में स्नान करेगी। शीघ्र ही इस में रागोदय होगा, शीघ्र ही इस में माया और प्रीति का शतदल प्रस्फुटित होगा। और तव इस का नाम होगा 'स्वाति।' इसे चातककुल और कविगण तृषापूर्वक पुकारेंगे, "ओ मेरी सखी, ओ मेरी तृषा, ओ मेरी फटिक-जल, एक निर्मल निरुज वूँद दे, जिस से सारा पाप-ताप, मन की सारी तृषा, सारा 'लिविडो' धुल जाये और हम तथा यह सृष्टि सन्ताप

रहित हो जाये।"• तब यही 'स्वाति' का रूप धारण कर के हमें हृदय का वह पद्म-मधु देगी जो मन को तृप्ति और माधुर्य देगा तथा हमारी आंखों को निर्मल और निरुज करेगा। हमारी पीढ़ी चक्षु-विकार से पीड़ित है और पद्म-मधु चक्षु-विकार के लिए सर्वोत्तम अंजन माना गया है। हम स्वाति-हृदय में बनते पद्म-मधु की आशा में प्रतीक्षारत रहेंगे।

•

---

१. 'नक्षत्र' शब्द का प्रयोग जब तारा (star) के अर्थ में हो (यथा, 'सूर्य एक बड़ा नक्षत्र है') तो यह पुल्लिंग होगा। पर जब इस का प्रयोग तारामण्डल (constellation) के मुख्य तारे के अर्थ में हो तो यह स्त्रीलिंग शब्द होगा। हमारे साहित्य में ऐसे नक्षत्रों की संख्या २७ है और वे चन्द्रमा की पत्नियाँ मानी गयी हैं। इन २७ नक्षत्रों की वार्षिक गति सूर्यसापेक्ष है और दैनिक गति चन्द्रसापेक्ष। सूर्यसापेक्ष गति के अनुसार चित्रा नक्षत्र वर्ष में एक बार आश्विन-कार्तिक मास में आती है। पूरे वर्ष को ही २७ भागों में बाँट दिया गया है और प्रत्येक नक्षत्र, वर्ष में एक बार आती है। परन्तु चन्द्रसापेक्ष गति के अनुसार वे प्रतिदिन बदलती रहती हैं और प्रत्येक नक्षत्र मास में एक बार आ जाती है। चैत्री पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा प्राय चित्रा नक्षत्र का भोग करता है। मासों का नामकरण नक्षत्रों की चन्द्रसापेक्ष पूर्णिमागत स्थिति पर आधारित है।

जल दो, स्फटिक जल दो !

सृष्टि के मौलिक वर्ण हैं श्वेत और श्याम। इन के विपर्यय की चौबीस सोपानबद्ध भूमियाँ इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती हैं। प्रथम है निर्गुण निरजन पारदर्शक, फिर अर्ध-पारदर्शक; फिर दर्पण श्वेत, फिर रजत-श्वेत, फिर भास्वर उज्ज्वल, फिर कुन्दश्वेत, फिर शखधवल, फिर क्षीर धवल, फिर ज्योत्स्ना शुक्ल, फिर पाण्डुर शुक्ल, फिर कर्पूरगौर या शिवा गौर, फिर मृणालगौर, फिर गोधूमगौर, फिर धूम्राभ, फिर भस्माभ; फिर कर्बुर, फिर, धूसर, फिर इन्द्रनील या नभ-नील या सुनील, फिर श्यामल, फिर शुद्धनील, फिर कृष्ण नील, फिर भास्वर कृष्ण, फिर अजनकृष्ण या घोर कृष्ण और अन्त में चरन पर पहुँच कर 'अन्ध तमस' या सूची भेद्य रंग-भक्षी अन्धकार। यही आदिम चौबीस रगो का अपरा इन्द्रधनुष है जिस का आदि है अननुभूत निरंजन और अवसान है दृष्टिभक्षी, तमोगुणी महातमस। मैं इन चौबीसो अनुभूति-भूमियो के परे स्थित देखने वाला द्रष्टा-पुरुष हूँ। साख्य कहता है कि मैं पचीसवाँ नही क्योकि मैं असख्य हूँ। भागवत कहता है कि मैं पचीसवाँ ही हूँ, और हम सारे पचीसो के ऊपर, दृश्य-दर्शक ज्ञाता-ज्ञेय के परे, एक छब्बीसवाँ भी है जो अप्रमेय, अव्यक्त, भाषातीत है, इतना भाषातीत कि 'नेति', 'निरंजन' आदि निर्गुण अर्थ वाली सज्ञाएँ भी उस के लिए उपयुक्त नही, वह केवल मौन के मध्य ही उपलब्ध होता है। मौन खण्डित कर वस्तु-जगत् में उसे खींच लाने का प्रयत्न चाहे कितना भी सफल क्यो न हो, पर वह पकड में आयेगा नही। जो पकड में आयेगा वह होगा उस का सीमित रूप, अंग

रूप या अवतार। हिन्दुस्तानी दर्शन के मन्दर को मेरा उच्छृंखल मन-मराल इस प्रकार थोडी दूर ढो कर के इसे श्रद्धापूर्वक पुरानी पीढी के श्वेत कर्वुर या चितकावर शीश पर अब रख देता हूँ और अपना अनुराग सिर्फ दो वर्ण-भूमियो के प्रति सयुक्त मानता हूँ। वे हैं शुक्ल और श्याम। मेरा ललित मन-मराल ही क्यों, समूचे हिन्दुस्तान का जातीय मन ही इन दोनो के प्रति मुग्धानुरक्त रहा है। उस के लिए चरम विद्या का वर्ण शुक्ल है और चरम श्रद्धा का वर्ण श्याम। उस को सरस्वती तन-मन-आभरण से सर्व शुक्ला हैं, उस के प्रभु दूर्वादिल श्याम या मेघ-श्याम हैं और सरस्वती की बहन एक कोई भारती भी हैं, जिस का वर्ण श्याम है। मेरे मन में बसी विद्युल्लता सी हँसी वाली कोई विज्जकानामा भारती हैं, अपने इन्दीवर श्याम रूप पर गर्वपूर्वक कहती हैं

"नीलोत्पलदलश्यामा विज्जका मामजानता
वृथैव दण्डिना प्रोक्त 'सर्वशुक्ला सरस्वती'।"

मैं चार सौ, पाँच सौ वर्ष पूर्व जा कर देख आता हूँ उस विदुषी विज्जका का सप्ताह-प्रति-सप्ताह दल-प्रति-दल प्रस्फुटित होता हुआ नीलोत्पल रूप, तेजस्वी भाल, न्यग्रोध-परिमण्डला देह, और उस के हृदयकोष में सचित होते हुए पद्ममधु पर दो एक बार मँडरा भी आता हूँ। मैं तब सोचता हूँ, 'यह दाक्षिणात्य सुन्दरी ठीक ही कहती है। इस के नीलोत्पल श्याम रूप को देखे बिना कवि दण्डी ने व्यर्थ ही कह डाला 'सर्वशुक्ला सरस्वती।' भारती ही क्यो, सरस्वती का भी रग श्यामल ही होना चाहिए।'

हिन्दुस्तानी मन की श्यामल के प्रति प्रतिबद्धता ही इस बात का कारण है कि विश्व साहित्य में भारतीय काव्य में ही पावसमेघ और आँखों पर सर्वश्रेष्ठ काव्य प्रस्तुत किया गया है। भारतीय नारी कटाक्ष-पात या चितवन में माहिर होती है। किसी भी अन्य देश की नारी मामूली ढग से दृष्टिपात करना, देखना, निहारना भी भारतीय नारी जैसे

मनोरम ढंग से नहीं जानती हैं। चितवन तो एक विशिष्ट अवलोकन-कला है। कम से कम यूरोप, अमरीका के फिल्मों और चित्रित मैगजीनों को देख कर के तो यही धारणा होती है। विशाल कमल-दल आकार के नेत्र, नीले श्यामल पिघलते कोये और उस पर चढ़ी कमान सी भ्रू-लता, प्रकृति का ऐसा आशीर्वाद अन्य किसी को भी नहीं मिला है और यह शरासन बिना प्रयत्न के स्वभावत. चौबीस घण्टे तना रहता है। इन आँखों के बिना सृष्टि का सौन्दर्य ही अधूरा था। सुन्दरता दरिद्र रह जाती यदि ये भारतीय आँखें प्रकृति द्वारा रची नहीं गयी होतीं। एक बार उठती नजर भी कोई डाल देती है तो लगता है कि अभी-अभी कोई नील कमलों की माला गले में डाल गयी। कोई यह न समझे कि किसी की चापलूसी लिख रहा हूँ। अरे, मैं तो वही लिख रहा हूँ जो वाल्मीकि के युग से आज तक बेचारे भारतीय पुरुष को इन की कृपाकटाक्ष के फलस्वरूप भोगना पड़ा है। सब की प्रतिभा खर्च हो गयी, सब ने बार-बार कहा, सभी भुक्तभोगी हैं 'तदपि कहे बिनु रहा न कोई।' ऐसी है भारतीय नारी के नीलोत्पल, श्यामल नयनों की कीर्ति-गाथा।

वही अनोखी स्थिति हिन्दुस्तानी पावस की भी है। एक बड़े अनुभवी और अरबी-फ़ारसी के बंगाली पण्डित सैयदमुस्तफाअली ने एक जगह लिखा है कि दुनिया में कहीं भी इतना सुन्दर विरह-काव्य नहीं लिखा गया जितना कि हिन्दुस्तान में, क्योंकि दुनिया के किसी मुल्क में इतनी खूबसूरत बरसात होती नहीं। अत जिन्दाबाद हिन्दुस्तानी वर्षा ! जिन्दाबाद भारतीय पावस ! मौलवी साहब बिलकुल ठीक फरमा रहे हैं। आकाश में ऐसी घटा, ऐसा मेघारण्य, ऐसा मेघ-समागम कहाँ मिलता है इस देश को छोड़ कर ? एक से एक खानदानी मेघ, एक से एक गुणी मेघ, ऐसे हुनर वाले मेघ कि प्रेमपत्र तक ले जा कर प्रेमिकाओं तक पहुँचा देते हैं, इसी देश के आकाश में इकट्ठे हो कर बरसते हैं। यहाँ आवर्तक, पुष्कर, बलाहक आदि ऐसे मेघकुल हैं जो ताल-वाद्य-वर्षण

में अपना सानी नही रखते । कोई धारासार बरसता है, तो कोई फुहार देता है, तो कोई फूल बरसा जाता है, तो कोई गान गा जाता है, तो कोई इन्द्रधनुष को पचशर जैसा साध जाता है, तो कोई जगा जाता है, तो कोई भिगो जाता है, तो कोई प्लावन लाता है और डुबा जाता है, तो कोई कडक जाता है, तो कोई वज्र मारता है, तो कोई कभी-कभी एक क्षण के लिए पुजित आंजन जैसे अन्धकार में विद्युत्-वनिता को वेष्टित किये हुए अनग-रहस्य का एक 'पोज' दिखा जाता है; विद्युत् भागती है और वह वात्स्यायन के कामसूत्र की 'लतावेष्टितक', 'वृक्षाधिरूढक', 'तिलतण्डुल' या 'नीरक्षीर' में से किसी मुद्रा में घात और दावें की सुविधा मे उसे पकड लेता है, और मैं 'एकाक्षपिङ्गली', ईश्वर का ऐंचाताना गुप्तचर यह सब प्रलुब्ध हो कर देखता हूँ तो वह मुझे कडक कर डांटता है। प्रेमी, सखा, दाता, बन्धु, विद्रूप-वज्र, देवता और कालमूर्ति की मुद्रा में हिन्दुस्तानी मेघ हमारे सम्मुख आता है आषाढ पूर्व से ले कर कार्तिक के बाद तक पूरे छह मास तक। बीच-बीच में शीत की कटकटाती ठण्ड में 'महावट' बरस जाता है और वसन्त में पनबदरा की पिचकारी खेल जाता है, फुहार बरसा जाता है। शरद् और ग्रीष्म भी अछूते नही रहते। ग्रीष्म में रोहिणी-मेघ जरूर बरसता है और शरद् के निरभ्र निर्मल हृदय में भी स्वाति का मेघ है। चातक के साथ स्वाति-मेघ इतने वात्सल्य और मधुर भाव से जुडा हुआ है कि खयाल ही नही होता कि स्वाति पावस-काल का नही, यह क्वार-कार्तिक अर्थात् शरद् का नक्षत्र है। पावस तो भाद्रपद के बाद ही उत्तराफाल्गुनी के साथ विदा हो जाता है।

शरद् ऋतु चित्रा की चटुल चपल वय सन्धि पा कर करुणावारि में स्नान करती है और अन्तर के रागोदय के साथ-साथ स्वाति में रूपान्तरित हो जाती है। स्वाति का रग लाल है। यह अनुराग का रग है। राग याने अरुणिमा बिलकुल सार्थक है। स्वाति का काल वैष्णव आत्म-समर्पण, प्रीति और अनुकम्पा का काल है। कहते है कि धरती

पावस का सारा जलपान कर के भी तृषित रहती है। यदि स्वाति न बरसे तो उस को प्यास बुझती नहीं। और चातक तो पूरे पावस भर प्यासा का प्यासा हो रह गया। यह हठीला पछी एक घूँट क्या, एक बिन्दु जल भी नहीं छू सका। यह हठीला, चचु ऊपर उठाये 'पी कहाँ' रटता ही रह जायेगा। 'आषाढस्य प्रथम दिवसे' इस ने गर्वोन्नत शीश उद्ग्रीव ऊर्ध्व चचु हो कर रटना शुरू किया 'पी कहाँ!' एक से एक कुलीन मेघो का, पुष्करवशीय, आवर्तकवंशीय या वलाहकवशीय मेघो का फेरा आया। सभी दाता हृदय खोल कर बरसे। पर गर्वीला चातक अपने श्यामल मेघ को पुकारता रहा। आषाढस्य प्रथम दिवस कोई मेघ पवन के उनचास घोडो के रथ पर विहार करता, दुखी जनो की करुणा और प्रेमियो के प्रेमपत्र बटोरता निकल गया और उस के बाये महीरुह-शाखा पर बैठा-बैठा, 'पी कहाँ ?' पुकारता हुआ पपीहा या चातक स्वाति-मेघ की प्रतीक्षा करता रहा 'सगन्ध.', अभिमान से सुगन्धित; सुगन्धित कमल सा सगर्व शीश उठाये, चचु उठाये यह हठीला उस आषाढ के कुलीन मेघ की ओर एक बार भूल कर भी ताका नहीं।

> 'मन्द मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वा
> वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगन्ध ।
> गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमाबद्धमाला
> सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाका. ।'
>
> —पूर्व 'मेघदूत' (१०)

अन्तिम दो पक्तियाँ बताती है कि मेघ अत्यन्त सुदर्शन 'नयन सुभगम्' है। साथ ही साथ प्रीति और सयोग की पटभूमि है। बलाका अर्थात् सारस पक्ति इस के श्याम शरीर की मरकत आभा पर श्वेत मुक्ता-माल सी है। यही नही, ये बलाका युगल-गण रह-रह कर, जोडे-जोडे कर के, मेघ की आड में जा कर गर्भाधान करते हैं और तब लगता है कि माला में सयोग की गाँठ बाँध रहे हों। उन का समस्त क्रिया-व्यापार माल्यग्रन्थि

रचना का सकेत देता है। इस तथ्य की पुष्टि के लिए 'कर्णोदय' का उद्धरण दिया जाता है। "गर्भं बलाका दधतेऽभ्रयोगान्नाके (आकाशे) निवद्धा वलय समन्तात्।" और यदि बात सही है तो बडा अद्भुत दृश्य उपस्थित हो जाता है। मेघ 'नयन-सुभग' तो है ही, प्रीति की पटभूमि भी है। ऐसे 'वर' मेघ को भी 'मोघ' मान कर यह हठीला चातक जल-याचना नहीं करता है, और पुकारता रह जाता है अपने परम प्रियतम स्वाति मेघ को ही।

अत इस तृषित की प्यास बुझानी ही है, अन्यथा यज्ञ अधूरा रह जायेगा, अपकीर्ति माथे से नही उतरेगी। सारा पुण्य खण्डित हो जायेगा। पावस हो या शरद्, कोई ऋतु हो, कोई बात नही। घनश्याम को आना ही है। इसी से स्वाति नक्षत्र में श्यामल मेघ लौट आता है। स्वाति वरसती है। यह नयी फसल के लिए अमृत वरसाती है, शूकर, सीपी और हाथी के लिए मणि वरसती है, वाँस के लिए वंशलोचन वरसती है, कदली गुम्फ के लिए कर्पूर वरसती है, कुटिल मन मलिन आँखो वालों के लिए मोतियाविन्द वरसती है, वैष्णवो के लिए अनुराग वरसती है, और सव से वढ़ कर प्यासे चातक के लिए तृप्ति वरसती है और उस की तृषा की चतुर्मास-आरती तृप्ति के इस जल में ही शीतल होती है। अव कुछ और पाना शेप नही रहता। वस अव तो "प्रीतो भवति, स्तब्धो भवति, मत्तो भवति" और अन्त में "आत्मारामो भवति।" इसी से वैष्णवो ने चातक को अपनी अनन्य भक्ति का आदर्श माना है। "एकराम घनश्याम हित चातक तुलसीदास।" तुम पाहन मारो, तुम दुत्कारो, तुम क्रूर नयनो से देखो पर उन्ही नयनो में अनुकम्पा की पुण्य सलिला छिपी है। ओ प्रियतम, (और मैं कहता हूँ 'ओ प्रियतमा!') मै राग से वद्ध हूँ अतः तुम्हारा यह रोप तुम्हें और मोहक, और वाछनीय वना रहा है। तुलसी-दास कहते हैं कि चातक मरने पर भी चचु उठाये ही मरता है जिस से माया-जल की एक वूँद भी इस के कण्ठ में न जाये। यह पुकारता रहा,

[illegible] "पुण्य जल दो, एक घूंट जल दो !" वे सारे शक्ति और शान वाले मत्तगयन्दों-जैसे मेघ आये शुण्डो पर जल का कलश उठाये हुए। पर चातक ने प्रत्येक दाता को द्वार से लौटा दिया। प्रत्येक दाता याचना कर के लौट गया। मानो चातक ने उन का जल-कलश अस्वीकृत कर दिया और अन्त में हार कर स्वाति के घनश्याम दौडे आये और विशिष्ट जल, विशिष्ट बूंदें जिस में "भूमि परत भा ढावर पानी" से भिन्न जल है, वे बरसा गये। बरसा तो गये ही, मन ही मन कृतज्ञ भी हो गये कि भला, इस हठीले पाँखी ने उन के जलदान को स्वीकार तो कर लिया। ....यह जल अन्य नक्षत्रों के डाबर जल से भिन्न है। यह हीरे जैसा शुद्ध, निर्विकार, महार्घ तेजस्वी जल है, शुद्ध स्फटिक जल। हिन्दी भाषा में चातक बोलता है, "पी कहाँ ! पी कहाँ !" असमिया भाषा में चातक बोलता है "राम क' ओ ! राम क" ओ !' (राम कह, राम कह)। पर बंगला भाषा का चातक बोलता है "फटिक जल ! फटिक जल !" अर्थात् "स्फटिक जल दो ! स्फटिक जल दो !" स्फटिक अर्थात् हीरे जैसा शुद्ध, तेजस्वी; निर्विकार जल ! ऐसा जल मिले तो चातक ग्रहण करेगा, अन्यथा यह हठीला पंछी प्यासा हो मर जायेगा। नतग्रीव हो कर माया का डाबर जल पीना इसे कभी भी स्वीकार नही। फलतः इस बार 'कामरूपं मघोन' मघवा के चाकर बहुरूपी मेघगण नही, स्वयं घनश्याम दौड आये : "ओह, पंछी, ओह पाँखी, तू तो प्यासा ही रह गया !" मारे प्रीति के उन की आँखें झरने लगी और 'स्फटिक जल' की धार नयन-पल्लवों से बह चलीं। यह करुणा-वारि चातक के जीवन का सम्पूर्ण ताप हरण कर गया।

चातक भक्त है। इसी से वह स्वाति का शुद्धस्फटिक जल ही पान करता है, माया के डाबर जल को नहीं पीता। सन्त मराल है। वह जब यह स्फटिक जल सीपो में पक कर मुक्ता बन जाता है, तो मुक्ता-भक्षण करता है, पर काँकर नही चुगता। वैष्णवों को चातक-प्रेम की अनन्यता

और जल के प्रति उस की विवेक-दृष्टि—दोनो तथ्य अपने स्वभाव के अनुकूल लगते हैं। इसी से यह पक्षी दास्य और वात्सल्यभाव-प्रधान भक्ति में विशेष समादृत हो गया। तुलसीदास जी ने चातक-प्रेम के मुहावरे को उत्तर भारत में इतना लोकप्रिय बना दिया, पर यह मौलिक रूप में तुलसीदास की अपनी उद्भावना नही। यह तो विशिष्टाद्वैतवादियो का एक परिचित मुहावरा है। श्रीमद्रामानुजाचार्य के 'अष्टादश रहस्य' में प्रथम और आधारभूत रहस्य 'प्रपन्नता' का वर्णन करते समय परवर्ती आचार्यों ने इस पक्षी का दृष्टान्त बार-बार दिया है। बाद के टीकाकारो ने भी इस श्लोक को बार-बार उद्घृत किया है :

"एकैव खगो मानी चिरं जीवति चातक।
पिपासितो वा म्रियते याचते न पुरन्दर।"

खगो में यदि कोई मानपूर्वक चिर काल तक टिका रहता है तो वह है चातक। यह प्यासा रहेगा, शुष्ककण्ठ प्राणशेष रह जायेगा अथवा मर भी जायेगा, तो भी यह इन्द्र से जल नहीं माँगेगा। माँगेगा तो अपने स्वाति मेघ से। अन्य मेघ "काम रूप मघोन." मघवा के चाकर हैं। पर स्वाति मेघ साक्षात् पद्म-पलाश लोचन घनश्याम है। यह अद्वितीय है। यह अनुपम है। चातक इस अद्वितीय-अनुपम से दो बूँद वारि माँगता है। राम के बारे में तुलसीदास ने लिखा है "अस सुभाव कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ।" और इसी अनुपम-अद्वितीय राम को घनश्याम मान कर चातक-भक्त आजीवन पुकारता रह जाता है : 'स्फटिक जल दो! स्फटिक जल दो! पी, कहाँ? पी, कहाँ? आओ, मैं तृषा-तप्त हूँ, मैं प्राण-शेष हूँ! ओ प्रिय आओ, आओ, तृषा-ताप हरण करो!"

सन्त मराल हैं, पर नये गान्धीवादियों की तरह उन का भोजन बड़ा क़ीमती होता है, क्षीर और मुक्ता। जब कि बेचारे भक्त को एक घूँट पानी अर्थात् चरणामृत-तुलसीदल मिल जाये, सब मिल गया। वह और उस के

ठाकुर जो ज्वार-बाजरे की बाटी पर भी सन्तुष्ट रहते हैं। बस, तुलसी-दल पड़ना चाहिए। इसी से वह मोती नही, एक बूंद जल मांगता है। सन्त-मराल का मोती भी इसी जल की सन्तान है। स्वातिजल सीपी के मुंह में पड़ कर मोती बनता है। ऐसी कवि-कल्पना है। सीपी के गर्भ में एक धूलिकण था। उस पर बूंद पड़ी और धूल कण के चारो ओर परत पर परत पड़ने लगी। अन्त में मुक्ताफल तैयार हो गया। अन्तर में पक कर वही बूंद मोती का दाना बन गयी। वैज्ञानिको का कथन है कि यह सब बकवास है। मोती का दाना सीपी का एक रोग है। यह सीपी के अन्तर की एक रोग-ग्रन्थि है, एक फोडा है, यन्त्रणा की एक गांठ है। पर मनुष्य सीपी की इस यन्त्रणा ग्रन्थि को अनुपम अद्वितीय मानता है। अद्भुत सी बात है कि प्रकृति के अन्दर जो विकलता है, रोग है, वही मनुष्य के लिए शृंगार है, वही उस के आनन्द का स्रोत है, वही उस की सीमा-मुक्ति का आधार है। प्रकृति का विकार मनुष्य का शृंगार है। और वह स्वयं क्या है? एक अर्थ में जन्म से मरण पर्यन्त उस का जीवन ही प्रकृति नही, विकृति है। सनातन प्रवाह में अखण्ड आत्म-सत्ता के ऊपर खण्डित सीमित देह वल्कल का आरोपण विकृति नही तो क्या है? उस का प्रकृत स्वरूप तो निरजन निर्विकार सत्ता है। इस ससार को जीवन-लोक न कह कर मर्त्यलोक ठीक ही कहा जाता है। कम से कम कालिदास पर निराशावादी, बौद्ध, वैरागी या सन्यासी होने का आरोप नही लगाया जा सकता। उन्होने भी चरम अनुभव पा कर यही कहा है "मरण प्रकृति. शरीरिणा विकृतिर्जीवितमुच्यते।' (शरीरधारियो के लिए मरण प्रकृति है और जीवन विकृति।) तो फिर आश्चर्य क्या है कि यह शरीर-धारी मनुष्य सीपी की विकृति को, उस की यन्त्रणाग्रन्थि को अपनी मुकुट मणि बनावे और उसे अपनी प्रेमिका के कर-कंकण में गूंथ दे या उस के मोहक केशपाश में उसे सजाये। दुख विकार और यन्त्रणा की पूजा में इस मर्त्यजीव को एक अद्भुत स्वाद मिलता है।

स्वाति की स्फटिक तृषा की कथा विकारलोभी काम-लोलुप मन से कैसे कहूँ ? स्फटिक जल मांगने वाला व्यक्ति मन को शुद्ध स्फटिक शिला बना कर ही इस याचना का अधिकारी बनता है। मै तो मन के श्यामपट्ट पर रोज़ खरिया द्वारा माया का लेख लिखता हूँ और मिटा देता हूँ। काम, क्रोध, मोह के तरह-तरह के दस्तावेज़ और इक़रारनामे रोज़ इस श्यामपट्ट पर लिखता हूँ। पर कुशल है कि किसी लेख से प्रतिबद्ध नही होता। लिखता हूँ और मिटा देता हूँ। बीच-बीच में मर्मी बन्धु होते हुए भी यह लुच्चा कामदेव तीर से नही, तो तुक्के से ही मार देता है। और अब इस के पास तीर कहाँ है ? अब तो फलकहीन बाण अर्थात् तुक्के ही इस के तरकश में हैं। इस के पचशरो का बाग अब हिन्दुस्तान में कहाँ ? अन्याय, नौकरशाही, अमलातान्त्रिक समाजवाद, कूटनीतिक सेक्यूलरिज़्म और पक्षपात, जाति-भेद, वर्ण-भेद और सम्प्रदाय-भेद, अकाल, अवर्षण और कुव्यवस्था, अवरुद्धता, जडिमा और आत्महीनता आदि के भयंकर महिष उत्तर-दक्षिण-पूरब-पश्चिम से आते हैं और इस बेचारे कामदेव की सारी खेती को, इस के अरविन्द, मल्लिका, अशोक, आम्रमजरी और नीलोत्पल के पंचशरों की खेती को, कुछ तो चर डालते हैं और शेष को रौंद कर तहस-नहस कर डालते हैं। अत कामदेव अब पुष्पो का शर-सन्धान नही करता। यह दक्षिण भारत में ढेले मारता है, उत्तर भारत में प्रेमियों के शीश पर लट्ठ प्रहार करता है, पश्चिम भारत में मोह-मुद्गर से पीटता है और असम बगाल-उत्कल की भावुकतापूर्ण भूमि में आ कर कुछ शील-मुरौवत में आ कर सरकण्डे के तीर अर्थात् तुक्के मारता है। तुक्के से अवश्य ही हलकी चोट लगती है पर उस से खून नही गिरता और अन्तर अरुणा-रजित नही होता। इस से न तो तन का रजन होता है और न मन का। जब तक उपर्युक्त महिषासुर हमारे बाहर समाज में और भीतर मन में मौजूद है तब तक रंजक प्रेम, उदात्त प्रेम, कोमल पुष्पशर का घात, प्रेम द्वारा तन-मन का उदात्तीकरण इस देश में कहाँ सम्भव है ?

पंचशरो की खेती की रक्षा के लिए, मन के रंजन के लिए, व्यक्तित्व के उदात्तीकरण के लिए, समूह मन के अवरोधो की मुक्ति के लिए ही मैं आज घनश्याम और स्वाति मेघ का स्मरण-आराधन कर रहा हूँ, यद्यपि यह जानता हूँ कि मेरा सविकार मन अर्थात् श्यामपट्ट जैसा मन पवित्र स्फटिक जैसे स्वाति-जल का अधिकारी नही। जल पाऊँ या न पाऊँ, पर नाम स्मरण का अधिकार तो सभी को है। हो सकता है कि स्मरण करते-करते कन्धे पर रखा हुआ जन्मजात नीरस काष्ठ एक दिन पल्लवित हो उठे।

•

शरद्-बाँसुरी और विपन्न मराल

वासन्ती पूर्णिमा को मैं 'महाश्वेता' कह कर पुकारता हूं और शरद् पूर्णिमा को 'शुक्ला'। मैं जानता हूं कि यह शरद् पूर्णिमा एक अनामा पोडशी है, सरस्वती जैसा जिस का रूप है, लक्ष्मी जैसा जिस का हृदय है, पार्वती जैसा जिस का मन है, फिर भी मानस में रमण करने वाली इस अमृता अनामा पारमिता वधू को पहचानने के लिए एक नाम देना ही पडता है। विना नाम के रूप साक्षात् नयन सम्मुख रहने पर भी निर्गुण रह जाता है। स्टेशन, मेले-ठेले, वाज़ार में निरन्तर साक्षात् होने वाले रूपो की तरह, एक निर्गुणता इस से जुडी रहती है। रूप के अनुभव को हृदय से लगाने के लिए उसे एक नाम देना ही पडता है। कटु-कुटिल काक-उलूकगण आकर्णविस्फारित शृगाल-मुसकान द्वारा मेरे नामकरण पर टिप्पणी लिखेंगे तो लिखें, पर इस अपूर्व राका को पहचानने के लिए मुझे मन ही मन सही, पर कहना ही है - 'ओ महाश्वेता, ओ शुक्ला, ओ अनुपम, ओ प्रेमिका!' अन्यथा मेरे अनुभव का निस्तार नही होगा, मेरा मन मुझे क्षमा नहीं करेगा, मुझ से रूठ जायेगा, मुझ से बोलेगा नही, अनशन कर बैठेगा, निर्मम हो उठेगा। तो भीतर-भीतर इतना रक्तपात कौन करावेगा? यह तो नाम ही है जो स्मृति की वीणा पर बजता है और व्यथा का, दवाव का, जहर का, पातक का, विरेचन या 'कैथार्सिस' करता रहता है। जो पहले, मात्र क्षण भर पहले ज्योत्स्ना रात्रि थी, एक घटना थी, एक निर्मल काल-प्रवाह थी, एक निर्गुण निर्वैयक्तिक अनुभव थी। ज्यों ही मैं ने पुकारा - 'ओ मेरी अनुपमा, ओ मेरी शुक्ला' कि वह

रात्रि वधू बन कर सम्मुख साक्षात् हो गयी। आखिर ईश्वर-साक्षात्कार की भी तो यही शैली है। जो असीम है, अनाम है, निर्गुण है उसे हम नाम देते हैं और वह मारे कृतज्ञता के, देह धारण कर उतर आता है हमारे बीच, और वंशी बजा जाता है या सलीब पर झूल जाता है। शरद् पूर्णिमा की सन्ध्या को जब नदी शान्त बहती है, अगाध गम्भीर, पर निर्मल प्रसन्न जल में मीन सुखी रहता है, पारदर्शक झिरझिर हवा सृष्टि को आकाश के नीलाभ हृदय का सारा समाचार कह जाती है, तब मेरी विद्या, जो दिवस के प्रकाश में तेजोमय थी, स्वाहारूपिणी थी, उत्तप्त-प्रखर थी अचानक अस्ताचल के कमरे में वस्त्र बदलने के लिए भीतर जाती है और कुछ क्षण बाद सन्ध्या का एकेश्वरी तारा-दीप रख जाती है और मैं उस एकेश्वरी दीप की ओर न देख कर उस के नये परिवर्तित शुक्ल धवल रूप को देखता रह जाता हूँ और बरामदे में ईजी चेयर पर लेटे-लेटे मुझे लगता है कि मेरी विद्या, मेरी सरस्वती का पूर्व दिशा में उगती ज्योत्स्ना के साथ एकाकार हो गया है। और तब मैं कहने के लिए बाध्य हो जाता हूँ, "ओह, पहचान गया! यह रात्रि नहीं, यह तो मेरी विद्या है, यह तो वहू ही है, इस का नाम है शुक्ला, सर्व-शुक्ला सरस्वती!" और इस के पूर्व कि उलूक व्यंग्यपूर्वक कहे कि "हाँ, हाँ, कहते क्यों नहीं, शुक्ला श्रीवास्तव या शुक्ला बरुआ." और काक अपना काला गाउन सँभालते हुए तर्जनी उठा कर व्यंग्य विद्रूप-अपमान की अदालत में मुझ से जिरह करना प्रारम्भ करे, कि मैं अपनी बगल में खड़ा पाता हूँ फूटे काशवनों जैसे निर्मल आदिम श्वेत-केश, पवित्र मुख वाले आदिकवि को जो कहते हैं, "बिलकुल सही बात है बेटा! साक्षी हैं रामचन्द्र और साक्षी हूँ मैं स्वयं। सुनो, श्लोक सुनो :

रात्रि शशाकोदितसौम्यवक्त्रा तारागणोन्मीलितचारुनेत्रा।
ज्योत्स्नांशुकप्रावरणा विभाति नारीव शुक्लांशुकसंवृताङ्गी॥

तो, वत्स, तुम ठीक कहते हो, मुझे भी शरद् वर्णन के समय लगा

था कि यह रात्रि नहीं, ज्योत्स्ना का चीनांशुक पहने नारी है, नारी।"
कहते-कहते महाकवि अन्तर्धान हो जाते हैं। काक-उलूक दोनों की गरदन शर्म से झुक जाती है और वे अपने काले गाउनों में मुँह छिपा लेते हैं।

यह कार्तिक की शरद् पूर्णिमा है, यह विशाखा नक्षत्र का काल है। पूर्णिमा और विशाखा का अपूर्व संयोग मानो मणिकांचन संयोग या कमल-किशलय संयोग, अथवा ईश्वर-मुख और प्रेमिका-मुख का ध्यान-संयोग। अगहन यदि विष्णु-मास है तो कार्तिक लक्ष्मी-मास। कार्तिक की 'कुहू' को लक्ष्मी-उत्सव होता है और कार्तिक की 'राका' को राधा-उत्सव यानी रासपूर्णिमा। 'कुहू' और 'राका' दोनों अनार्य शब्द हैं। दोनों निषाद भाषा से आये हैं। निषाद संस्कृति आर्य तेज की प्रखरता के कारण वाष्पीकृत हो कर मेघ बन गयी और विदा होने के पूर्व बरस कर गयी। संस्कृत भाषा की सीपी में पड कर उस संस्कृति की कई खारी बूँदों ने मुक्ताफल का रूप ग्रहण कर लिया।

आज 'राका' और 'कुहू' जैसे असख्य मोतियों की अर्घ-कान्ति और भाव-छाया देख कर कौन कहेगा कि ये मोती कभी विजातीय संस्कृति के डाबर पानी थे? यह शरद् राका, यह कार्तिक पूर्णिमा ही शरद् का सब से अनुपम काल है। निर्मल नील शरदाकाश में हँसती हुई राधा-रूपिणी राका। श्वेत वर्ण कच्चे दूध का रंग है, कौमार्य का रंग है, परस्पर समर्पित बिना दाग़ के निष्पाप दाम्पत्य प्रेम का रंग है, यह सादा है, शान्त है, और सुखद है। नील वर्ण सब से व्यापक और सब से नयन-शीतल रंग है। यह सनातनता और शान्ति का द्योतक है। निर्मल नील शरदाकाश में श्वेत शुक्ल वर्ण राका इसी से अनुपम हो उठती है। यह श्वेत-कमल की तरह धीरे-धीरे खिलती है। ऐसे धीरे, चुप-चुप कि अभी इस का कहीं नामोनिशान नहीं था। अन्धकार की छाया में हम बातें कर रहे थे कि अचानक पाते हैं कि यह चाँदनी हमारे आसपास, हमारे पीठ-पीछे सब जगह छा गयी है। हम सब इस की रूप-धारा में डूब गये हैं। यह शुभ्र

राका श्वेत पुण्डरीक की तरह दल-प्रति-दल जैसे-जैसे रात बीतती जाती है, खिलती जाती है।

सामान्यतया अहोरात्र का मान नौ सौ कला के बराबर होता है। कार्तिक पूर्णिमा की रात करीब तेरह घण्टे की होती है। अत यह लगभग चार सौ चौरासी कला के बराबर आती है और सोलह कला रास-अभिसार के पूर्व-राग का प्रतीक सन्ध्या अरुणिमा का काल है। इस प्रकार रास पूर्णिमा का समय मान कुल पाँच सौ कला के करीब ठहरता है। प्रत्येक कला के आगमन के साथ दो-दो दल खिलते हैं। एक राधा के प्रति, दूसरा कृष्ण के प्रति और इस प्रकार यह राका एक सहस्र दल पुण्डरीक बन जाती है। यह पवित्र राका निशा एक सहस्र दल महा-सौगन्धिक कमल है, जिसे महाकाल राधा और कृष्ण को वन्दना में प्रति वर्ष समर्पित करता है। इसी से लगता है कि इस शरद् राका में कार्तिक की इस महाज्योत्स्ना में सृष्टि के सारे लघुपातको, महापातको का अवसान हो गया है, गोया यह ज्योत्स्ना न हो कर सहस्रधारा देवनदी हो। 'शरदातप निसि ससि अपहरई' इसी कार्तिक पूर्णिमा के लिए सार्थक है।

यह ज्योत्स्ना दिवस के जहरीले आतप का सारा असर खीच लेती है, मन के सारे पातक धुल जाते है और सारी ग्लानि कट जाती है, क्योंकि प्रत्येक सुन्दर और पवित्र चेहरे में अमृता कला का निवास होता है और ऐसा चेहरा एक दृष्टि में ही सारे पाप-ताप हानि को खीच लेता है, यह कोई आवश्यक नही कि यह परिचित चेहरा ही हो। अपरिचय की तप्त कोलतार सड़क के मध्य कोई एक मृणाल अचानक उगता है, अचानक उस के शीर्ष पर एक कमल फूटता है और तप्त दोपहरी में भी देखने वाले की आंख शीतल हो जाती है। सृष्टि विधान इतना मोहक, इतनी दया-माया से भरा न हो तो जीना ही मुश्किल हो जाये। वह तो बूँद भर मिले या अँजुरी भर; पर कुछ न कुछ मिल जाता है अवश्य, राव से रक तक सभी को। पर बूँद भर, पसर भर या अँजुरी भर ही।

ज्यादा नहीं शान्ति और सुख की अविच्छिन्न धारा, आनन्द का नित्य अखण्ड प्रवाह इस अनित्य भूमि धरती पर सम्भव नहीं। यहाँ पर नित्य अखण्ड रस का, शान्ति और सुख के अविच्छिन्न प्रवाह का 'क्षण अनुभव' या आभासमात्र ही सम्भव है और आज की राका रात्रि इस आभास के सहस्रदल कमल को प्रस्तुत करती है।

यह रास पूर्णिमा किसी दूर चिन्मय लोक में वहने वाले अखण्ड आनन्द प्रवाह या लीला नृत्य का प्रतिविम्ब खण्ड है। षोडश ज्योति कलाओं से चन्द्रमा इसी खण्डित पर मानवोत्तर ईश्वरीय अनुभव की आरती रात भर उतारता है। सहस्राब्दियों पूर्व यमुना-पुलिन पर इस महारास का लौकिक अवतरण हुआ था और तव से प्रति वर्ष एक वार शरद् की शुक्ला पूर्णिमा को दूसरी वार वसन्त की महाश्वेता पूर्णिमा को दो वार 'मधुर-मधुर रस साज, मधुर वृन्दावन माँझ' की स्मृति हमें हो आती है। वर्ष में दो वार सारी धरती क्या, प्रत्येक पुरुष नारी का हृदय वृन्दावन वन जाता है। जयदेव का 'गीतगोविन्दम्' वासन्ती रासलीला का गान करता है और श्रीमद्भागवत शारदीय रास का, पर दोनो की भावभूमि एक ही है। अवश्य ही श्रीमद्भागवत में 'राधा' का नाम नहीं, सिर्फ़ गोपियाँ ही गोपियाँ हैं, पर जयदेव की वासन्तीरास राधा और कृष्ण की रास है।

यहीं पर मन में एक खटका होता है और आधुनिक पण्डितों के अटकलों का स्मरण हो जाता है। उन के अनुसार राधा परवर्ती काल की कल्पना है। वे आभीर लोककथाओं में कहीं पर थीं और श्रीमद्भागवत की रचना के वाद दसवीं शती के क़रीव या उस के भी वाद भारतीय कल्पना लोक में उन का अवतरण हुआ निर्मल पूर्णिमा की तरह। श्री नलिनीमोहन सान्याल द्वारा उठाया गया प्रश्न-चिह्न अव भी शशिभूषण दासगुप्त के 'राधा का क्रम विकास' तक प्रश्न-चिह्न ही है। ब्रह्मवैवर्त पुराण, जो राधा को केन्द्र में कर के लिखा गया है, वहुत वाद की सम्भवत पन्द्रहवीं-सोलहवीं शती की रचना है। ये सारी वातें आज वैष्णव धर्म के

विद्यार्थी के लिए सामान्य चर्चा बन गयी है। एक तरह से मान लिया गया है कि राधा परवर्ती कल्पना है। परन्तु यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि निम्बार्काचार्य, जिन्होने चैतन्य से पूर्व राधा-उपासना की नीव डाली थी, केवल आभीर लोकगीतो की एक नायिका से इतना प्रभावित कैसे हुए ? दक्षिण भारत के इस इतने विदग्ध शास्त्रज्ञ ने क्या अपनी उपासना का केन्द्र बिना सनातन शास्त्रो की छानबीन किये ही यो ही लोक-परम्परा पर ही आधारित कर दिया होगा ? जो कोई व्यक्ति इन शास्त्रज्ञो के स्वभाव तथा शब्द-शब्द को श्रुति प्रमाण पर आधारित करने की इन की आदत को जानता है, वह कभी भी ऐसी लचर कल्पना पर विश्वास न करेगा। निश्चय ही, निस्सन्देह 'राधा' के पीछे कोई बडी पुरानी शास्त्रीय परम्परा रही होगी। हो सकता कि यह परम्परा गुह्य वैष्णव तन्त्रोपासना एव वैष्णव आगम पद्धति में शिष्य-प्रति-शिष्य गुप्त और सुरक्षित रखी जाती रही हो, पर कोई परम्परा थी अवश्य।

राधा को 'ह्लादिनी शक्ति' का प्रतीक मान कर कोई तन्त्र अवश्य बहुत पुराने काल से अखण्डित ढंग से चलता था। तभी निम्बार्काचार्य जैसे पण्डित ने इस से प्रभावित हो कर अपनी साधना के केन्द्रबिन्दु में इसे प्रतिष्ठित किया। क्या राधा का चरित्र तथा मनोविज्ञान की दुर्गम रहस्य-मयी प्रक्रियाओं पर आधारित उस चरित्र का गहरा प्रतीकात्मक अर्थ 'ह्लादिनी शक्ति' इस बात का सकेत नही करता कि यह मात्र लौकिक प्रेम-कथा की नायिका नही और यह मात्र दसवी शती की उपज नही ?

इस विषय पर थोडा सा प्रकाश प्राप्त हुआ है—प्रसिद्ध बगाली वैष्णव शास्त्रज्ञ हरेकृष्ण मुखोपाध्याय के द्वारा। उन्होने बताया है कि 'विशाखा' राधा का ही दूसरा नाम है। विशाखा के बाद आने वाले नक्षत्र का नाम है 'अनुराधा' 'राधा' नक्षत्र का जब आकाश में उदय होता है तो शारदीया रास पूर्णिमा अवतरित होती है। शारदीया रास पूर्णिमा में 'राधा' नक्षत्र रूप से आकाश में स्थित रहती है। रास तो एक विश्वव्यापी लीला नृत्य

है, जो मानसिक आह्लादन के रूप में जीव-जीव में, लोक-लोक में घटित होता है। धरती पर राधा एक गोपी-रूप में, या गोपी-गोपी के हृदय में प्रवेश कर के प्रत्येक गोपी के रूप में नृत्य करती है और आकाश में राधा नक्षत्र के रूप में असीम सत्ता रूप श्रीकृष्ण के साथ इस विश्वव्यापी आह्लादन की तरग का स्रोतीकरण और उत्प्रेरण करती है। श्रद्धेय मुखोपाध्याय महाशय अपनी बात के समर्थन के लिए 'अथर्ववेद' और 'वेदाग ज्योतिष' का सहारा लेते हैं। यदि अथर्ववेद और वेदाग ज्योतिष को उतना पुराना न माना जाये जितना वे मानते है तो भी ईसा मसीह के जन्म से कुछ शताब्दी पूर्व तो मानना ही होगा—बुद्ध का समकालीन या उस से भी पूर्व। उन्हीं के शब्दो में उन की बात रखना ठीक होगा "स्वर्गीय योगेशचन्द्र विद्यानिधि महाशय के मत से 'वेदाग ज्योतिष' ३,३०० वर्ष पूर्व (यानी १३०० ई पू) सकलित हुआ है। स्वर्गीय एकेन्द्रनाथ घोष ने मुझे एक बार बताया था कि 'याजुस ज्योतिप' के सप्तम श्लोक से पता चलता है वेदाग ज्योतिप ३,००० वर्ष पुराना है। उस से भी पूर्व जब महा विषुवत् सक्रान्ति कृत्तिका नक्षत्र के समीपस्थ थी, वैदिक ऋषिगण समुदाय नक्षत्रमण्डल से परिचित थे।

" 'अथर्ववेद' (१९।७।३) में 'विशाखा' का अपर नाम बताया गया है 'राधा'। 'राधे विशाखेयुहवानुराधा ज्येष्ठा सुनक्षत्रमरिष्टमूलम्'। 'विशाखा' नक्षत्र के बाद वाले नक्षत्र का नाम 'अनुराधा' भी इसी बात का सूचक है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में विशाखा-द्वय को नक्षत्र गणो की अधिष्ठात्री और त्रिभुवन की श्रेष्ठा गोपी कहा गया है—'नक्षत्राणाम् अधिपत्नी विशाखे। श्रेष्ठा विन्द्राग्नी भुवनस्य गोपौ' (३।१।१।११) इन दोनो श्लोको से जाना जा सकता है कि 'राधा' और 'गोपी' सज्ञाएँ ४,००० वर्ष पूर्व (अर्थात् २,००० ई पू) के आस-पास से ही ज्ञात चली आ रही है।"—('युगान्तर' १२ अप्रैल '७०)

और यदि यह बात है तो इस से दो निष्कर्ष निकलते है। प्रथम तो

यह कि 'रावा' शब्द को मात्र आभीर लोकगीतो की उपज मानना ग़लत है। यह शब्द उस से भी पूर्व शास्त्रीय महत्त्व पा चुका था। दूसरी बात यह कि यह आम विश्वास कि 'राधा' का दशम शती या हद से हद अष्टम शती के पूर्व कहीं नामलेवा नही, यह नितान्त भित्तिहीन विश्वास है।

शरद् काल आते ही मानस का मराल मुक्ता-भक्षण छोड़ कर निकला था वृन्दावन का विचरण करने, रास-आह्लादन का स्वाद लेने, उल्लास-वारि में विहार करने, प्रोषितपतिका को धीरज वँधाने 'आवत तोर मन भावन रे एहि कातिक मास,' कि रास्ते में काकभुसुण्डि ज्ञानगुदड़ी को सोते हुए मिले और राधातत्त्व की नीरस शास्त्रचर्चा छिड़ गयी। और ज्ञान के परम व्योम में परम पद यानी विष्णु के तृतीय पद तक उड़ान भरने का लालची यह मराल फँस गया उस काक की सगति में जो कभी रामायण पढता था तो आजकल श्रीमद्भागवत पढ कर अपना अजर कैशोर्य धन्य कर रहा है। उधर प्रोषितपतिका के चरम धीरज का क्षण वीत रहा है। 'सावन गया, आश्विन गया, अब अन्तिम धागा चरम सहारा था कार्तिक, वह भी वीत रहा है। यदि कार्तिक खाली गया तो ये चातक, ये मराल, ये खंजन व्यर्थ लौटे, कमल जलाशयो में व्यर्थ प्रस्फुटित हुआ, वलाका आकाश से झूठे ही उतरी, और चित्रा-स्वाति के मेघो ने सन्देश की पाल तान कर झूठो सान्त्वना ही दी थी। जल जाये ये सब, आग लगे, इस कार्तिक पर बज्र पडे।' और मेरा मानस मराल इस वैष्णव विरह-काव्य को गुनते-गुनते अनुभव करता है कि रस-चर्या के भीतर-भीतर कही पर इस विरह-व्यथा से भी बडा एक वृहत्तर निषेध का फलक चुभ कर टूट गया है और छूते ही कही कोई रग ऐसी है जो टभक पड़ती है, कही कोई निरन्तर वर्षा की तरह अविराम अश्रुराशि गिरा रहा है, कही कोई है जो दवी-दवी आवाज में चेष्टापूर्वक रोकने पर भी रुदन कर रहा है। और, यह रुदन प्रोषितपतिका की विरह व्यथा से बड़ी किसी वृहत्तर व्यथा का रुदन है। 'मराल के वृन्दा-विपिन पर कसों का अधिकार है। मथुरा

तो पहले से भी उन की हो थी। ये कंस बड़े मायावी हैं, कभी मनुस्मृति को क़सम खाते हैं तो कभी संविधान की। ये मुट्ठी-मुट्ठी जहर यमुना की धारा में छोड़ने का अभियान चला रहे हैं।'

यह है कौन ? किस की व्यथा इस निशीथ को इतना मर्मवेधी बना रही है ? 'मराल, मराल, तू लौट जा मानसर में। अरे, दुर्दिन आ गया। तू भीतर देख, तू बाहर देख, तू चतुर्दिक् देख। तू जिस अनुराग के प्रसाद को लेने और मुक्तभाव से वितरण करने वृन्दावन जा रहा, वहाँ की प्रोषितपतिका प्रतीक्षा करते-करते दृष्टिहीन होने जा रही है, उस का विश्वास टूट रहा है, प्रियतम और वृन्दावन दोनों के अस्तित्व में उस की प्रतीति चुक सी रही है। प्रतीति चुक जायेगी तो प्रीति की मृत्यु निश्चय है। तब कौन पढ़ेगा तेरी प्रेम-पत्रो की डाक को और तब वृन्दा-विपिन खाण्डवदाह से कितने दिन तक बचा रहेगा ? तू लौट जा, मानसर को ही आत्मस्थ हो कर बचाने की चेष्टा कर।' और यह सुन कर मराल अति व्यथित हो उठता है। ये प्रेम-पत्र जो वृन्दावन के तरुओ, लताओं, सुमनों, धेनुओ, मयूरों और यमुनापुलिन को लिखे गये हैं, ये अनुराग सन्देश जिन्हें जगत् की प्रोषितपतिकाओं को, जीव-जीव को, सब को प्रसाद के रूप में निर्मल सुख के रूप बाँटना है, आखिर इन सब का क्या होगा ? यदि वह मानसर में ही आत्मस्थ हो कर दुबक कर दुर्दिन काटने के लिए रह जायें तो ये आकुल प्रेम-पत्र उसे क्या एक क्षण भी विराम या क्षमापूर्वक जीने देंगे ? लगता है कि मराल धीरज खो कर पागल हो जायेगा। वृन्दावन बार-बार उजड़ा, बार-बार बसा, क्योंकि यमुना में प्रीति और प्रतीति की वारिधारा निरन्तर प्रवहमान हो रही। इसी से वृन्दावन के अन्तर की अमृता नाडी निष्प्राण न हो पायी। पर यमुना के प्रवाह में ही दुश्मन जहर छोड़ चुका है। प्रतीति मर रही है, प्रीति डिग गयी है, जहर काम कर रहा है। मराल विकल है, क्या करे ? मराल विपन्न है, कहाँ जाये ? यमुना में जहर है। पर परास्त हो कर मानसर

लौटने में ग्लानि और शाप है। मराल विकल है, विपन्न है।

यो सरोवर-जल तो मराल का घर ही है, पर वह सरोवर की सीमा से प्रतिबद्ध हो कर जी नही सकता। वह स्वभाव से ही व्योम-विहारी है। नील व्योम का आकर्षण उसे नदी-नदी, पहाड-पहाड, मैदान-मैदान घूमने के लिए मथता रहता है। यद्यपि उस का सहज निवास मानसरोवर या कोई भी सरोवर ही है। यह अजीब सी बात है कि कमल और मराल प्रवाहमयी नदियो में नही रहते। दोनो का सहज निवास स्थिर शान्त ध्यानस्थ जल में ही रहता है। वैसे ही जैसे संस्कारो का, चरित्र का और काव्य-कला-शिल्प-दर्शन का विकास ध्यान-योग के मध्य ही होता है। ध्यान-योग, स्थिरता, सामूहिक और व्यक्तिगत स्थितधी-स्थिति को हम आधुनिक राजनीति की वेश्यावाजी के चक्कर में आ पुराण पथी और अप्रगतिशील मानते हैं तो मानें, पर व्यक्ति और राष्ट्र दोनो के जीवन में इस का महत्त्व उत्पात, इनकलाव और नारेवाज़ी से अधिक है। सस्कृति, साधना, कला, ज्ञान, सामूहिक विवेक आदि के प्रतीक कमल और मराल सरोवरों के निवासी है। ये घाट-घाट का पानी नही पीते और न नदी के पीछे-पीछे विकल लम्पट जैसे दौडते है। तो भी मराल वद्ध, स्थिर जल से प्रतिवद्ध नही। सरोवर उस का घर है, पर जन्म-कैद या काला पानी नही। वह नील परम पद से धरती तक मुक्त विहार करने वाला जीव है। पर 'कहाँ वहे, कहाँ लगे' जैसा यायावर नही। ध्यानस्थ मन जैसा शान्त सरोवर नाम का उस का एक घर है। वह आवाहनमयी राजनीति की मदोन्मत्त नदी के तट पर भी विचरण कर आता है पर लौटता है घर ज़रूर।

समुद्र का लघु सस्करण है सरोवर, समाज का लघु सस्करण है व्यक्ति और देश का लघु सस्करण है घर। यह लघु संस्करण धूर्त, महत्त्वहीन और निरर्थक कालनेमियो को भले ही व्यर्थ लगे, पर सजीव सत्ता यही है। इस के उपर्युक्त विराट् संस्करण तो भाव-प्रत्यय

(आइडिया) मात्र हैं। इस को आहत या वन्दी या देश-निकाला करने पर राष्ट्रीय मन को अंगच्छेद जैसी पीडा होगी और जव अंग कटेगा तो निश्चय ही रक्तपात होगा। इसी से मराल सरोवर और परम व्योम के वीच, लघु और विराट् के वीच एक तालमेल वैठा कर चलता है। जो केवल विराट् की वात करते हैं चाहे वे आदि शंकराचार्य हों या कार्ल मार्क्स, वे नास्तिक हैं, अधूरे हैं और मनुष्य-निरपेक्ष हैं। मराल उन का सतीर्थ्य नही। मराल वैष्णव है और मराल 'डेमोक्रैट' है। वह वैष्णव होते हुए भी मीन जैसा अगाध सुख का कीट वन कर नही रहता, वल्कि विराट् व्योम में विहार करता रहता है। वह 'डेमोक्रैट' है पर 'लेसे फेअर' का समर्थक नही।

और आज वह मराल सुन रहा है कि विराट् व्योम में वह अछूत रहेगा। वह अस्तित्व वचाना चाहता है तो वह पुराने मानसर की सीमा में अपनेआप को वद्ध कर के रखे। वूढा क्षीणकण्ठ संविधान कैकेयी को दो वरदान दे चुका है· मराल का निर्वासन अर्थात् सेक्यूलरिज्म जिस में प्रतीति-प्रीति की वात करना अपना अवमूल्यन करना है। और दूसरा वर है, भरत को राज्याभिषेक अर्थात् समाजवाद। तथ्य तो यह है कि राम और भरत में, प्रतीति-प्रीति (जिसे 'धर्म' कहा जाता है) और समाजवाद में आपसी कोई अन्तर्द्वन्द्व नही। पर द्वन्द्व रखना चाहती है और रखेगी, यह मन्थरा-कैकेयी सरीखी सत्ता की राजनीति। इसी से नदी-नदी, स्रोत-स्रोत, सिन्धु-सिन्धु जिन से हो कर प्रतीति और प्रीति देश के अन्तर में प्रवाहित थे, मुट्ठी-मुट्ठी जहर दुश्मन छोडता जा रहा है। दुश्मन के यान परम व्योम में मुट्ठी-मुट्ठी जहरीले कीटाणु छोड रहे हैं। अत यमुना जहरीली हो गयी है, वृन्दा-विपिन पक्षीगणों की लाशो से सड रहा है, व्योम में मृत्यु कीट छाये हुए हैं। मराल लोहे के चने मुक्ताफल के अभाव में चवा लेगा। वह क्षीर के अभाव में नीर पी कर रह जायेगा, पर व्योम में झपट्टा मारती चीलो ने हुक्म जारी किया उसे मासभक्षी भी होना

होगा, उसे रक्त-नीर का विवेक सीखना होगा। देश-देश यही दुहाई फिर गयी है।

मराल विपन्न है, तभी ऊपर शान्त सनातन नील व्योम से विशाखा नक्षत्र के तारा युग्म हँस कर आशीर्वाद भेजते हैं. 'मराल, तू चिन्ता न कर। 'समरथ' का परवाना ले कर कोई न कोई तुम्हें उबारने जायेगा ही। धरती का पुनर्जन्म हो रहा है। तू घबरा मत।' वह सवाद कार्तिक की महाज्योत्स्ना स्वयं परमपद से उतर कर मराल को, मुझ को, वृन्दा-विपिन को और यमुना को दे जाती है और तब मराल निश्चय कर लेता है कि आगे-आगे दुश्मन नदी-नदी में, स्रोत-स्रोत में, सिन्धु-सिन्धु में मुट्ठी-मुट्ठी जहर छोड़ता जायेगा। और पीछे-पीछे मराल परमपद से आये हुए विशाखा नक्षत्र की वार्ता कहता जायेगा।

●

उजड्ड वसन्त और हिप्पी जलचर

इस बार भी वसन्त आ गया है। आ क्या गया है, चारो ओर साँड की तरह हुँकड रहा है। कभी चोवाचन्दन लगा कर पुष्प-मुकुट पहन कर आता था। पर इस बार तो लगता है कि गाँजा पी कर आया है और बागो में, कुजो में, कछारो में, कूलों-उपकूलो में सर्वत्र ही उत्तान शृगार का श्रव्य और दृष्यकाव्य रच रहा है। ऐसा उजड्ड भोजपुरी वसन्त तो कभी आया ही नही था। यों है यह काफी पढा-लिखा, काल-पुरुष के दरबार का सनातन कत्थक ! पर ज़रा नयी पीढी का है, अत इस की बाग ढीली नही हो रही है और यह रास्ते-कुरास्ते औघट-घाट हर जगह सब से छेड़खानी कर रहा है। यह कभी फूलो के तीर मारता था, दृष्टि-शरासन पर इस के पचबाण सदा प्रत्यचारूढ ही रहते थे, पर आज यह सम्मोहन तीर की जगह पर व्यग्यविद्रूप का तुक्का मार रहा है। क्या करे बेचारा ? इस के पचबाणो की खेती को अफसरशाही क्रान्ति के गर्दभ चर गये। आँखो के शरासन सरेआम नीलाम बिक रहे है। ऐसी हालत में सिवा व्यग्य और उच्चाटन का तुक्का मारने के, गाँजा पी कर अश्रव्य उच्चारण करने के और यह क्या कर सकता है ? इस का ताडी जैसा दुर्गन्धमय सवाद तो लिखा नहीं जा सकता, क्योकि चरम आनन्द या चरम मौज की चीजें भाषा की सीमा के परे होती हैं। परन्तु इस के एकाध छोटे-मोटे हलके साहित्यिक सवादो की बानगी हम दे सकते है। साहित्य-प्रतिभा तो इस में है ही। कालिदास और रवीन्द्रनाथ प्रमाणपत्र दे गये हैं। उस दिन मैं अपने बाग़ की पीपर पाँती में टहल रहा था कि

अचानक इस के द्वारा रचा हुआ दृश्य-श्रव्य-समवेत एक काव्य-संवाद सुनने का मौक़ा मिला। गहागह लाल, छवि भार से अट्टहास करता हुआ, पलाश का एक छोकरा सामने एक घौंर पर घौंर लटकाये, गुरुगम्भीर, रसाल वृक्ष से कह रहा था .

"अबे आम कही के ! अरे ओ 'कपिमुख !' जरा मेरी ओर तो देख। मेरे ही जैसा सिरोपांव लाल-लाल गहागह क्यों नही वन जाता ?"—और आम कोई उत्तर न दे कर टिप्पणीस्वरूप एक अरुणपीत वझा मजरी गिरा देता है। शायद उसे इस पलाश के इस उदकीपन पर तरस आता है। शायद इस प्रगल्भ मुहावरेबाज़ी का अल्पजीवन उसे ज्ञात है। शायद इस-लिए भी वह चुप है कि यह 'कपिमुख' विशेषण उस वेचारे को रावण के बाग़ में उपस्थित रहने के कारण वाल्मीकि ऋषि ने स्वय 'सुन्दरकाण्ड' में प्रदान कर दिया है और इस लिखित प्रमाण के आगे वह नतजानु है। बुरी जगह पर जाने से दुर्नाम होता ही है। अरे, इसी रावण के पडोस के कारण तो वेचारा समुद्र मुश्कें चढा कर बांधा तक गया था। उसे तो सिर्फ़ 'कपिमुख' की उपमा ही धारण करनी पडी। यो कारण चाहे जो हो, पर आम्रवृक्ष चुपचाप ही रहा।

मैं इस सवाद को सुनते-सुनते कुएं की जगत् के पास निकल जाता हूँ। वहाँ कच्ची उमर की कदली का एक गाछ है और पीछे वेर और करौंदे के दो झाड खडे है। जब-जब चैता झकझोर कर बहती है तो कदली की देह झूम उठती और वेर-करौंदे में से एक कहता है "यार, बिलकुल तन्वी है ! साग जैसी नरम होगी।"

"पर शीघ्र ही न्यग्रोध-परिमण्डला वन जायेगी।"

"और तव ?"

"हाँ, और तब यह तन्वी किसी की मालपुए सी आलसी बहू बन जायेगी। और इस के बाद ..."

"यार चुप रह ! सुन लेगी तो गाली देगी।"

“गाली क्या देगी ? कह देंगे कि निराला की कविता पर चर्चा कर रहे थे, तुम से क्या, कि इतना चिढ़ती हो ?”

इस प्रकार मैं ने दूर न जा कर अपने बाग़ में ही घूम कर देख लिया कि किस तरह यह नया वसन्त रीतिमुक्त पगों से विचरण कर रहा है। इस बार रीति का प्रवीण पेशवाज पहन कर वह दरबारी कत्थक नाचने को तैयार नहीं। चारो ओर पूँछ उठा कर नाचती ऋतु-श्री की बहार है। हवाओं में परस्पर वार्तालाप चल रहा है। कोई हवा किसी वन्ध्या-पुत्री का प्रेम-पत्र ला रही है, कोई हवा आकाशकुसुमों की गन्ध से उन्मत्त है, कोई मुरग़ी के अण्डे से बैल उत्पन्न करने की दिशा में शोध कर रही है तो कोई हवा कौए के दाँत पचीस होते हैं या चौबीस, इस विषय पर वार्ता-आलेख करा रही है। इस वसन्त में हवाएँ खेप पर खेप कविता और दर्शन टो-टो कर गली-गली ढेर लगा रही हैं। चारों ओर झूठ दायाँ-ओसाया जा रहा है और उसी को छाँट-पछोर कर ये हवाएँ भी अपनी कविता और दर्शन की दूकान लगायेंगी और आने-दो आने में शशशृंग, आकाश-कुसुम, शरद् दामिनी और तरह-तरह के रंग-बिरंग मृगजलों को बेचती फिरेंगी। अभी तो ये नौटंकी लगा रही हैं। पर ज्यों ही मेला सघन होगा, ये दूकानदार बन जायेंगी। मैं इन की सारी वंचना, सारी ट्रिक को पहचानता हूँ। इसी से मैं इन के फेर में कभी नहीं पड़ता। दिन भर चुपचाप कमरे में बैठ कर परीक्षा की कापियाँ जाँचता हूँ और बाबा आदम का ऋण-शोध करता हूँ। फिर जब शाम होती है तो नदी-तट की ओर चल देता हूँ, मक्खी के अभाव में झख मारने। तट पर बैठ कर या तो झख मारता हूँ या सोचता हूँ कि इस बार वसन्त में एक बार भी मेरा उत्तरीय हवा में फरफरा नहीं उठा और एक बार भी मैं उद्ग्रीव हो कर चकोर-चक्षु सा नहीं बन पाया। वर्षा और शरद्, शिशिर और हेमन्त मुझे तरह-तरह से विकल कर देते हैं। परन्तु वसन्त में मेरा मन इधर कई वर्षों से जेठ-बैसाखी हो रह जाता है। लगता है, मधु-माधव मेरे सखा

नही रहे। कभी-कभी तो समय को काटना मुश्किल हो जाता है। झख मारने में भी मन नही लगता। तब इस वसन्त के पारदर्शक लौह वातावरण में दो ही प्रवाहमय लगते हैं, एक तो मेरे अंग-प्रत्यंग में बहती रक्त की अवदमित सरस्वती और दूसरे यह बाहर-बाहर बहने वाली सदानीरा नदी। शेष सारा जगत् 'स्टिल लाइफ' की चित्र भंगिमा में प्रेतोपम गुप-चुप स्पन्दनहीन बन जाता है।

आज मेरा मन कुछ उल्लसित है। साथ में नन्हा 'रूबल' भी है। 'रूबल' अर्थात् मेरा भतीजा जिस का बैंक राष्ट्रीयकरण से पूर्व नाम था 'रुनझुन'। यह झख-आखेट में मेरा शिष्य है। आज मैं बाहर आ कर देखता हूँ कि सारी सान्ध्यप्रकृति केशदाम में कुसुमवेणी सजाये, श्रीअंगो पर क्रीम मले सन्ध्याकालीन भाभियो जैसी प्रलोभनीय बन गयी है। वसन्त के लौह वातावरण में ऐसे अनुभव शायद ही मुझे प्राप्त होते है। अरे, इस वसन्त में दो ही दुखी रहते हैं। एक तो कुत्ता, जो ग्रीक इतिहासकार एव पलायन-प्रवीण सेनापति जेनोफन के अनुसार असख्य गन्धो के कान्तार में अपने शिकार को गन्ध खो बैठता है, पहचान नही पाता है और दूसरा मैं स्वयं, जिस को किस्मत में इस ऋतु में शुक्लाभिसारिका कृष्णाभिसारिका की जगह पर नीरस उत्तर-पुस्तिका-अभिसारिकाएँ ही बदी हैं। इस दुखद नीरस ऋतु में अचानक एक प्रलोभनीय सरस सन्ध्या को पा कर मैं कातर और दीन हो गया और फिर शोभा का मोहक तीर मुझे वेधता पख-समेत ऐसे आरपार हो गया कि लगा कि मैं कवि बन जाऊँगा और यह मत्स्यगन्धा नदी मेरी प्रेमिका बन जायेगी। पर मैं वर्ड्सवर्थ होने की दुर्घटना से बाल-बाल बचा, क्योंकि तब तक रूबल काँटे में चारा लगा कर बंसी प्रक्षिप्त कर चुका था और सूचक के डूबते ही वह चिल्ला उठा—'काका, काका, मछली चारा निगल गयी!' और तब क्या था! मन को कविता के नागपाश से झटक कर मैं रस्सी को ऊपर खींचने लगा और दो क्षण बाद ऐसी उपलब्धि हाथ लगी, ऐसा महाप्रतीक हाथ आया कि कविता की क्या

मजाल कि अब चौबीस घण्टा मेरी ओर नजर फेरे। अब तो रात भर दर्शन के अज-पुत्र मेरा दिमाग चरेंगे। कहने का तात्पर्य यह कि मदन और मलयानिल के बाद वसन्त का तीसरा प्रिय सखा शम्बूक अर्थात् घोघा मेरी वसी की डोर पर खिंचा चला आया। इस कुसुमित वसन्त में एकाध रोहित का पट्ठा मिल जाता तो हल्दी-मसाले के सान्निध्य से यह ऋतु और सरस हो उठती। पर मेरी किस्मत जो स्वभाव से दार्शनिक है। अत यह महाप्रतीक ही उपलब्ध हुआ। लो, और सिर माथे लगाओ।

मैं शत प्रति शत भारतीय की तरह मन ही मन सन्तोष करने लगा। चलो, कुछ तो मिला। यह भी नही मिलता तो ? और शम्बूक तो श्रेष्ठ दार्शनिक प्रतीक है। जैसे वैष्णव की झोली में उस का ससार रहता है, जैसे यायावर के साथ हरदम उस का लिवडी-वर्तना एव सब-कुछ लदा रहता है, जैसे हिप्पी को पॉकेट और हैण्डबैग में उस को सारी दार्शनिक दुनिया निवास करती है, वैसे ही यह शम्बूक भी देखने में भले ही क्षुद्र हो, पर अपना सम्पूर्ण आवास पीठ पर लादे फिर रहा है, और कमलवन से ले कर कीच-सेवार सर्वत्र इस की गति है, डुण्डुभ सर्पों से ले कर मराल-श्रेणी तक इस के बन्धुवर्ग में आते है, यह सर्वत्रगति, सर्वरुचि और सर्वज्ञान से सम्पन्न जलचर है, यदि कच्छप सन्यासी या साख्य योगी का प्रतीक है, दादुर सामवेदीय वटु समुदाय का प्रतीक है तो फिर शम्बूक भी कम से कम यायावर या उस का मौसेरा भाई हिप्पी का प्रतीक क्यो नही बन सकता ? अरे, यह तो यायावर से भी एक कदम आगे है। यायावर तो खग-मृग होता है। उस में शम्बूक बनने की क्षमता कहाँ से आयी ? यह सही है कि यायावर स्थान से प्रतिबद्ध नही होता है, वह देश-काल-निरपेक्ष हो कर रस-आखेट करता विचरण कर रहा है। पर वह सृष्टि-निरपेक्ष नही होता। सृष्टि से पग-पग पर समझौता करता चलता है। उस का टट्टू, उस की सिरकी और उस की कजड सहवासिनी ये तीनो उस की आखेट-यात्रा के अनिवार्य अग हैं। अत यायावर पूरा-पूरा

दार्शनिक या मुक्त विद्रोही नही। वह सृष्टि से प्रतिबद्ध है, माया से प्रतिबद्ध है, वह रूप-रस-शब्द से प्रतिबद्ध है, वह रस का आखेट करता है, रूप का आहार करता है, शब्द को भिक्षा माँगता है, गन्ध का समाचार बाँटता है और स्पर्श का चीर-परिधान धारण कर के चलता है। वह माया का जीव है। वह संन्यासी होते हुए भी शकराचार्य का शिष्य नही, भरत मुनि का शिष्य है। अत उस में शम्बूक होने की क्षमता नही। यह तो एक मात्र हिप्पी ही है जो यायावर से कुछ क़दम आगे जाता है और उस के ही अन्दर क्षमता है कि शम्बूक के साथ उस के मन, बुद्धि और जीवनचर्या का समीकरण बैठाया जा सके।

हिप्पी सारी दुनिया की वर्तमान समाज व्यवस्था को, आर्थिक राजनीतिक तन्त्रो को सम्पूर्णत अस्वीकार कर के चलता है, क्योंकि ये सभी युद्धकामी, जंगबाज़ और स्पर्द्धा-सम्भूत व्यवस्थाएँ हैं और इन के माध्यम से चरम शान्ति का मार्ग पाना सम्भव नही। अन्तिम अविकार, परम शुद्ध सत्य पाने की इच्छा से वह सारी व्यवस्थाओ के प्रति "पैसिव रिवेल' अकर्मक विद्रोही बन कर चलता है। इसके लिए अपना निकेत, आवास या अस्तित्व का अभिव्यक्तिगत आधार सब कुछ अपने अंगो पर ही है, कही भी थम कर आवास या चर्च उठाने की आवश्यकता नही। दरअसल ये हिप्पी महायुद्ध के पश्चात् उत्पन्न अनास्था और पुराने मूल्यो के प्रति मोहभंग के वातावरण में अकाल पुष्प की तरह वैसे ही पनपे है जैसे 'बीटनिक,' नाराज पीढी या क्रुद्ध तरुण अथवा 'जाज़'। ये बीसवी शती के उत्तरार्ध के प्रथम दो दशको में युग की एक विशिष्ट मानसिक 'वृत्ति' या 'विकृति' के प्रतीक हैं। इन के अमरीकी प्रवक्ताओ का कहना है: "पाश्चात्य सभ्यता (जो ईसाई धर्म, लोक-तन्त्र, कम्युनिज़म और आधुनिक साइंस का चौरंगी मेल है) आज व्यर्थ हो चुकी है। हमारी नयी पीढी इस व्यर्थता के आमने-सामने खडी है। अत. इस व्यर्थता से हम इनकार नही कर सकते। अब हमारे सामने सिर्फ तीन रास्ते हैं: ध्वंस की राजनीति,

रहस्यवादी संधान-यात्रा और आत्महत्या ! चौथा मार्ग नही।" अस्तित्ववाद के कुछ फैशनेबुल दार्शनिकों ने 'आत्महत्या' की वात की। बीटनिको और हिप्पी वर्ग ने रहस्यवादी मार्ग चुना और 'रहस्य का शार्टकट' मादक द्रव्यों में पाया, गांजा, चरस और एल एस डो में। हिप्पियो के मौसेरे भाई बीटनिक युवा गिंसवर्ग को डायरी 'इण्डियन जर्नल' का एक अंश इस प्रकार चलता है . "घने पेडों में जुगनू चमक रहे हैं—रामकृष्ण की जय ! जय गौराग ! जय महाप्रभु चैतन्य ! रामचन्द्र जी की जय ! लोग 'हरि वोल हरि वोल' गा रहे हैं अव धुंधली रोशनी .. चिलम व्यक्ति प्रति-व्यक्ति घूम रही है . मण्डली बैठी है .. मशहरी के चारों ओर वेशुमार मच्छर बम, बम महामाया !"

अमरीका के युवाओ में एक दूसरा वर्ग भी है जिस ने पहला मार्ग चुना है 'ध्वस की राजनीति'। ये अपनेआप को 'हिप्पी' शब्द के ही वजन पर 'ईपी' कहते है, पर वास्तव में शब्द है 'वाई ई. पी' (यूथ इण्टरनेशनल पार्टी)। यही 'योपी' या 'ईपी' वन गया। इन की लडाई का नारा है तरुण बनाम प्रवीण। ये कम्युनिस्टो की तरह क्षमता-दखल के लिए नही लडते है। इन का उद्देश्य है क्षमता पर अधिकार नही, वल्कि वर्तमान व्यवस्था के सारे तन्त्रों को ठप्प कर देना। "दखल करने का अर्थ होगा उस तन्त्र को चालू करने का उत्तरदायित्व भो लेना। दूसरे शब्दो में अपनेआप को उसी व्यवस्था का अग वना कर पचा देना ! अत हम दखल नहीं करेंगे, वस सब कुछ ठप्प कर देंगे। यही हमारे विद्रोह का लक्ष्य है।" शक्ल-सूरत आचार-विचार में युवा हिप्पियो जैसे ही है। मुझे तो लगता है ऊपर-ऊपर 'माओ-माओ' चिल्लाने पर भी बगाली नक्सलपंथी युवा इन अमरीकी 'ईपी' युवाओं के ही मौसेरे भाई है, वैसे ही जैसे बीटनिको को 'क्षुधित पोढो' थी। ध्वस को राजनीति और दायित्वहीनता का वोध, दोनों में समान है। मार्क्स तो इन का मुखोश मात्र है।

परन्तु हिप्पी-मार्ग ऊपर से देखते हुए रहस्यवादी या सन्यास मार्ग भले ही लगे, भीतर-भीतर यह लगता है कि गैर-जिम्मेदार भोगवाद है। सृष्टि के महत्तम निषिद्ध फल 'सेक्स' के प्रति इन की दृष्टि सहजिया पन्थी है। इस की सहजता को उपलब्धि कर लेने के बाद हिप्पी-युग्म परस्पर सहयोग से ऊर्ध्व अनुभव की ओर जा सकते थे (जैसा कि इन के एक प्रवक्ता ओ' लियरो का अभिमत है)। 'हम परस्पर एक में लीन हो रहे हैं' यह मरमी और रहस्यवादी अनुभव उन का लक्ष्य होना चाहिए था पर इस अनुभव-दीक्षा को सामूहिक अनुभव की दीक्षा के रूप में पुराने भैरवी चक्रो की शैली में ये पाने की कोशिश करते हैं और सारा रहस्यवाद मादक द्रव्यो की विषाक्त तरग में वह जाता है और अनुभव का कोई एक मरमी रत्न हाथ लगने के बजाय मिलता है आत्म-क्षय, बौद्धिक विघटन, अतृप्त भोगेच्छा। इन की महायात्रा यूरोप से होती हुई टर्की-अफगानिस्तान से गुज़रती हुई गगा-कावेरी के तट पर खत्म होती है। यह भोग यात्रा है। यह निर्मल प्रसन्न जल नही, कीचकर्दम का पान है।

आज अमरीकी युवा का आत्मक्षय सामूहिक स्तर पर हो रहा है। उसे सेक्स और अफीम में मसीहा का पुनरावतार, 'महान् द्वितीय आगमन' दिखाई दे रहा है। उसे 'सेक्स क्रान्ति' में भाव-क्रान्ति का दर्शन हो रहा है। और मादक अफीम उसे खिला रहा है उस का जानी दुश्मन चीन। लो ज़हर पियो और मरो। सच तो यह है आज अमरीका सर्वत्र हार और पराजय के बिन्दु की ओर उन्मुख है। यह ह्रासोन्मुख युवा सस्कृति, चाहे वह 'हिप्पी' हो या 'ईपी'—दोनो ही, व्यक्तिमुखी और ध्वंसमुखी है। भारतीय युवा इस स्थिति को देख कर सतर्क हो जाये तो अच्छा हो। अमरीका का जीवन दर्शन है लोकतन्त्र। एक तरह से यह अमरीकी प्रतिभा की ही उपज है। आज भी अमरीका ही इस का संरक्षक और प्रवक्ता है। पर आज 'नये साइस' और टेक्नोक्रेसी तथा आंकडा-शास्त्र के कारण इस लोकतान्त्रिक

व्यवस्था में भी 'व्यक्तिगत गरिमा' और 'व्यक्ति स्वातन्त्र्य' का दिन पर दिन लोप होता जायेगा। टेक्नोक्रेसी और एक्सपर्ट-शासित-व्यवस्था स्वभावत बिना किसी राजनीतिक दवाव के व्यक्ति स्वातन्त्र्य को क्षीणतर करती जायेगी। राजनीतिक दृष्टि से शासन लोकतान्त्रिक हो या कम्युनिस्टिक, दोनो में यह प्रक्रिया अनिवार्य प्रशासनिक आवश्यकता के रूप में चालू रहेगी। हां, फर्क यही है लोकतान्त्रिक पद्धति में यह प्रक्रिया उतनी उग्र नही रहेगी, इस में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के सारे दरवाजे वन्द नही रहेंगे और तरह-तरह की नैतिक और मानवीय व्यवस्थाएं रहेंगी, जो 'धरहर' का कार्य करेगी। अतः कुछ तो रोक-थाम और विराम-क्षमा रहेगी ही। पर स्वय अमरीका में युवा सस्कृति इतनी ह्रासोन्मुखता की ओर जा रही है, कि 'धरहर' की मानवीय और नैतिक व्यवस्थाएं यथा चर्च या विश्वविद्यालय या साहित्यिक सस्थाएं या अमरीकी ससद् भी, अपना आत्मविश्वास खो कर पंगु या जैसा कि 'ई. पी' चाहते हैं 'ठप्प' हो जायेगी। अन्तर की शक्ति का ह्रास आत्म-क्षय द्वारा हिप्पी कर डालेंगे और सामूहिक नैतिक शक्तियों का ह्रास ध्वसवादी राजनीति के वालखिल्य ,ई पी.'। तव ? तव, इस के वाद की स्थिति की कल्पना की जा सकती है।

मैं ने कहा था न, कि शम्बूक एक विराट् दार्शनिक प्रतीक है। यह जल जगत् का कर्दमभोगी हिप्पी है। और इस के माध्यम से मैं आज वहुत दिन वाद दार्शनिक चिन्ता के प्रवाह में अवगाहन करने को वाध्य हुआ और आकाश-मण्डप-पाताल-'थुम्भी' (स्तम्भ) लगा कर दार्शनिक स्थापत्य रचने में संलग्न हो गया। पर यह स्थापत्य वचपन के लिए खेले गये घर-घरौंदे का खेल मात्र है। वनाओ और फिर मिटाओ और नहीं मिटाओ तो भी तुम्हारी वालू की रस्सियां कव तक छप्पर सँभालेंगी। सव-कुछ अपनेआप मिट जायेगा। फिर भी आज की इस चिन्ता के घरौंदे की रचना के लिए मैं इसी कुरूप कर्दमाक्त शम्बूक का ही ऋणी

हूं। यह तो मानना ही होगा।

मैं पुन चिन्ता करता हूं तो लगता है कि इस के कर्दमभोग और गृहवाही यात्रा-जीवन को देख कर मैं ने इस की तुलना अमरीकी युवा हिप्पी से कर दी, वह तो ठीक है। पर बात अधूरी रह जाती है। यह शम्बूक मर कर एक नयी भूमिका भी निबाहता है, क्या हिप्पी वह भूमिका निबाह पायेगा? शम्बूक या घोघा परम्परागत अंजन-पात्र है। राजपुत्रों के लिए सोने-चाँदी के अंजन-पात्र बनते रहे होंगे। भँड़ुओं-रण्डियों-नर्तकियों के लिए सुरमे की शीशी चल सकती है। परन्तु भारत माता के लाखों-करोड़ों नन्हें-मुन्हों के लिए परम्परागत अंजन-पात्र घोघा ही है। इस के अस्थिपात्र का यही एक मात्र उपयोग होता आया है। नेत्रांजन ही ज्ञानांजन का आदि रूप है। आँखें जब विकार पीड़ित होती हैं, तो ज्ञान विकृत होता है और यह विकृति ज्ञानान्धता तक भी जा सकती है। गौतम ने अपने शिष्यों को कड़ा आदेश दे रखा था कि वे ज्ञानांजन के साथ-साथ नेत्रांजन का शम्बूक पात्र अपने साथ लेते चलें। "एक हाथ में अंजन-शलाका दूसरे में भिक्षा पात्र। अकेले-अकेले मत जाना। दो-दो कर के जाना। अरण्य-पर्वत-नदी लांघते चलते जाना। नेत्रांजन और ज्ञानांजन बाँटते जाना।" शायद बुद्ध के समय लोगों को नेत्र रोग बहुत होता था, तभी तो उरुवेला के प्रवचन में आग जैसी भाषा वे बोल पाये थे "भिक्षुओ सारी सृष्टि जल रही है, आँखें जल रही हैं, सब कुछ जल रहा है" ऐसी वह्निमान भाषा प्रत्यक्ष अनुभव से आयी होगी। आज जरूरत है इस बोध को समझने की। क्या हिप्पी, ई पी. या इन के मौसेरे भाई ज्ञानांजन का धारक पात्र बन कर अपना अस्तित्व समर्पित करने को तैयार हैं, ठीक वैसे ही, जैसे एक बार मसीहा ने अपने शिष्यों को करुणा का धारक पात्र 'वेसेल ऑफ लार्ड्स मर्सी' बना दिया था। वे तैयार हों या न हों पर मैं इस शम्बूक को यहीं तट की तप्त बालू में दबा देता हूँ, दो दिन बाद जब यह अस्थि-शेष रह जायेगा तो घर ले जाऊँगा, भाभी

को दे दूँगा 'स्वल' और इस की नन्ही बहन 'पानी' के लिए अंजन-पात्र के रूप में।

मैं ने देखा, शाम डूब गयी है और धूम्रवर्णी वातावरण में क्षपणक सन्यासी जैसा यह चित्र-विचित्र वसन्त गांजा को नयी खिल्ली मलने लगा है, नये प्रहर की नयी उदासी से जूझने के लिए।

●

विकल चैत्ररथी

आज मैं ने एक अनामा नील विहंग देखा। पास की पुष्पकरिणी के तट पर लगे चमेली के सघन झाडो पर से अचानक उडा और पंख खोले अद्-भुत छन्दोवद्ध भगिमा में उड़ता-उडता दूसरे ही क्षण जल में लटकती औदुम्वर की शाखा पर वैठ गया। मुझे लगा कि यह शुद्ध आकाशोवर्ण का पंछी है, आ-चंचु-चंगुल नीलवर्ण। परन्तु केकी कण्ठाभ श्याम या अशुक नील नही, ठण्डा-सादा-दूधिया नील मानो यह क्षीर सागर का नील विहग है और हमारी धरती पर किसी काकभुसुण्डि के यहाँ दर्शन पढने आया है। तभी तो औदुम्वर जैसे यज्ञ काष्ठ की शाखा पर वडे मन से बैठा है और माया जल पर पडे विम्व पर वडी चिन्ता से देख रहा है। एक गोरे पर्यटक जानवेन ने लिखा है कि हिन्दुस्तान में एक मात्र सुखी जोव है पक्षी। पर उसे क्या पता कि यहाँ के काक और शुक भी पण्डित-दार्शनिक आदि होते रहे है और लोग विश्वास करें या न करें परन्तु यहाँ के मनुष्यो ने ही मोनाक्षो मन्दिर और ताजमहल का निर्माण विना किसी 'विदेशी डालर या रूवल' के किया था। मैं ने मन ही मन इस नोल विहंग को एक नाम देने की चेष्टा की। कितावो में अनेक पक्षियो के नाम आते है। परन्तु कौए-सुग्गे-तीतर आदि एक दर्जन परिचित ग्राम्य पक्षियो को छोड कर अन्य को तो पहचानता नही। मुझे मेटरलिंक के प्रतीक-नाटक 'ब्लू वर्ड' की याद आ गयी जिस की प्रतीकवादी तकनीक का अनुकरण प्रसाद जी ने 'कामना' में और रवीन्द्रनाथ ने 'राजा' में किया है। किसी परिचित संज्ञा के अभाव में किया इस अनामे पक्षी को मैं ने मन ही मन कल्पना और सौन्दर्यवोध

का प्रतीक मान कर ग्रहण किया परन्तु कुतूहल तो शान्त नही हुआ और लौटते समय अपने मित्र रविवर्मन से भेंट हुई तो मै पूछ ही बैठा, "वर्मन जी, आज मैं ने एक अद्‌भुत स्वप्न-सम्भव पक्षी देखा है। सुन्दर दूधिया नीलवर्ण, मध्यम साइज़ और मण्डलाकार छन्दोवद्ध आकाश-क्रीडा। अपनी पुष्करिणी के तट पर!"

वर्मन जी ने हँस कर कहा, "अरे माछराङा रहा होगा। इसे किलकिला या मीन-रंक भी कहते है। अँगरेजी में यही 'किंग फिशर' है। यहाँ उस की छोटी नस्ल पायी जाती है। है यह वडा शिकारी। मँडराता-मँडराता रहता है। पर अचानक-बाणवेग से नीचे टूटता है और चोंच में मछली को दवा कर तिरछे तीर की तरह आकाश में निकल जाता है। आप ने ठीक से नही देखा होगा पेट और भीतरी डैना तो सुन्दर नीलवर्ण है, परन्तु सिर होगा रेशमी भूरा रग।"

"नही यार, विलकुल नीला था। और ऐसा सुन्दर काव्यमय पक्षी ऐसा नीच निपाद या धीवर नहीं हो सकता। वह तो वडा ही सुन्दर लगता था।"

"माछराडा कभी देखा नही है क्या? रोज़ नदी-तट और वन-विहार की ही वात करते हो।" वर्मन ने कहा और मैं ने इस का अत्यन्त उचित प्रत्युत्तर दिया, "मैं कोई भी चीज़ रोज़-रोज़ देखता रहूँ तो भी उसे कैसे जान सकता हूँ जब तक किसी किताव में न पढ़ूँ कि वह 'यह' है या वह 'वह' है। विना पढे या विना किसी के वताये मै कैसे जान जाऊँगा?"

वर्मन साहव इस विपय पर कुछ प्रकाश न डाल सके और मुझे विश्वास नहीं हुआ कि मेरा स्वप्नोपम, स्वप्न-सम्भव नील विहग भला मीनरंक या किलकिला होगा। किलकिला हो उस का दुश्मन। वह तो वहुत सुन्दर था, वहुत-वहुत मोहक था। यद्यपि रसनिधि नामक एक सिर-फिरे कवि ने कृष्ण की तिरछी नज़रों की तुलना किलकिला से की है जो राधा के हृदय सरोवर पर मँडराती रहती थी और बाँकी अदा से झपट-

झपट कर उस में मीन-आखेट करती थी। पर यह सब मेरी रुचि के सर्वथा प्रतिकूल लगा। ऐसा अपकर्म करने वाले पक्षी-धीवर से मेरे प्रतीक-धर्मा नील विहग का कोई बादरायण सम्बन्ध भी नही हो सकता, खून या बिरादरी का रिश्ता होना तो दूर की बात है। इस प्रकार उस अनामा पक्षी का नाम अनाविष्कृत ही रहा। और बाद में भी मैं ने नाम जानने की चेष्टा को काक-दन्तगवेषणा जैसा व्यर्थ श्रम मान कर कोई प्रयत्न नही किया। और वह कौए के दांत की गवेषणा होती भी किस पर[1] दोबारा तो वह पक्षी दिखाई नही दिया। फलत मैं ने मान लिया कि यह पक्षी बार-बार नही दीखता है। उसे पुन देखने के लिए लम्बे ध्यान, लम्बी प्रतीक्षा की आवश्यकता पड़ती है। लाख सिर मारो, झंखो और प्रतीक्षा का चन्दन काष्ठ घिसते रहो, पर दूसरी बार जब वह आयेगा तो दूसरे रूप में आयेगा। वह पक्षी तो इस रूप में तुम्हें कभी नहीं दिखाई देगा। हाँ, जब तुम इस कोटदष्ट जीवन का वल्कल ओढ़े, इन प्रमत्त धरती से कुजात रह कर अकेले-अलग अपने मनोभव का कामना-पट बुनते रहोगे तब वह तुम्हारे सम्मुख किसी फूल, किसी गान, किसी नारी, किसी दृष्टि भंगी, किसी शृंगार-विभ्रम, किसी आवाहन, किसी वज्रपात के रूप में कौंध जायेगा और तुम चकित रह जाओगे पर पहचान लोगे कि यह वही अनामा नील विहंग है, वही कामरूपी है। उस समय भी वर्मन जी कहेंगे, नही-नही, यह फूल नही, अठन्नी है, यह पत्ती नही, सौदे का फर्द है, यह गान नही बजट समाचार है। पर तुम्हे उस पक्षी को पहचानना होगा, तुम्हें वह पहचान-सामर्थ्य अर्जित करनी होगी क्योंकि वह पक्षी इसी वास्तव लोक का होते हुए भी परावास्तव की सीमा तक विहार करता है; परावास्तव से लोकोत्तर का सन्देश लाता है, उस के ललाट में

---

१ मेरे कान्ह सुजान तुव, नैन किलकिला आइ
हृदय-सिन्धु वे मीन मन, तुरत पकरि लै जाइ।—रसनिधि
('भारत के पक्षी' में श्री राजेश्वरप्रसाद नारायण सिंह द्वारा उद्धृत)

तुम्हारी प्रेमिका और तुम्हारे ईश्वर का पता-ठिकाना लिखा है, वह पक्षी मन्त्रवाही पखों पर चलता है, उस पक्षी का दर्शन और अभिज्ञान ही वेद-मन्त्र का दर्शन और अभिज्ञान है। अत यदि तुम अपनी अलक्ष्य अलका को अपनी दृष्टि-स्नायु-मण्डल में खीच लाना चाहते हो इस पक्षी से मैत्री स्थापित करो। यह माछराडा, मीन रक या क्षुधित पक्षी-धीवर नही है। यह वही विहग है जो अलका-स्वप्न की डाक ले कर राजा विक्रमादित्य के सभा कवि के पास जाया करता था।

वर्मन जी तो कहेंगे ही यह मच्छीखोर किलकिला है। वे अर्थशास्त्र के अध्यापक हैं और आज जमाना है अर्थशास्त्र और साइस का। आज साहित्य और ईश्वर, नये पैसे सेर के भाव भी महँगा ही माने जाते हैं। फास्ट ने अपनी आत्मा को शैतान के यहाँ वन्धक रख दिया था चरम ज्ञान को पाने के लिए। ज्ञान में वह ईश्वर के समकक्ष होना चाहता था। यह भी एक तरह की मर्दानगी ही है। परन्तु आधुनिक मनुष्य आत्मा को भौतिकवाद के यहाँ वन्धक रख चुका है मात्र शिश्नोदर- विलास के लिए। वह इस विलास को कहता है प्रगति। अपने वन्धक के दस्तावेज़ को भी समाजवाद-सेक्यूलरिज्म आदि आदि खूबसूरत नामो से अलंकृत करता है और इन शब्दों का प्रयोग गाली-गलौज के लिए भी कर रहा है। फलत ये शब्द आज अपने सही और उदात्त अर्थों को खो चुके है। आत्मा-निरपेक्ष पुरुष या जाति के सारे आदर्शो को अन्तिम परिणति अर्थ-रिक्तता में होती है। इस प्रक्रिया का सगुण उदाहरण है—भारत के विगत दो दशको का इतिहास। मैं यह नही कहता कि भौतिकवादी शक्तियाँ त्याज्य या हेय हैं। मेरा तो विश्वास है कि विना भौतिकवाद और तमोगुण-रजोगुण की उपासना के हमारे अन्दर वल नही आ सकता और 'नायमात्मा वलहीनेन-लभ्य.'—वलहीन की कोई आत्मा ही नही होती। मेरे कहने का तात्पर्य मात्र यही है कि भौतिकवाद के हाथ आत्मा न वेच कर भौतिकवाद को आत्मा की प्रगति का रथ वनाना हमारा लक्ष्य होना चाहिए। धर्म-निर-

पेक्षता का व्यावहारिक और कूटनीतिक रूपान्तर हो जाता है ईश्वर-निरपेक्षता में और चरम स्तर पर शील-निरपेक्षता या चरित्र-निरपेक्षता में। ऐसे सन्दर्भ में भौतिकवाद किसी शीलाचारिकी के अंकुश या ईश्वर के मगलानुशासन के अभाव में सर्वसत्तासम्पन्न हो उठता है और तब सारे आदर्शों को खीच-खाँच कर 'शिश्नोदर' पर ही घटित करने का प्रयास चलने लगता है। फल होता है सारे आदर्शों की अर्थरिक्तता। मैं भौतिकवाद का विरोधी नही। पर मेरा इशारा इस ट्रेजडी की ओर है। इस की प्रक्रिया का समारम्भ हो चुका है। इसी से साहित्य और ईश्वर का मूल्य दिन पर दिन गिरता जा रहा है। जो आज धर्मनिरपेक्ष है, कल वह ईश्वर-निरपेक्ष होगा और परसो शील-निरपेक्ष और चरित्र-निरपेक्ष। यह ध्रुव है।

तथ्य तो यह है कि भौतिकवाद मनुष्य की आत्मा को तब तक खरीद नही सकता जब तक उस के पास कल्पना है। कल्पना ही आत्मशक्ति का, सौन्दर्य-बोध का तथा ईश्वरीय बोध का मुख्य स्रोत है। अत. भौतिकवाद कल्पना को प्रधान शत्रु मानता है। यो कल्पना के बिना तो उस का भी काम नही चल सकता। पर वह कल्पना के हाथ-पाँव काट कर मशीन के आकार-प्रकार में मढ कर ही रखना चाहता है। मुक्त कल्पना को वह उसी क्रुद्ध दृष्टि से, उसी रक्त-चक्षु से देखता है, जिस दृष्टि से एक तानाशाह पूर्वाग्रह-मुक्त पत्रिकारिता या 'फ्री प्रेस' को देखता है। अत उस का पहला प्रहार होता है धर्म और उपासना पर, फिर साहित्य पर क्योकि ये कल्पना की सर्वाधिक स्पष्ट सगुण अभिव्यक्तियाँ हैं। उपासना और साहित्य को जितना ही 'दुर-दुर-छी-छी' किया जायेगा उतना ही कल्पना रूप-रस में दरिद्र होती जायेगी। और जब यह अनाकर्षक एव क्षीण हो जायेगी तो मनुष्य की आत्मा बहुत जल्दी ही भौतिक स्वार्थों के प्रति आत्म-समर्पण कर देगी। जबतक कल्पना है तब तक फाकाकशी में भी मनुष्य मस्त रहेगा, वह भीतर से कभी भी रिक्त नही होगा, बिकाऊ नही होगा, टूटेगा नही। अत आत्मा का अवमूल्यन करना है तो कभी यथार्थवाद के नाम पर,

कभी प्रगति के नाम पर, कभी वैज्ञानिकता के नाम पर, कभी [illegible] सेक्युलरिज्म के नाम पर [illegible] और उस की [illegible] और उपासना का जहाँ मजाक हो गया [illegible] । ऐसा कर के हम भौतिकवाद यह सिद्ध करने में समर्थ हो सकेगा कि मनुष्य सारा भौति- [illegible] भौतिक शक्तियों का [illegible] है और [illegible] भौतिक और आत्मिक ही है, नैतिकता और [illegible] को हम [illegible] प्रकृति को पीठ कर के और इस रंग में जितना [illegible] हो गये "तेल बोरि पुनि बाँधि पट पावक देहु लगाय ।" जब हमारे की दशा यही है, जब युग का ही यह प्रगतिशील आदर्श है, तो [illegible] विहग [illegible], [illegible], [illegible] से [illegible] और [illegible] न दिखाई दे, तो क्या आश्चर्य है ?

मुझे इस स्थल पर जरमनी के ध्वंसावशेष पर बैठे द्वितीय महायुद्ध के बाद अर्थात् सन् १९४६ में जरमनी को बागडोर हाथ में लेने वाले सत्तर वर्षीय बूढ़े कैथोलिक श्री आडेनावर की याद आती है जिन्होंने एक दशक के भीतर ही जरमनी की क्षमता और प्रतिष्ठा को हर दृष्टि से पुन स्थापित कर लिया, राष्ट्र के टूटे आत्मबल को जोड़ कर ठोस कर दिया, और पूर्वी जरमनी के एक करोड़ बीस लाख शरणार्थियों की समस्या हल कर दी । आखिर जरमनी भी तो भारत की ही तरह विभक्त हुआ था और भारत से अधिक दुर्दिन, पराजय और टूटे आत्मविश्वास के साथ प्रारम्भ किया था । परन्तु वह भारत को कितना पीछे छोड़ गया ? हिटलर ने जरमनी को न केवल भौतिक-आर्थिक दृष्टि से बल्कि आत्मिक और नैतिक दृष्टि से भी एक गलत जीवन-दर्शन के माध्यम से खण्डहर बना डाला था । असली ध्वस तो भीतर-भीतर हो रहा था । हिटलर छिपे-छिपे स्वय नास्तिक था । यहूदी जाति का तो वह घोर वैरी था ही, कैथोलिको पर भी उस की अच्छी नजर नही थी । पर पोप का दिखावटी आशीर्वाद पाने के लिए उस ने कैथोलिकों पर कत्लेआम या हत्या-उत्सव जैसी योजना नही लागू

की। परन्तु उस की धारणा थी कि आर्य-तेज को कमजोर करने वाला ईसाई-धर्म जो एक यहूदी जेसस के मस्तिष्क की उपज है, जरमनी के तेज को राख दन कर ढके है। वह अन्तरंग मित्रो से कहा करता था कि जेसस क्राइस्ट किसी विगडे दिल रोमन सैनिक की सन्तान है, जिस ने कुमारी मेरी के साथ वलात्कार किया था, क्योकि इतना वडा व्यक्ति विना आर्यरक्त का सम्मिश्रण पाये और कैसे पैदा हो सकता है ? इसी से वह कैथोलिको का स्पष्ट विरोधी तो नही था, पर घोर उपेक्षा और खीझ से देखता था। यह वहुत कुछ वैसे ही था जैसे आज भारत के कुछ राजनीतिज्ञ हिन्दू धर्म के वारे में सोचते है। विरोध नही, पर घोर उपेक्षा, खीझ और वेगानेपन के साथ। ईसाई मत की मूल शाखा है कैथोलिक धर्म और उपासना पद्धति तथा कल्पना-प्रवणता में यह हिन्दू धर्म के बिलकुल समानान्तर चलता है। दरअसल ईसा या जेसस का तो नाम भर चलता है। इस धर्म की असली स्थापना, व्याख्या, आदि संघटन और वाइविल का आदि सम्पादन तो सेण्टपाल नामक ईसा के ग्रीकवंशीय शिष्य के द्वारा हुआ है और इस धर्म की सास्कृतिक विरासत मिली ग्रीक-रोमन सभ्यता से जो आर्य-सभ्यताएँ थी। इसी से हिन्दूधर्म से इस की काफी समानता है। सन् १९४६ में जरमनी की वागडोर इन्ही कैथोलिक नेताओ के हाथो में आयी जो नाजी शासन में जेल भोग चुके थे। स्वयं आडेनावर पचास वर्ष की उम्र में हिटलर के शासनकाल में जेल में थे। जरमनी की पराजय के वाद ऐंग्लो-अमरीकी धुरी के शासको ने कुछ लेखको को जरमनी की मनोगति और नाडी को टटोलने के लिए जरमनी भेजा था। उस का वर्णन मिलता है स्टीफेन स्पेण्डर की पुस्तक 'यूरोपियन विटनेस' में, जिस का एक लम्बा उद्धरण वांग्ला लेखक सैयद मुस्तफा अली ने अपनी पुस्तक 'राजा-वजीर' (पृष्ठ ७०) में दिया है। आडे-नावर ने स्पेण्डर को जो वात वार-वार जोर दे कर कही, वह वात थी : "जरमनी की कल्पना शक्ति खण्ड-खण्ड हो गयी है। उस का आत्मिक जीवन

घायल है। कल्पना-शक्ति को पुन' लौटाना है। जरमनी की आस्था और सस्कृति को पुन. निर्मित करना है।" कोलोन आडेनावर का अपना नगर था जो युद्ध की मार से क्षत-विक्षत हो चुका था। आडेनावर के अपने शब्द है—"तुम ने देखा नही कि नाज़ियों ने अपने 'शासनकाल में जरमन सस्कृति' को भी वैसे ही खण्डहर बना डाला है जैसे राइनलैण्ड और रूर के बीच की 'जरमन भूमि' को? नाजी शासन के पन्द्रह साल में जरमनी 'आध्यात्मिक' दृष्टि से एक रेगिस्तान (स्पिरिचुअल डेज़र्ट) बन गया है। यह आध्यात्मिक ध्वस ऊपर से नही दिखाई देता। यह भीतर-भीतर घटित होता है। अत इस आत्मिक ध्वंस की ओर भौतिक ध्वस से कही अधिक ध्यान देना है। जरमनी आध्यात्मिक मूल्यो का प्यासा हुआ है।" और इसी से आडेनावर को मूल चिन्ता रही—"कल्पना को पुन लौटाना है।" सम्भवत आडेनावर को ग्येटे के 'फास्ट' का सबक याद था। पर हमारे लोक-नायको में जो श्रेष्ठतम थे उन्हें तो ज्ञात ही नही था कि महाभारत का सावित्री-श्लोक क्या है। फलत सविधान में रखे गये मौलिक आदर्श आज तिकडमबाजी के चक्के में पिस कर विरूप हो रहे हैं। राजा से ले कर प्रजा तक सभी उन आदर्शों का अग-भग अपनी सुविधा के अनुसार कर रहे हैं। सारा राष्ट्र एक त्रिशकु की तरह अनिश्चय के वातावरण अर्थों की युक्तिबाजी के मध्य भकुआ बना खडा है। ऐसे में क्षमता भले ही मुट्ठी में आ जाये राष्ट्र का न तो भौतिक निर्माण होगा और न नैतिक।

अत. इस देश में धर्म को अस्वीकृत कर के धर्मनिरपेक्षता की जगह धर्महीनता और देश-निरपेक्षता दोनो को बढावा दिया गया है। एक ओर तो धर्म-हीनता के कारण नैतिक आचरण और शीलाचरण का महत्त्व ही समाप्त होता जा रहा है और दूसरी ओर देशी संस्कृति, देशी भाषा और देशी चिन्ता पद्धति जिसे कभी-कभी हिन्दू विशेषण भी दिया जाता है, निरन्तर तिरस्कृत की जाती है। बडे ही अप्रत्यक्ष तथा सूक्ष्म ढग से यह ट्रेजडी

चल रही है। इस को मेरे जैसे महत्वहीन व्यक्ति ही नही बल्कि अनेक महत्त्वपूर्ण चिन्ताशील व्यक्तियो ने भी, जिन मे डॉ० राममनोहर लोहिया और श्री रामधारी सिंह दिनकर जैसे व्यक्ति हैं, चिन्ता के साथ एकाधिक स्थलो पर व्यक्त किया है। इस देश की आत्मा ही धर्म की जमीन से उपजी है और उस जमीन से उखाड अन्यत्र आरोपण से पौधे का जीवन खतरे में पड सकता है। क्या इस देश के अशोक और कनिष्क, विक्रमादित्य और हर्षवर्धन, शेरशाह और अकबर, मुहम्मदशाह और दक्षिण के टीपू सुलतान से ज्यादा सम्प्रदायगत समदर्शिता वर्तमान शासको में है ? श्री नेहरू ने इस देशी पैटर्न पर अपनी 'सम्प्रदाय-समदर्शिता' को क्यो नही विकसित किया ? जिस किस्म की नकारात्मक सुविधावादी ईश्वर-निरपेक्ष धर्मनिरपेक्षता की व्यवस्था हमारे यहाँ है वैसी कम्युनिस्ट देशो और स्विटजरलैण्ड को छोड कर अन्यत्र कही भी नही। इगलैण्ड, अमरीका, पश्चिम यूरोप, जापान, अरब राष्ट्र आदि कही भी नही। और डॉ० राधाकृष्णन् एव के० एम० मुशी आदि नेताओ की व्याख्याओं के बावजूद व्यवहार में भी यह धर्म के प्रति वही नकारात्मक रुख ले कर चलती है। इस में विकसित हुई नयी पीढी आपाद मस्तक नकारात्मक पूर्वग्रहो से आभूषित हो कर चल रही है और नकारात्मकता का ही उसे गर्व भी है। यह स्थिति हमारी कल्पना-शक्ति और आत्मिक उत्तराधिकार के लिए खतरा है।

अब उपासना अर्थात् धर्म के बाद, कल्पना की दूसरी अभिव्यक्ति साहित्य के ऊपर भी थोडा विचार कर लें। जैसे उपर्युक्त सन्दर्भ में भारतीय राजनीतिज्ञ की भूमिका निराशाजनक रही है वैसे ही या उस से कुछ ज्यादा निराशाजनक भूमिका भारतीय साहित्यकार की है। 'परधर्मो भयावह '। पर साहित्यकार अपना साहित्य धर्म छोड कर गैर-साहित्यिक अपकर्मो में जा कर नाम-यश लूटने लगा है और जो काम पैम्फलेट या सम्पादकीय टिप्पणी से होना चाहिए उसे वह काव्य, उपन्यास और ललितकला का रूप देने लगा है। खर को अरगजालेपन, मर्कट को भूषण, गज

को सरिता-स्नान और स्वय को विदूपकत्व। यही उस का कृतित्व रहा है और वह ऐसे माल के साथ, वडे-वडे नारो का ट्रेड मार्क दे कर साहित्य में राजनीति की और राजनीति में साहित्य की दुकान चलाने को उद्यत है। यह भी कोई बुरा नही। वैष्णवो ने भी साहित्य में धर्म की दुकान चलायी थी। परन्तु यहाँ पर दो फर्क हैं। एक तो यह कि धर्म की दुकान का आधार है अनादि-अनन्त ईश्वरीय सत्ता, जब कि राजनीति की दुकान का आधार है दो दिन का पार्टी-वॉस। और दूसरी वात यह कि वैष्णवो ने साहित्य में धर्म की दुकान चला कर उस में चोरबाजारी नही की। परन्तु साहित्य में राजनीति की दुकान का आदि से अन्त काला वाजार ही है। क्योंकि इस में आदर्श के नाम पर सोफिस्ट्रीकाजिस्ट्री का छल-छन्द खूब चलता है। इस समूचे पण्ड श्रम के भीतर राजनीतिक पूर्वाग्रह से मुक्त दस-वीस उत्तम कृतियाँ दिनकर, वच्चन, अज्ञेय, मुक्तिवोध, नरेश मेहता, धर्मवीर भारती, रेणु आदि (मैं हिन्दी की ही वात कर रहा हूँ) के द्वारा लिखी गयी है, वे भी वही और उन्ही स्थलो पर उत्तम हुई हैं जहाँ कल्पना की शक्ति, और ईश्वर, नारी और प्रकृति को स्वीकृत किया गया है। शेष में या तो कल्पना की तीन सहज भूमियो ईश्वर, नारी और प्रकृति को क्षत-विक्षत कर के नोचने की चेष्टा है अथवा कल्पना का एकदम तिरस्कार है। इस स्थिति का चरम रूप अ-कविता अ-कहानी के नाम पर साठोत्तरी में प्रस्तुत हुआ है जिस की एक ही थीम है दुर्गन्ध, कदर्यता और कुत्सा के प्रति घोर रोमैंटिक आकर्षण। यह आत्मिक रिक्तता की सूचना है।

कल्पना भूमा की ओर ले जाती है—विस्तार, विस्तार, अनन्त विस्तार। मुझे विस्तृत करो, मुझे व्यापक करो, मुझे पख दो, मुझे विन्दु में मत कैद कर के रखो, मुझे रीति में मत वद्ध कर के रखो, मुझ में विस्तृत और व्यापक होने की महत् तृपा है। यह है भूमा की प्यास। आत्मशक्ति से समृद्ध मनुष्य का लक्षण है यही भूमा वृत्ति। कल्पना एक

ओर तो इस तृषा को विस्तृत करती है दूसरी ओर इस के लिए तृषा-तोष को मानसिक-बौद्धिक भूमिका भी रचती है। साहस, अभिमान और प्रेम—ये तीन सहज जीवन की सीमा के भीतर, कल्पना की उपलब्धियाँ है। और इस के परे भी एक उपलब्धि है आनन्द। सन् ३० के वाद के लेखको ने कितना साहस, अभिमान, प्रेम और आनन्द की 'सहज' उपलब्धियो का साहित्य लिखा है और कितना इन के 'असहज भोग' और मोहभंग का ? सच तो यह है कि प्रकृति, नारी और ईश्वर को इनकार कर देने पर कल्पना हम को साहस, अभिमान, प्रेम और आनन्द की उपलब्धि कराने में असमर्थ हो जाती है। ऐसी अवस्था में वह पखहीन और विकलाग रहती है। परन्तु उलटे-सीधे, दवी जवान से या गलदोदई-सीनाजोरी से नया साहित्यकार जो कुछ कहता रहा है उस का अर्थ घुमा-फिरा कर यही होता है कि ईश्वर, प्रकृति और नारी में आसक्ति रोमैंटिकता है, पुनरुत्यानवाद है और प्रतिक्रियावाद है। मनुष्य की, समाज की, सृष्टि की अर्ध सत्ता या खण्ड सत्ता का वरण ही उस की दृष्टि में प्रगतिशीलता है। इसी को वह 'प्रतिवद्धता' (कमिटमेंट) कह कर वेच रहा है।

मुझे चाहे जो सजा मिले पर मैं तो जन्म से ही चैत्ररथी हूँ, नाम से, स्वभाव से और निष्ठा से। मैं वारवार यक्षो के चैत्ररथ उद्यान में कल्पना का हाथ पकड कर प्रवेश करता हूँ, वारवार अलका के उपकण्ठ में जा कर मुझे सुख मिलता है क्योकि ईश्वर, नारी और प्रकृति—इन तीनो में, मेरी घोर आसक्ति है। चैत्ररथ अलका के उपकण्ठ ('सब्र-अर्व') का वाह्योद्यान है जहाँ धूर्जटी के शीश से नित्य ज्योत्स्ना की आलोक धारा सदैव निरन्तर प्रवाहित रहती है ('वाह्योद्यान-स्थित-हरशिरश्चन्द्रिका-धौत-हर्म्या")। आत्मा-निरपेक्ष भौतिक जीवन-दर्शन की जी-हुजूरी और लोग करें, मैं तो वस चण्डीश्वर का ही यस-मैन', 'जी-हुजूर' रहूँगा जिन में प्राचीन 'रसो वै स.' से ले कर अमरीकन आधुनिकता के टॉपलेस-वॉटमलेस लक्षणो तक का समाहार है। ऐसे दरवार को छोड़ पर अन्यत्र मैं सपने

के लायक हो नही। विलकुल नालायक, व्यर्थ, निरर्थक होते हुए भी कल्पना का सहयोग पा कर कविगुरु के श्लोको के मध्य विचरते हुए अलका की नित्य शृगार-भूमि का रस-रूपगन्ध प्राप्त कर लेता हूँ। इसी से मैं निष्ठा-पूर्वक कल्पना की नित्य भूमियाँ चैत्ररथ और अलका से प्रतिबद्ध हूँ। यह मेरी प्रतिबद्धता मेरे पच-कचुक पुरुप-अस्तित्व से, अर्थात् आत्मा-मन-देह-देश-इतिहास नामक पाँच समकेन्द्रिक वृत्तों के भीतर एक साथ अस्तित्त्वमान मेरे व्यक्तित्व से, अग-प्रत्यग अविच्छेद्य रूप से समरस हो गयी है।

वास्तव में, कविकुल गुरु ने 'मेघदूत' में अलका का चित्र इतना सकेत-पूर्ण कर दिया है कि प्रथम पाठन में ही वह प्रतीक का रूप ग्रहण कर लेती है। जॉन कीट्स अपने 'ओड टु नाइटिंगल' में कल्पना के रोमैंटिक सौन्दर्य-लोक का चित्र प्रस्तुत करता है जो दुखो और विकारों से परे है। कालि-दास की अलका भी वैसे ही एक कल्पना-लोक की प्रतीक है। 'अलका' का अर्थ ही है जो आँखों से अलक्ष्य हो, पर जो मन के ध्यानलोक में नित्य प्रत्यक्ष हो। अत मेघदूत को यदि एक प्रतीक काव्य मानें तो अलका मन के भीतर 'कल्पनालोक' का प्रतीक है और उस से कुछ ऊर्ध्व स्थिति पर 'शुद्ध बुद्धि' (तर्क बुद्धि नही 'प्योर रीजन') का प्रतीक कैलास है। ये दोनों परस्पर सयुक्त प्रतिवेशी मनोभूमियाँ हैं। अलका चतुर्थ पुरुषार्थ सौन्दर्यबोध की भूमि है और कैलास पचम पुरुषार्थ 'मोक्ष' की। वैष्णवो ने अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष के बाद कृष्णप्रेम को पचम पुरुषार्थ कहा है। पर मैं भरत मुनि का शिष्य हूँ अत मेरी समझ से पाँच पुरुषार्थ होते हैं अर्थ-काम-धर्म, सौन्दर्यबोध और मोक्ष। प्रथम तीन का सम्बन्ध वास्तव-जगत् या लोक से है और अन्तिम दो का सम्बन्ध परा-वास्तव या लोकोत्तर से। सन्देशवाही मेघ 'वास्तव' भूमि की उपज है पर उस की महायात्रा है 'परावास्तव' की भूमि यक्षलोक और शिवलोक की ओर। मेघ मन के समुद्र से उठी कामना या भावोच्छ्वास है और

यह कल्पना की अलका में जा कर काम-तृप्त होता है, जहाँ 'वास्तव' लोक की रूप कन्याएँ ही रूपान्तरित हो कर नित्य सौन्दर्य का प्रतीक बन जाती हैं, जहाँ विरोध, अवरोध और कामना-दमन का कोई भय नहो, जहाँ शिवलोक के सान्निध्य में पहुँच कर मन एक उदात्त अनुभव की नित्य ज्योत्स्ना में स्नान कर के अपूर्व हो उठता है। सारा 'मेघदूत' ही काव्यानुभव की इस प्रक्रिया, इस ध्यानयोग का एक अपूर्व उद्घाटन है। यक्ष कामलोलुप जाति है और यक्षिणी अतृप्त लालसा का प्रतीक मानो गयी है। परन्तु कालिदास के मेघदूत में वाह्योद्यान चैत्ररथ में नित्य निवास करने वाले शिव के शीश से प्रवाहित सतोगुणी ज्योत्स्ना की धवलधारा इस यक्ष-लोक को निरन्तर प्रक्षालित कर रही है, निरन्तर इस को अतृप्ति और अवदमन के विष का परिहार कर रही है। इसी से कालिदास की अलका शान्त, शुद्ध, विष-रहित, उदात्त सोन्दर्यबोध का प्रतीक है। इस में कल्प-वृक्ष नामक इच्छा-तरु है जो सारी इच्छाओ का मण्डन अकेले प्रस्तुत कर देता है, पहनने के लिए चित्रसारी या चित्र-दुकूल ("वासश्चित्र . " उ०मेघ', श्लोक १३) नयन-विभ्रम के लिए मदिरा, अलंकरण के रगोन बारहमासी फूल, चरणो के लिए लाक्षा राग इत्यादि इच्छा मात्र से ही इस के द्वारा प्रस्तुत हो जाते हैं। सृष्टि को सारी ऋतुओ की एक साथ सहस्थिति अलका में है। इसी से प्रत्येक ऋतु के पुष्प इस में सदैव लभ्य है क्योंकि काल-विधान यहाँ आ कर रुक गया है, समय 'स्टैण्ड स्टिल' है। अलका की लीलावधू का शृंगार बसन्त-वर्षा-शरद्-हेमन्त आदि सभी ऋतुओ के पुष्पो द्वारा एक ही साथ होता है।

"हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुविद्धं
नीता लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामानने श्रो ।
चूडापाशे नवकुरबक चारुकर्णे शिरीष
सीमन्ते च त्वदुपगमज यत्र नीप वधूनाम् ॥"

—(उत्तर मेघ । २)

"यत्रोन्मत्तभ्रमरमुखरा पादपानित्यपुष्पा
हसश्रेणिरचितरशना-नित्यपद्मानलिन्य ।
केकोत्कण्ठो भवनशिखिनो नित्यभास्वत्कलापा
नित्यज्योत्स्ना प्रतिहततमोवृत्तिरम्या प्रदोपा ॥"

—(उत्तर मेघ । ३)

इस श्लोक को अन्तिम पंक्ति "नित्यज्योत्स्ना प्रतिहततमोवृत्ति-रम्या प्रदोपा" 'पूर्व मेघ' के अन्दर व्यक्त 'नित्य ज्योत्स्नालोक' के सकेत ("वाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या") को स्पष्टतर करती है। इस से स्पष्ट हो जाता है कि कवि चैत्ररथ और अलका को विधिनिषेधमुक्त, देशविधान और कालविधान से परे, इच्छा-तरुओं की सुजलाम्-सुफलाम् रम्य भूमि के रूप में देखता है। अत अलका मधुर रतिफल का लोक है, सुनहली रेत में यक्ष कन्याओं के साथ मणिक्रीडा का लोक है, मन्दार पेड़ों की शीतल छाया में 'सगपरस सुधा' का लोक है, शुक्लाभिसार में चलने वाली अभिसारिकाओं का लोक है, सक्षेप में कल्पना के मूल प्रतीक तरु कल्पवृक्ष का लोक है। अपनी ही लौकिक धरती के हवा-पानी से जन्मा हुआ मेघ इस कल्पनालोक में जाता है नित्यसौन्दर्य को मन का सन्देश देने, उस के साथ साक्षात्कार करने। लोक में जन्मी कामना अपनी चरम उप-लब्धि पाती है लोकोत्तर मनोभूमि में प्रवेश कर के। यह एक नित्य यात्रा है, एक आकाश-सिद्धि है, एक महापथ है जिस पर कवि और मेघ दोनों साथ-साथ चलते हैं। अब मेरे मित्र मुझ से कहेंगे, 'हाँ सब ठीक है, उस लोक में मेघ जा सकता है, कवि जा सकता है पर, यार, तू कैसे वहाँ जायेगा—अरे तू तो गद्य-काक है और अलका में कौए नहीं बसेरा ले सकते। वहाँ तो लीला-शुक, क्रीडा-मयूर, कथा-कुशल सारिका और प्रेमी कपोतों का ही वास है। तू भला कर्ण-कटु गद्य-काक कैसे जायेगा?' भाई, इसी से तो कहता हूँ कि मैं चैत्ररथी हूँ। अलका के उपकण्ठ में स्थित चैत्र-रथ के अन्दर देवदारु की छतनार शाखा पर जा बैठूँगा, और वहीं पर

मेरा बन्धु नील विहंग आ कर मुझे अलका का सारा संवाद दे जायेगा। मैं गद्य-काक होते हुए भी चैत्ररथी गद्य-काक हूँ। पार्वती के शाप से एकाक्ष हूँ। पर किसी की दो आँख और न मेरी अकेली एक। अतः सब कुछ देखसुन लूँगा।

o

किरण सप्तपदी

मनोवैज्ञानिक कहते है कि मर्द स्वभाव से ही 'पालीगेमस' अर्थात् वहुवल्लभ होता है, और सामाजिक व्यवस्था और शान्ति के लिए उन का स्वय-आरोपित एकपत्नीव्रत एक वहुत वडा त्याग है। और, यद्यपि मेरा नाम परशुराम, हनुमान्, भीष्म आदि वडे-वडे शरीफो की पाँत में नही आता तो भी मैं इस दृष्टि से किसी से कम त्यागी नही। परन्तु मैं इस त्याग की क्षतिपूर्ति करता हूँ प्रकृति और कविता के माध्यम से, इसी से इस वसन्त-सम्पात के महालग्न के अवसर पर मैं ने प्रात रश्मि की तरुण किरण के साथ यारी वाँधी है। पर मैं यार ही हूँ जार नही। हरेक वान्धवी प्रेमिका नही होती, इस तथ्य का अनुभव तो अव आधुनिक परि-वेश में रहने वालों को हो ही गया है। सिर्फ सग-परस-सुधा, बस यही पर पूर्ण विराम है। यह प्रेम नही, यह पूर्वराग नही, यह मानसरमण भी नही, यह महज़ पारस्परिक कोमलता है। निस्सन्देह यह एक तरह का भोग ही है। परन्तु इस में चित्त पर भार नही पडता, इस में कामज्वर या परस्पर-आकन्द्रिनि चक्रवाक'-वृत्ति को कोई स्थान नही। वल्कि यह एक निर्मल मानसिक स्वास्थ्य का स्रोत है। अपने चरम रूप में यह अनुकम्पा तक जाता है। सभ्यता जिस रूप से जिस दिशा में, विकासमान हो रही है उस में वैयक्तिक अधिकार-लिप्सा किसी भी क्षेत्र मे नही रह जायेगी, और प्रेम के क्षेत्र में भी यह दैनन्दिन न्यून होती जायेगी। उस अवस्था में प्रेमिका-भाव का ह्रास होगा और वान्धवी-भाव स्पष्टतर होता जायेगा। खैर, ये सब बातें तो आगे की हैं। अभी तो हम वैयक्तिक अधिकार

लिप्सा को, जिस का ही एक छद्म चेहरा है साम्यवाद, तुमुल-धुन्धुमार-स्थिति में जी रहे है। और, मैं सारी दुनिया की आँख बचा कर शृंगार रस की एक अत्यन्त निर्दोष निष्पाप अनुभूति का प्रतिप्रात तरुण किरण के साथ सात पग चल कर, आस्वादन कर रहा हूँ। मानो तो यह भी एक तरह की सप्तपदी ही है।

आज का अपना अनुभव सुनाऊँ? फाल्गुन के पूर्व पक्ष की अन्तिम रात, अर्थात् अमावस्या को त्रियामा वीत चुकी है। अन्तिम अर्धयाम चल रहा है। सीधे हिसाव से तो रात्रि को चतुर्यामा होना चाहिए। परन्तु प्रारम्भ का अर्धयाम और अन्त का अर्धयाम कर्मसकुल होने के कारण यामिनी के अग नही माने जाते। इसी से रात को 'त्रियामा' सज्ञा मिली है। तो, मैं जिस मुहूर्त की वात कर रहा हूँ यह त्रियामा के अनन्तर, अरुणोदय-पूर्व के अर्धयाम में स्थित है। मैं विस्तर पर चुपचाप लेटा हूँ। सवेरे कुछ ठण्ड लगती है, अत. रजाई में दुवक कर अकेले-अकेले पडा हूँ तरुण किरण के आगमन के आभास की प्रतीक्षा में। इस आभास का नाम है 'नीलारुण'। अन्धकार को काटता हुआ अन्धकार के ही रोम-रोम से उद्भासित एक मद्धिम प्रकाश। अमावस्या के गर्भ में प्रकाश सम्भावना के रूप में निहित रहता है, चन्द्रकला की क्षीणतम रेखा सम्भावना के रूप में, वीज के रूप में अमावस्या के हृदय में सदैव वर्तमान रहती है। शास्त्रो में चन्द्र की इस कला को 'सिनीवाली' कहा गया है। शत प्रति शत अमा-निशा को 'कुहू' कहते हैं और शत प्रति शत ज्योत्स्ना को 'राका'। कुहू और राका दोनो निपाद-भापा के शब्द है जो इस भारत भूमि की आदि भापा है। द्रविडों से भी पूर्व गगा की घाटी में मानवीय सभ्यता का वीजारोपण निपादो ने किया था। मध्य प्रदेश की अनेक जनजातियाँ इन्ही की वंशज हैं, यथा कोल-मुण्डा आदि आस्ट्रिक भापा वर्ग के लोग। परन्तु असली 'कुहू' और असली 'राका' कभी घटित नही होती। 'कुहू' के गर्भ में प्रकाश की 'सिनीवाली' अन्तर्निहित है और 'राका' के गर्भ में

अन्धकार 'अनुमती' बन कर निहित है। यही तो भारतीय चिन्ता की वैज्ञानिक खूबी है कि वह असलियत को अस्वीकार नही करती, और तम के हृदय में ज्योति और ज्योति के गर्भ में तम का बीज मान कर चलती है, जहां तक कि इस माया-जगत् या प्राकृतिक सृष्टि का प्रश्न है। हाँ, इस माया-जगत् या प्राकृतिक सृष्टि से परे एक शत-प्रति शत ज्योतिर्मयी सत्ता अवश्य है। उसे चाहे जो सज्ञा दें अपनी तबियत के अनुसार। अत जब नीलारुण देख कर मुझे लगता है कि तम के रोम-रोम से प्रभा उद्भासित हो रही है, गोया वह भीतर ही भीतर रात भर अवरुद्ध-निरुद्ध थी और अब अग-अग से फूट कर सहस्र किरणो से बाहर निकलना चाहती है तो मुझे उपर्युक्त दार्शनिक धारणा का प्रत्यक्ष प्रमाण मिल जाता है। यों इस तरह भी फाल्गुन-चैत्र की माधवी अमावस्या घनघोर 'कुहू' नही होती। आसमान साफ रहता है। ऊपर निर्मल प्रसन्न छायापथ में तारामों के दीप टिमटिमाते ही रहते है। फिर भी वे दूर के दीपक हैं। अपने अगल-बगल के अन्धकार द्वारा निर्मित एकान्त को वेधने में असमर्थ रहते हैं। उन्हें देख कर ढाढस बंधता है। पर उन्हें मदद के लिए पुकारा नहीं जा सकता। वे इतने दूर जो हैं। अत इस अन्धकार के मधुकैटभ से अकेले-अकेले रात भर बाहुयुद्ध मुझ गुडाकेश को ही करना पडता है। और तब अन्धकार के मधुकैटभ मेरी वीरता पर मुग्ध हो कर स्वयं पराजित हो जाते हैं और नीलारुण या 'झलफला' (भोजपुरी में 'अँधेरे मुँह' या 'झलफला' चलता है) आ जाता है। इस नीलारुण के बीतते-बीतते हमारी सप्तपदी का दूसरा पग आयेगा 'अरुणोदय'। तब मैं शैय्या त्याग कर अपनी किरण लक्ष्मी के आगमनी-लग्न का स्वागत करूँगा।

धीरे-धीरे अरुणोदय आता है। मैं अपनी किरण लक्ष्मी की आगमनी का काव्य मन ही मन सुन रहा हूँ। आदिम ऋषि ने मन्त्र-मुग्ध हो कर कहा था 'पश्य देवस्य काव्यम्'—देखो, यह अरुणोदय ही देवता की कविता है। इस कविता को देखो। इसे मनुष्य रच नही सकता, इस का

प्रातिभ ज्ञान मात्र पा सकता है। यह रचने की नही देखने और आस्वादन करने की चीज़ है। यह महाछवि का दर्पण है। इसे देखो और अपने दर्प का परिहार करो। तुम जो एक पत्ता नही उगा सकते, एक फूल नही फुटा सकते, एक गेहूँ का दाना रच नहीं सकते, एक साँस नही पैदा कर सकते, क्या घमण्ड किये बैठे हो ऐटमबम और चन्द्र-अभियान का ? यह सब घर-घरौंदा है। इस महाछवि को देखो, नत-विनत और विनयी बनो, मनुष्य बनना सीखो, मनुष्य बनना चन्द्र-विजय से लाख गुना कठिन सिद्धि है। मैं उठ बैठता हूँ और रुद्ध वातायन खोल देता हूँ। सारा वासन्ती आकाश मंगलमय, कुकुम वर्ण, अरुण हो उठा है। रक्तरजित अरुण नही, राग-रजित अरुण। यों 'रक्त' शब्द का भी शाब्दिक अर्थ है 'रजित किया हुआ' और बगला असमिया में 'रांगा' (रगीन) शब्द का अर्थ होता है 'लाल'। परन्तु 'रक्त-लाल' उदास-झाँवर होता है। यह देखने से ही आदिम, क्रूर, क्षुधापरक और अशुभ लगता है। इस के विपरीत 'रागारुण' अपने गुलनार और कुसुम्भी दोनो आभाओ में मगल, सौभाग्य तथा लालित्य का सूचक लगता है। कुकुम वर्ण कुसुम्भी का ही एक प्रगाढ रूपान्तर है। इस के अतिरिक्त लाल का तीसरा ठण्डा रूप भी है गुलाबी या पद्मकान्ति। इन तीन मुख्य रूपो के ही कोमल, तीव्र, श्यामाभ या पीताभ रूपान्तरों से अनेक और किस्में बनती हैं। यों लाल रग हमारा राष्ट्रीय रंग है। सिन्धु घाटी की सभ्यता से ले कर आज तक इसे हम ने प्राण, स्नेह, ज्ञान, वाक् और सौभाग्य का प्रतीक मान कर ग्रहण किया है। उषा सूत्र से ले कर 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' तक क्या नयी भोर के 'बावरा अहेरी' तक का साहित्य इस का प्रमाण है। परन्तु जिस तरह से नाज़ियो ने हमारे पुरुषार्थ और वाङ्मय के प्रतीक 'स्वस्तिक' को छू कर अपवित्र कर दिया, वैसे ही हमारे अरुण वर्ण को कम्युनिस्टो ने स्पर्श कर के अपावन कर दिया। ये दोनो नाज़ी और कम्युनिस्ट मौसेरे भाई हैं और दो चोरों की तरह इन में प्रगाढ

बन्धुत्व और प्रगाढ दुश्मनी दोनो रही। पर हैं ये दोनों उन समान सस्कारों के पुतले, जिन्हें फासिस्टवाद कहा जाता है। दोनों को आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व यानी आत्म-स्वातन्त्र्य अस्वीकार है, एक को 'जाति' के नाम पर, दूसरे को वर्ग के नाम पर। दोनों मानते हैं कि जो हमारे अन्तर्गत नही वह 'हेरेटिक', 'काफिर' या 'प्रतिक्रियावादी' या 'दुश्मन' है। दोनो की कार्य-पद्धति गुप्त और प्रत्यक्ष दोनो स्थितियों में बिलकुल एक सी है। दोनों का मानववाद 'खण्डित' या 'अधूरा मानववाद' है, क्योंकि जो तटस्थ है उसे इस मानववाद में कोई हिस्सा नही। दोनो की चिन्तन-पद्धति भौतिकवादी सेक्यूलरिज्म है। दोनो मनुष्य की शान्तिकामी विशेषताओं यथा दया, करुणा, उदारता, कोमलता, प्रेम, सौन्दर्यबोध को कमजोरी मानते हैं और कर्मकामी विशेषताओ यथा साहस, सघर्षशीलता, परिश्रम, उत्पादन क्षमता को ही मानवीय गुण या सद्गुण मानने को तैयार है। दोनो की शासन-पद्धति, सस्कृति-चिन्ता और सामाजिक-दृष्टि भी बिलकुल एक सी है। दोनो की क्षमता का आधार घृणा की तेज धार है जिसे नित्य प्रति खरशाण चढा कर तेज करने के लिए कोई न कोई बहाना रोज बनाते रहते हैं। सब से बढ कर दोनो मानते हैं 'देह ही आत्मा' है। मेरा दृढ विश्वास है हरेक भौतिकवादी सेक्यूलरिस्ट अन्त में जा कर फासिस्ट हो जाता है और इस के विपरीत सच्चा आत्मवादी कभी भी फ़ासिस्ट नही हो सकता। यही कारण है कि गान्धी जी डिक्टेटर होते हुए भी फासिस्ट नहीं थे, क्योंकि वे भौतिकवादी सेक्यूलरिस्ट नही थे। सेक्यूलरिज्म एक नकारात्मक सिद्धान्त है। गान्धी ने बडे साहस के साथ अपनेआप को आदि से अन्त तक ईश्वरवादी और आत्मवादी रखा। जैसे सच्चे 'असल-ख़ून वाले' नाज़ी या कम्युनिस्ट का कर्तव्य है कि हरेक को जो उस के साथ नही, दुश्मन और श्रेणी-शत्रु माने, वैसे ही सच्चे ईश्वरवादी का भी कर्तव्य है कि सारे प्राणियों को 'अपना' समझे और सब से समदर्शिता रखे। इन सारी समानताओ में एक

समानता और जोडी जा सकती है कि दोनो ने क्रमशः दो विशिष्ट भारतीय प्रतीको, स्वस्तिक और अरुण वर्ण को स्पर्श कर के समान रूप से अपावन कर दिया। नाजीवादी तो इतिहास मे गया। परन्तु यह कम्युनिज्म अपने चरम हिंसक और मानव विरोधी रूप में साठोत्तरी के अन्दर और अधिक व्यापक हो चुका है। इस के एक प्रसिद्ध नवीनतम दार्शनिक हार्बार्ट मारक्यूज ने मार्क्सवाद और अराजकतावाद का अद्‌भुत सम्मिश्रण तैयार कर के जिस नव्यमार्क्सवाद को दुनिया भर में बाँटा है उस के अनुसार हिंसा दो तरह की होती है। प्रतिक्रियावादी हिंसा, जो शासक या बूर्जुआ समाज क्रान्तिकारियो पर करता है। और, क्रान्तिकारी हिंसा, जो क्रान्तिकारी युवा अपनी ऐतिहासिक भूमिका अदा करने के लिए करते है। दोनो हिंसाओ को एक ही कसौटी पर नही आँका जा सकता और जो क्रान्तिकारी हिंसा का विरोध करते है वे भी प्रतिक्रियावादी और श्रेणी-शत्रु ही है। इस भ्रष्ट [illegible] तर्क का कोई युक्तिपूर्ण उत्तर नही।

अचानक मुझे स्मरण होता है कि मैं तरुण [illegible] का स्वागत करने बैठा हूँ और कर रहा हूँ कुछ और। यह तो मेरे पूर्वराग का क्षण है, कदम्ब-रोमांच का क्षण है, रोमांच पल्लवित तन और पुलकित मन रहने का क्षण है। पर मैं तो राजनीति के बरसाती गोबर में घूम रहा हूँ। संसार में बरसात के सड़े पच-पच गोबर से [illegible] और क्या [illegible] होगा? और सारी व्यावहारिक राजनीति इसी [illegible] का वर्णन है। [illegible] इस से तो अच्छा होता कि 'रामायण' [illegible], या हो सकता तो [illegible]

उचकता हूँ ? फिर, जो हुआ सो हुआ अब तुम्हें कोशिश करनी चाहिए कि
आगे दिन [illegible] के मेलों के साथ का [illegible] अर्धोदय के [illegible]
से स्नान न हो जाये, अन्यथा आज दिन भर खाना नहीं मिलेगा। यह
सोचते ही एक दूसरे [illegible] [illegible]-पिपासी [illegible] में कोई नहीं
और मैं [illegible] और [illegible] ही [illegible] पूर्व में [illegible] पर
'जपाकुसुमसंकाशं काश्यपेयं महाद्युतिं' का [illegible] अनुभूति
होने लगा और मैं इस अपूर्व दृश्य को देख कर [illegible] और [illegible]
अनुभव करने लगा। जैसे-जैसे [illegible] चक्र ऊपर उठता गया, मेरी आत्मा
का तम-भार हल्का होता गया, बुद्धि साफ होती गयी और मन प्रफुल्ल
होता गया। मैं ने अपने को भीतर-भीतर स्वच्छ और निर्मल अनुभव
किया। सूर्य सचमुच ही प्राण और [illegible] का स्रोत और [illegible] है।
यह 'सूर्योदय' हमारी यात्रा का तीसरा पद रहा।

खिलखिलाते बच्चे जैसा प्रसन्न और साफ-सुथरा प्रभात। अरुणचक्र
सामने है, परन्तु किरण अभी भी अवरुद्ध है। इसी अरुणचक्र के हृदय
में वह छिपी हुई है। कुछ क्षण बाद ही इस के अंग-प्रत्यंग से प्रस्फुटित
हो कर सारी धरती पर छा जावेगी। स्मृति के मग्न चैतन्य में डूबा मेरा
अन्नप्राशन-पूर्व का शिशु-बोध अचानक उतराता हुआ तल पर आ गया
और किलक उठा, ओह, कितना अच्छा लाल-लाल है, तबीयत होती है कि
इस चक्के को हाथ में ले लूँ और उलटूँ-पलटूँ; ओह तब कितना अच्छा
लगेगा ! इतना बड़ा, इतना अच्छा लाल चक्का उलटने-पलटने में कितनी
मौज है ! मैं तीसी के उत्तरार्ध-टार खड़ा हूँ और अपने ही मन में अपनी
शिशु-वार्ता सुन कर मुझे हँसी आ गयी। अब अरुण चक्र तेजी से चढ़ते
हुए ऊपर आ गया है। अब उस का वर्ण अग्नि-भास्वर होता जा रहा है।
चारों ओर साफ-सुथरा दिवस जन्म ले चुका है। हरेक चीज साफ़-साफ़
नजर आ रही है। स्वरों और ध्वनियों का जुलूस चल रहा है। सारा
जीवन, सारा मेला, पाशमुक्त हो कर छूट भागने को ओर उन्मुख है।

रात्रि की अन्धकारा ढह चुकी है। चारों ओर चैतन्य है, सजगता है, तत्परता है, प्राण है, छवि है; उडते पंख, दौडते पग, रँभाते कण्ठ-स्वरों का अवतरण हो चुका है। मुझे कुछ-कुछ ऐसा अनुभव हो रहा है गोया अभी-अभी होमर की 'ओडेसी' समाप्त कर के उठा हूँ। होमर के दो महाकाव्यों में 'इलियड' तमोगुणी रात्रि का काव्य है, क्रोध और मृत्यु की कविता है, सर्ग-प्रति-सर्ग, अनुच्छेद, प्रतिअनुच्छेद, गम्भीर झकार के साथ ग्रीक नामों का उच्चारण होता है और रह-रह कर यह वाक्यांश टेक की तरह आता है : "रात्रि का घोर अन्धकार आँखों में छा गया और आत्मा मृत्युलोक की ओर उड चली।" तत्पश्चात् आता है 'ओडेसी', गृहागमन का काव्य, जो साहस, भय और अन्धकार के बीच, वरुणालय के मध्य भटकती यात्रा का गीत है। पर अन्त में हाँफता-तिरता, बेसुध-थका-अकेला नायक अरुणोदय का दर्शन करता है। दुख की रात का अवसान हो जाता है। इसी से आलोचकों ने कहा है कि यह 'सूर्योदय का महाकाव्य' है, अथवा 'निशि अवसान का महाकाव्य' है। 'उषा की गुलाबी अँगुलियों' और 'प्रभात' का जिक्र रह-रह कर महाकाव्य में आता है। अपनी दुख-निशा के अवसान-क्षण में वह समुद्र तट पर बेहोश पडा है। प्रात -किरणों से उस के मृतवत् शरीर में प्राण और स्फूर्ति का सचार होता है और आँख खुलते ही देखता है तट देश की राजकुमारी नासिका को, और अगूर की आदिगन्त हरी घाटी को जो प्रात सूर्य-प्रभा में स्नान कर के जगमगा रही है। 'ओडेसी' तथ्यत एक महाकाव्य है, जिस का मूल स्वर है साहस और धैर्य। मुझे लगा कि क्षण भर के लिए मैं स्वय नायक 'ओद्युसियस' (यूलीसिस) हूँ और यह किरण बान्धवी ही अनुकम्पा और प्रीति का स्रोत तट देश की उक्त राजपुत्री है। होमर के महाकाव्य में भी वह राजपुत्री नायक की बान्धवी ही रहती है, प्रेमिका, रति-सहचरी या पत्नी नहीं। मेरी इस तरुण किरण की ही तरह वह भी नायक को मुक्त हस्त हो कर सगपरस-सुधा और मन की सहज कोमलता दे कर उस में

पुन धैर्य और साहस को प्रतिष्ठा करती है जिस से वह अन्तिम लक्ष्य, अपने गृह तक पहुँच सके।

अब मै किरण-सप्तपदी के चौथे चरण में हूँ। सूर्य तप्त काचनवर्ण हो चुका है और अब किरण धरती पर उतर आयी है। अब वह मेरे आंशिक सान्निध्य में है। अपनी सारी अदा, सारे नाजनखरे, विभ्रम, लावण्यनाट्य के साथ वह मुझ पर चारो ओर से छा जाना चाहती है। मुझे बडी मौज आ रही है। विधाता ने, जब मुझे वह रच रहा था तो मेरे अन्दर, भूल से या जान-बूझ कर दो-चार मुट्ठी बुद्धि निकाल कर उस की जगह पर दो गिलास 'मन' या 'हृदय' ढाल दिया। फलत कभी-कभी लोगो को भ्रम हो जाता है कि मुझ में बुद्धि नही, युक्ति नही, आपादमस्तक मन ही मन है। यो ऐसा होना मैं कोई बुरी बात नही मानता। सच तो यह है कि ऐसा होता तो मै सुखी ही रहता, जैसे विहग, फूल, मेघ और आकाश। पर ऐसा हुआ नही और मैं रह-रह कर रोमन सम्राट् स्तोइक दार्शनिक मारकस आरेलियस की तरह सोचने के लिए वाध्य हो जाता हूँ: "अफसोस, मैं एक मिट्टी की लाश अपनी आत्मा के चारो ओर वहन कर रहा हूँ। मै तो आत्मा हूँ। यह जो मुझे चारो ओर से कैद किये है, वह मेरी देह मेरी लाश है, और छि इसे मैं निरन्तर ढो रहा हूँ।" इस रोमन सम्राट् की तरह मुझे भी अफसोस होता है कि केवल मन ही मन क्यों नही हुआ ? क्यो देह भी बन गया। यह देह तो मुझे सीमित करती है, सर्वत्र मेरा 'प्रवेश-निषेध' करती है, मेरे वचन-रमण-चलन में यह सर्वत्र बाधक है। यदि यह नही रहती तो मैं इस तरुण किरण की तरह धरती-आकाश सर्वत्र विचरण करता मन बन कर, मन के रथ पर सवार हो कर। पर यह देह है, और देह की माँगें है जो बार-बार मेरे मनोमय रथ को जमीन पर पटक देती हैं।

मैं देह नही हूँ, मैं मन हूँ, मैं एक मात्र मन हूँ—बार-बार मेरे मन में यही बातें उठने लगती है। लगता है, किरण मेरे अगो पर आलोक

वर्षा कर रही है, मेरे रोम-रोम को वेध कर शरीर में प्रवेश कर रही है और सारा शरीर ही विद्युन्मय-चिन्मय होता जा रहा है। फिर लगता है कि किरण मेरे मस्तक के स्नायुओं के भीतर प्रवेश कर गयी है। लगता है कि यह कोई और किरण है। लगता है कि अपरा वाक् के चतुष्पाद सिंह, क्रिया-सर्वनाम-संज्ञा-विशेषण-रूप चतुष्पाद सिंह पर सवार 'वैखरी' विद्या ही नीलारुण, अरुणोदय, सूर्योदय और रश्मि-प्रवेश के चार पगों तक मेरे साथ-साथ चली है, वही दृश्यमान स्थूलवाक् वैखरी, मेरे भीतर प्रवेश कर सूक्ष्म 'परा' रूप की ओर अग्रसर हो रही है। तो यह जो मेरे साथ-साथ चल रही थी, जिस की मैं प्रतीक्षा कर रहा था वह प्रभात के काल-सिंह पर सवार विद्या ही थी, कोई ऐसी-वैसी किरण नहीं थी। अब रोम-रोम में प्रविष्ट कर गयी है, शरीर का चिन्मय रूपान्तर करने की चेष्टा में लग गयी है, मुझ को देह-मुक्त करने और शतप्रतिशत मन के रूप में रूपान्तरित करने की चेष्टा में लग गयी है। अब पहचान में आ रही है कि ओह, यह तरुण किरण, यह पथ-सहचरी महा विद्या ही है। अब भीतर ही भीतर तीन सूक्ष्म पगों की यात्रा करनी होगी। मध्यमा, पश्यन्ती और परा रूपों में यह स्तर प्रति स्तर मेरे साथ चलेगी। इस का जो रूप क्रिया सर्वनाम-संज्ञा-विशेषण द्वारा व्यक्त होता है, जिस रूप के टुकड़ों से मैं अपने अस्तित्व की 'विभक्तियाँ' दे कर सन्दर्भ-रचना अर्थात् वाक्य-रचना करता हूँ वह तो अपरा का वैखरी रूप था, स्थूल वाक् था। पर अब जो अनुभव होगा उस में भाषा असमर्थ हो जायेगी। यह अकथ की स्थिति होगी। पहले-पहल आयेगी स्वप्नाविष्ट भाव दशा, जिस में अनुभव होगा, मेरी देह नहीं, मन में मेरा रूपान्तर हो चुका है और मैं गन्धर्वों के नगरों के ऊपर विविध मानस लोकों में तैर रहा हूँ। साथ में चल रही है मेरी किरण-सहचरी, जिस का 'मध्यमा' में रूपान्तर हो चुका है। और, उस 'मध्यमा' विद्या का हाथ पकड़ कर मैं विद्याधर पुरुष सा आकाश विहार कर रहा हूँ। तदनन्तर मैं और वह विद्या—हम दोनों ससावरणों की ऊर्ध्व यात्रा

में उठने-उठते एक ऐसे बिन्दु पर पहुँचेंगे जहाँ हमारी द्वैत स्थिति समाप्त हो जायेगी, हमारा परस्पर एकीकरण हो जायेगा। न केवल हम दोनों का ही बल्कि सम्पूर्ण विश्व-अनुभव के साथ ही हम दोनो का एकीकरण हो जायेगा और तब यह होगी 'पश्यन्ती' अवस्था। और इन के बाद समाचरणों को वेधते ऊर्ध्वतम स्थिति में नाम रूप व्यक्तित्व आदि से मुक्त, निर्विशेष अनुभव-प्रवाहरूप हम दोनों परममन में अन्तर्भुक्त हो जायेंगे, या विश्व-मन के साथ अंगीभूत हो कर 'एक' हो जायेंगे एक 'परा' अनुभव या 'पराविद्या' के रूप में। यह स्थिति अगम नही, इस का क्षणिक अनुभव मै अपनी किरण-वान्धवी के साथ तो रोज करता ही हूँ। पर यह स्थिति अकथ है, कथन की गति से परे है, यह अनुभव के दर्पण में प्रतिबिम्बित है, पर भाषा की मुट्ठी में वह प्रतिबिम्ब नही पकडाई देता। प्रतिबिम्ब स्वयं देखा जा सकता है, पर उसे पकड कर हाट-बाजार में वितरित नही किया जा सकता, चाहे वह काव्य-साहित्य की ही हाट क्यो न हो। यही भाषा-जीवी पुरुष की असमर्थता है।

मैं और उत्तरफाल्गुन के प्रभात की प्रथम किरण—हम दोनों इस प्रकार प्रात काल में सात पग साथ-साथ चलते हैं। प्रथम चार पगों को वैखरी के स्तर पर देख-सुन और दिखा-सुना सकते हैं, पर शेष तीन पग परा वाक्य के सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम मण्डल में घटित होते है और यह महाअनुभव दृश्याकाश और शब्दाकाश से परे है। मैं और मेरी किरण सहचरी—हम दोनों इस प्रकार यह सप्तपदी इस वसन्तागम के महालग्न में प्रति दिन पूरी करते हैं। इस समय मरी-सूखी घासों के भीतर नये अकुर फूट रहे हैं, चारों ओर हरीतिमा का जन्म हो रहा है, नये पत्ते, नये कोंचे, नये टूसे, नये गुम्फ, चारो ओर पनप रहे हैं। लगता है, धरती के भीतर मसीहा ने साँस लेना शुरू कर दिया है। वसन्तागम के समय धरती के भीतर, जिस मसीहा को इस धरती के आध्यात्मिक वन्ध्यापन को दूर कर के हरीतिमा-संकुल बनाने के लिए परम पिता द्वारा वलि दी गयी थी, उस

मसीहा का शव साँस लेने लगता है, और इस का फल होता है धरती पर हरीतिमा तथा पुष्पो का आगमन। तब इक्कीस मार्च के बाद आने वाले रविवार को मसीहा का चिन्मय शरीर धरती फोड कर आकाश में चला जाता है। और हम उस दिन को ईस्टर कहते है और घटना को 'रिस-रेक्शन' या 'बन्धन-मुक्ति'। ईस्टर आ रहा है। पर मसीहा की साँस के असर से धरती अभी से पुष्पिता हो उठी है। चारो ओर रूप, गन्ध और गान है। ऐसे अवसर पर हमारी सप्तपदी की अनुभव-यात्रा घटित होती है। मेरे मित्र कहेंगे, यह सब दर्पण-बिम्ब को चुम्बन करने जैसा ही मिथ्या है। पर क्या सारी सृष्टि ही माया-दर्पण नही है? क्या सारे सृष्टि-व्यापार दर्पण-बिम्ब की सीमा तक ही सत्य नही है? तब ?

मायावी शिखरों के प्रेक्षागृह

घोर व्यक्तिवाद अपने अतिशय उत्कर्ष के क्षणो में पथभ्रष्ट मसीहा बन जाता है। वह अपने ऐवनार्मल मन की स्वाद रुचियो पर दार्शनिक मुखौटा चढाता है। वह पीडा-रस एव व्याधि-भोग का आदर्श स्थापित करता है। उस के पैग़म्बरी फतवे के अनुसार व्याधि ही ऋत है, व्याधि ही अमृत है, व्याधि ही नयी भूमा है—नयी 'डोलोरसा'[1] है। टॉमस मान के प्रसिद्ध उपन्यास 'मैजिक माउटेस' में इस नयी भूमा को पान कर के दिन काटने वालो की मिथ प्रस्तुत की गयी है। इस उपन्यास में 'कथा' नही बल्कि एक 'स्थिति' व्यक्त की गयी है। स्विस शैलमालाओ के बीच 'देवास' नामक स्थल पर स्थित एक स्वास्थ्य-केन्द्र है जो बाह्य जगत् से सामाजिक, मानसिक, भौगोलिक एव आत्मिक दृष्टि से बिलकुल अलग कटा हुआ है। इस द्वीपनुमा एकान्तस्थिति के जीव अपने अन्तराल को रिक्तता को भरने के लिए जब कुछ नही पाते हैं, तो व्याधि को ही अद्वितीय रस मान कर पान करने लगते हैं और तृप्त रहते है।

हैन्स कास्तार्प जहाजी इजीनियरिंग पास कर के सिर्फ तीन हफ्ते के लिए इन मायावी 'देवास'-शिखरो पर आता है। पर वह अपनी सारी छटपटाहट एव अन्तर्द्वन्द्व के बावजूद कजरी वनमें फँसे तपभ्रष्ट योगी की तरह इस ऊर्णनाभ-जाल से बाहर नही जा पाता है। निकलता है सिर्फ मरने के लिए, जब महायुद्ध के वज्रनिपात से मायावी शिखरो की दीवारे

१ डोलोरसा 'वेदना की गली', अर्थात् येरूशलम की वह महातीर्थस्वरूपा गली जिस से हो कर सलीब वहन करते हुए यीशु को वध-भूमि ले जाया गया।

फट कर धराशायी हो जाती है, सारा जादू खत्म हो जाता है। प्रारम्भ में जब युवा रक्त में व्याधिरस के कीट नहीं घुस पाये हैं, वह सोचता है : सिर्फ तीन हफ्तों की ही तो बात है। पर सप्ताह बीतते वह इन रस संस्कारों की दीक्षा पा जाता है। ज़बान के नीचे थर्मामीटर, मन पर किसी काल्पनिक रोग का आरोपित भय, दिल में किसी रुग्ण, पर लावण्य-मयी छोकरी की तसवीर। रुग्ण मन, रुग्ण सौन्दर्य, रुग्ण प्यार। ग्रीकों जैसा मुक्त पजाबी चुम्बन नहीं, केवल छिपा-छिपा दृष्टि-स्पर्श। फिर अन्तर्हित आत्मा का विखण्डन। प्रेम-ज्वर। और अन्त में टूटा हुआ व्यक्तित्व एव ठण्डी मृत्यु। यह एक ऐसी सलीब है कि एक बार अति हलका स्पर्श हो जाने पर भी यह फैली बाँहों में हमें समेट लेती है। क्रूर, पर खूबसूरत, आक्टोपस!

हैन्स कास्तार्प से मानववादी सेतेम्ब्रिनी कहता है "ओ हो, ऐसा? तब तुम हम लोगों में नहीं हो? केवल मेहमान हो, तीन सप्ताह के लिए? जैसे ओदेसियस मृतात्माओं के देश में उतरा था। पर हो बहादुर कि मृता-त्माओं के इस अन्धकारमय लोक में आने का साहस कर लिया!"

सेतेम्ब्रिनी इस समग्र स्थिति में मानववादी दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है। वह एक जागरूक आत्मा है जो देवास के जाल में आ कर पस्त हो गयी है। वह कास्तार्प से वर्जिल और काफ्का की चर्चा करता है, शैतान की महिमा गाता है और स्वास्थ्य-केन्द्र के अधिकारियों के बारे में बताता है। एक तो है होफ़ात वेहरीन जिसे वह 'अश्वमुख चित्रगुप्त'[1] कहता है। यह हयग्रीव अपनी अँधेरी चिकित्साशाला में बैठ कर एक्स-रे मशीन के सामने सभी को व्याधिमन्त्र की दीक्षा देता है। दूसरा है क्रोक-व्हस्की जो मनोविश्लेषक है। इस प्रकार शरीर और मन दोनों की

---

१ रादामान्यस जो ग्रीक मिथकों के अनुसार यमलोक के अन्दर प्रत्येक मृतात्मा के कर्मों का लेखा-जोखा रखता है और उस के अनुसार उन की व्यवस्था करता है। यह ज्यूपीटर और यूरोपा का पुत्र है।

चिकित्सा होती है जिस से आत्मा नाम की वस्तु न तो शरीर की श्री-कान्ति में रहे और न मन के किसी कोने में छिपी रह जाये। अपनी आत्मा, अपने पौरुष के गुण एव अपना हृदय सब कुछ इन्हें बेच कर शून्य अन्तराल और पस्त-हिम्मत व्यक्ति इसी को अपना घर' मान बैठता है। व्याधि के प्रति घोर आकर्षण यहाँ के वातावरण में ऐसा व्याप्त है कि कई लोग यहाँ से छूट जाने पर भी दूसरा बहाना बना कर फिर आ जाते हैं।

मुश्किल से एक दिन बीतता है। पहले दिन ही मदाम शोशा से उस की भेंट हो जाती है। साधारण चेहरे-मोहरे की महिला—जिस की आँखें अवश्य जानी-पहचानी लगती है। कहाँ मिली थी ? हाँ, बचपन में उस का दोस्त हिप्पी याद आया। ठीक ऐसी ही खिरगीज आँखो वाला हिप्पी जिस के आकर्षण में वह बुरी तरह फँसा था। पर सब कुछ अव्यक्त रहा—दमित वासना मात्र। सिर्फ़ एक बार काँपते स्वर में महज़ पेन्सिल माँगी थी। वे ही आँखें हैं। इस तरह एक दिन बीता। कास्तार्प कहता है, "ओ ईश्वर, ऐसा लगता है कि एक दिन नही एक युग बीता।" सेतेम्ब्रिनी समझाता है, "देवास में कालचक्र बँधा कैद पडा है। वह प्रवाहशील नही। हम समय को दिन-हफ्तों नही, वर्षो में गिनते है।"

आठवें दिन कास्तार्प को बेहरोन द्वारा शरीर-परीक्षा होती है और दूसरे दिन थर्मामीटर का क्रॉस उसे पकडा दिया जाता है। दीक्षा समाप्त। शय्या में हफ्तों पडे रहने का आदेश। उठना नही, घूमना-फिरना नहीं। फिर सेतेम्ब्रिनी 'मान न मान, तेरा मेहमान' बन कर शय्या के पास उप-देश कर जाता है कि 'भागो यहाँ से, तोडो यह मानसिक इन्द्रजाल'। वह कहता है, "तुम्हारी ही तरह सभी नोजवान यहाँ एकाध हफ्ते के लिए आते है पर छह मास बाद जिन्दगी उन्हें भुला देती है वे इसी को घर मानने लगते हैं।" आगे चल कर सेतेम्ब्रिनी अपनी मृत्यु की फिलासफ़ी प्रस्तुत करता है, "इंजीनियर, मृत्यु केवल एक ही अर्थ में श्रद्धा की वस्तु है। एक ही रूप में वह उदात्त लगती है, वह है मृत्यु को जीवन से सयुक्त

मान कर देखना। मृत्यु जो भावी जीवन का आधार बनती है, नमन और उपासना की पात्र है। पर जीवन से रहित यह प्रेत है, ऊल-जलूल है, भद्दी और कुरूप है।" मानववादी दर्शन में मृत्यु के इसी उदात्त रूप की पूजा की गयी है। पर व्याधिरस-लोभी बूर्जुआ रुचि के गलित स्तर में यह कैसे अनुभूत होगी!

शैय्या से प्रथम बार निकलने पर भी सेतेम्ब्रिनी नायक को इस सर्सी के देश से भाग जाने को कहता है। ओदेसियस[1] सर्सी के मायादेश में गया था। वह 'हीरोइक' युग का व्यक्ति था। बूर्जुआ युग की सन्तान तो सर्सी का शिकार भर बनेगी। "आत्मा पहले कोचती है। फिर हार कर चुप हो जाती है। और शरीर के दावे के सामने परास्त हो जाती है। इंजीनियर क्या तुम्हारी आत्मा में वह कोच, वह शक्ति अब भी बाकी है?"

इस के बाद मृत्यु का नृत्य। लोग पर-लोग मरते हैं। फिर क्रिस्मस का त्योहार। आश्चर्य, मरण किसी को चोट नही पहुँचाता। चेतनाहीन संवेदनहीन जडीभूत मन पर मृत्यु की कोई चाँप, कोई छाप नही उभर पाती है। फिर प्रकाश-रात्रि का त्योहार आता है। प्रकाश-सज्जा और लालसापूर्ण नृत्य। पर सब-कुछ पर एक पीत जर्द-ज़र्द आभा छायी हुई है। यहाँ लालसा का मुँह उदास है, पर आँखे चढी है।

इसी रात को नृत्यशाला के एक कोने में नायक मदामक्लावदिया शोशा से प्रथम सम्भाषण करता है। अब तक वह छिप-छिप कर देखता रहा। आँख से आँख मिलती रही। क्रोकव्हस्की के भाषण के दौरान वह सामने बैठी शोशा के कन्धों, उंगलियो और अंग-प्रत्यंग पर मन की सारी

---

१. 'ओदेसी' की कथा का एक प्रसंग। ओदेसियस समुद्रमार्ग में पथ भूल कर सर्सी के मायालोक में चला गया, जहाँ यह अप्सरा प्रत्येक नवागन्तुक को अपनी काम-लिप्सा की पूर्ति के लिए किसी पशु में परिवर्तित कर देती थी। ओदेसियस (युलीसिस) ने इस माया का प्रतिकार कर के सर्सी को प्रेम-दान दिया, फिर उस के बताये मार्ग पर यात्रा आरम्भ की, मृतात्माओं के लोक की ओर।

भाव-कला वरसाता रहा। आज पहली बार कांपती आवाज में पेंसिल मांगता है। बन्धन खुलता है और प्रणय-निवेदन व्यक्त होता है। मदाम सोवियत महिला है। वह हँस कर इसे 'वूर्जुआ प्यार' कहती है। ऐसे प्यार में नवयुग की झलक नही। इस में एक व्यक्ति दूसरे को अपनी 'स्व' की परिधि में जन्म-कैद देने की चेष्टा करता है। नायक के वालों को मदाम एक वार सहलाती है। और इस से अधिक कुछ नही। दूसरे दिन मदाम चली जाती है। नायक को अपनी एक एक्सरे-छवि दे कर। मदाम का पति किसी सोवियत प्रान्त में अफसर है, और वह कभी-कभी उस से भेंट करने जाती है। शेष जीवन यूरोप के स्वास्थ्य-केन्द्रो और होटलों मे। पति-पत्नी एक दूसरे से सहानुभूति और 'सोवियत प्यार' रखते है। इतना काफ़ी है।

इसी वीच एक अन्य व्यक्ति आता है। यह जेसुइट ईसाई दार्शनिक नेफथा है जो सेतेम्ब्रिनी का प्रतिद्वन्द्वी वन जाता है। कास्तार्प की आत्मा को दाक्षित करने के लिए अव त्रिकोणात्मक सघर्ष चलता है। वेहरीन और स्वास्थ्य-केन्द्र का वातावरण, मानववादी सेतेम्ब्रिनी और ईसाई फासिस्ट नेफथा, और वीच में युवक कास्तार्प की अवपकी कच्ची आत्मा। सेतेम्ब्रिनी रिनेसां का पुजारी है, तो नेफथा चर्च-फादर्स के फार्मूले पर आधारित 'सिटी ऑफ गॉड' के मॉडल पर भरोसा करता है। पर नेफथा के विचार उलझे, गड्ड-मड्ड है। वह कम्युनिस्ट क्रान्ति को ईसाई सत्य का एक रूप मानता है। उस का रक्तपात में विश्वास है। वह प्रोलेतारियत क्रान्ति में ग्रेगरी द ग्रेट (पोप) को आत्मा देखता है। ग्रेगरी ने कहा था, "सत्य-प्रेरित हाथ की तलवार नही रुक सकती !" अर्थात् ईसाई फासिज्म !

वेचारे कास्तार्प की नन्ही-मुन्ही आत्मा पर ईश्वर-शैतान की तरह सघर्षशील सेतेम्ब्रिनी और नेफथा दोनो का प्रभाव पड़ता है। उस का मन और चिन्तन दोनों विस्तृत और स्फीत होने लगते है। थर्मामीटर शोशा की खिरगीज आंखो के वाद यह वूर्जुआ वौद्धिकता ! अन्तर्मन की रिक्तता भरने के लिए तीसरा साधन जो पहले दोनों की ही तरह अर्थहीन और

मूल्यहीन है। अपने एक उपन्यास 'पतन' (द फाल') में कामू का कथन है कि आधुनिक व्यक्ति की दो ही लालसाएँ है बौद्धिकता और नग्न कामुकता। एक दिन नेफथा सेतेम्ब्रिनी को द्वन्द्व के लिए ललकारता है। सेतेम्ब्रिनी की वारी पहले आती है। उस का मानववाद उसे हवा में फायर करने के लिए प्रेरित करता है। निर्लक्ष्य फायर के वाद सेतेम्ब्रिनी छाती तान कर खड़ा हो जाता है। नेफथा का अन्तर्मन पराजित सा हो जाता है और वह मारे लज्जा के आत्मघात कर लेता है। मानववादी विश्वास जीत जाता है।

दोवारा शोशा आती है। इस वार एक नये वृद्ध प्रेमी के साथ। मरने से पहले वृद्ध और कास्तार्प में घोर मित्रता स्थापित हो जाती है और ग्रन्थि वनती है शोशा के प्रति दोनो का प्यार। इस वार शोशा से कास्तार्प को एक गहरा चुम्बन मिलता है। वृद्ध मर जाता है। शोशा फिर कास्तार्प को प्यार करती हुई उस के वालों को सहला कर उस के प्यार को 'वूर्जुआ' 'हीरोइक', 'व्यक्तिमुखी' कह कर चली जाती है। जरमन युवक और रूसी संस्कारों वाली खिरगीज़ प्रेमिका। वात इस से आगे कैसे वढे ?

देवास में कभी प्लैंचेट, कभी प्रेत-आह्वान, कभी रुग्ण प्यार और समय-समय पर मृत्यु—यही क्रम नीरस ढंग से चलता रहता है। अचानक रणसिंघे गरज उठते हैं। जरमनों का मुँह तमतमा उठता है और जरमन युवक कास्तार्प इस मायावी शिखर की माया को काट कर युद्ध में भरती होता है तथा एक मोरचे पर, गोली खा कर नहीं, कमजोर फेफड़े से खून फेंक कर मर जाता एक स्वस्थ युवा, एक हँसमुख युवक एक इंजीनियर हलका-हलका मौसमी बुखार ले कर आता है, (जो वाहरी जगत् के कर्मशील जीवन में एक हफ्ते वाद ही ठीक हो जाता) और व्याधि-विलास के चक्र में ऐसा फँस जाता है। और इस प्रकार उस का अन्त होता है— 'अनहीरोइक' साधारण अन्त।

उपन्यास में तीन विन्दु-युग्मों को स्पष्ट रूप से उपस्थित किया गया है :

प्रेम वनाम व्याधि, मृत्यु वनाम जीवन और मानववाद वनाम ईसाई फासिज्म। वूर्जुआ-मध्यवर्गीय संस्कृति में प्रेम का आदर्श क्लासिकी (हेलेन) या रूमानी (वीट्रिस) आदर्श से भिन्न रहता है। यहाँ प्रेम मूलत काम-ईहा है। प्रेम में ईहामृग—भेडिये के संस्कार रहते है। वह या तो 'सिडक्शन' है नही तो 'रेप'। इस की अतल गहराइयो का व्याख्याता आधुनिक मनोविज्ञान है। मनोविश्लेषक क्रोकव्हस्की कहता है, "दमित वासना या अज्ञात प्रेम किस तरह की नकाव पहन कर सामने आता है ? व्याधि को। व्याधि के लक्षण ही प्रेम की महाशक्ति के प्रस्फुटन हैं। प्रेम ही रूप परिवर्तित कर के व्याधि वन जाता है।" कास्तार्प के अतल मन में किशोर – 'व्यॉय'-प्रेमिका (!) हिप्पी की आँखें गडी है। शोशा की आँखें देख कर वही संस्कार व्याधि के रूप में फूटता है। प्रकाश-रात्रि की नृत्यशाला में सम्भापण से पूर्व उसी प्रात को वह शोशा की नग्न भुजलता को देखता है और उन की श्वेत लुनाई तथा आकर्पण को देख कर क्षण-मात्र के लिए सज्ञा खोता हुआ सा ज्ञात होता है। इन बाँहो को वह कल्पना महीनो से कर रहा है। दोनों एक ही मेज के अन्तर पर बैठते हैं, पर दोनो में कोई वार्तालाप नही। कास्तार्प का प्यार यदि स्वस्थ होता तो वह आँखो से ही अपनी कथा कह कर शान्त नही होता। वह निर्भीक हो कर मिलता। पर यह प्यार नही व्याधि था, जो क्षयकीट की तरह उस के अन्दर घुस आया था।

व्याधि दैहिक उत्तेजना है। उत्तेजना अर्थात् दर्द। सारा दैहिक सुख ही 'दर्द' है। यह दर्द काम-प्रेरित होता है। या यो कहें यह काम-भावना का ही विगडा वीभत्स रूप है। व्याधि मात्र भौतिक कभी नही होती है। यह मानसिक प्रक्रिया का दैहिक प्रस्फुटन है। [साथ ही कभी-कभी उलटी प्रक्रिया भी होती है। पर प्राय अदैहिक (कामना, वासना) से दैहिक (व्याधि या स्वास्थ्य) में परिवर्तन ही देखा गया है।] टॉमस मान की एक प्रसिद्ध कहानी है 'ब्लैक स्वान' (काला हंस)। उस में भी इसी

विन्दु-युग्म को उपस्थित किया गया है। एक अधेड महिला एक नवयुवक से प्यार करती है। वह स्वयं को सृजन में असमर्थ पाती है। पर कामना की तीव्रता के कारण ढली उम्र में भी उस में 'पुष्पिता' होने के लक्षण रक्तस्राव आदि प्रकट होते हैं। पर तीव्र कामना को वरदाश्त करने लायक शरीर न होने की वजह से वे लक्षण सृजन-सामर्थ्य के न हो कर भयंकर व्याधि के सिद्ध होते हैं। यह क्रिया नही, वल्कि प्रतिक्रिया है। स्वस्थ नवयुवती में क्रिया-रूप व्यक्त हो कर यह 'पुष्पिता' के लक्षण होते, पर अधेड में यह कामना अपने प्रतिक्रियात्मक रूप, व्याधि, में प्रकट होती है।

कामवृत्ति और शरीर—दोनो पर टॉमस मान ने अपनी मानववादी दृष्टि को सेतेम्ब्रिनो द्वारा व्यक्त करवाया है। एक वार सेतेम्ब्रिनो 'शरीर' की निन्दा में कहता है, "मालूम है, इंजीनियर, प्लाटिनस कहा करता था कि वह सिर्फ आत्मा ही आत्मा है और उसे शरीर के इस खोल को देख कर शर्म लगती है। एक बार मेरी आत्मा ने भी रुग्ण शरीर की मांगो के खिलाफ प्रतिवाद किया था, पर मै ने ध्यान नही दिया। यदि तुम में यह प्रतिवाद जीवित है, तो जल्दी भागो इस देवास से।" रिनेसाँ को जिस में शरीर को प्यार एवं श्रद्धा की वस्तु वताया गया है, आदर्श मानने वाले सेतेम्ब्रिनो के मुंह से शरीर की निन्दा सुन कर कास्तार्प को आश्चर्य होता है। सेतेम्ब्रिनो अपनी वात आगे चल कर साफ करता है, "हम मानववादी शरीर की प्रतिष्ठा या आराधना तभी करते हैं जब शरीर में मुक्ति, विचार-स्वातन्त्र्य, सौन्दर्य एव आनन्द की महिमा पाते हैं। पर जब शरीर प्रकाश की गति अवरुद्ध करने लगे – व्याधि, मृत्यु, ह्रास एवं गलित जीवन, लज्जा और कामईहा का स्रोत बन जाता है तो बुद्धि इसे अस्वीकार कर देती है और मानववादी इस से घृणा करने लगता है।" (ऐसे स्थलो पर लगता है कि टॉमस मान के अन्दर का उपन्यासकार नही वल्कि महाकाव्यकार वोल रहा है।)

मृत्यु और जीवन का विन्दु-युग्म प्रेम-व्याधि-युग्म से सम्वन्धित है

क्योंकि दोनों का माध्यम शरीर है। सेतेम्ब्रिनी देवास के स्वास्थ्य-केन्द्र की तुलना सदैव मृतात्मा के अन्धकारमय लोक से करता है जहाँ जीवन की मृत छायाएँ ही रहती हैं। उस के अनुसार केवल 'हीरोइक' युग के मानव हेराक्लीज, युलीसिस (ओदेसियस) या एनीयड ही वहाँ से जा कर लौट सकते हैं। क्षुद्र बूर्जुआ संस्कृति की क्षुद्र सन्तान इतना दुस्साहस कैसे कर सकती है ? उन्हें तो एक बार इस के सिंहद्वार से घुसने पर फिर सारी आशाओं को त्याग देना है।

स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, "मृत्यु की उपासना करो। घोर शिव से एकाकार हो जाओ। खड्ग को कण्ठ से लगा लो।" यदि मृत्यु की उपासना जीवन की किसी बड़ी बाजी को जीतने के लिए हो तो वह 'हीरोइक' है। ऐसी मृत्यु हमारी उपासना का पात्र है। इस की करालता के भीतर ही जीवन का सगर्व शक्तिमान् अंकुर फूटेगा। पर व्याधि-रस का आस्वादन करने वाले अन-हीरोइक, बूर्जुआ मनुष्यों की मृत्यु की उपासना जीवन से अलग, कटी हुई, एक प्रेतपूजा मात्र है। अतः कुत्सित है, हेय है, अशुभ है, गलित है। पीड़ा और मृत्यु—दोनों को जीवन की महिमा का साधन बनाया जाये, तो वह उपास्य है। जैसे मसीहा या चन्द्रशेखर आज़ाद के केस में। पर जो पीड़ा जीवन को महिमान्वित नहीं करती, जिस के द्वारा जीवन का तेज जन्म नहीं लेता, वह गर्भपात-सुख है। पीड़ा जीवन का सब से बड़ा सत्य है। सेतेम्ब्रिनी बताता है कि इसी पीड़ा की एनसाइक्लोपीडिया तैयार करने का प्रयत्न मानववादी पण्डितों द्वारा हो रहा है (सेतेम्ब्रिनी भी उस का एक सम्पादक है) जिस से पीड़ा के विविध रूपों को ऊर्ध्वकामी संस्कारों की जननी बनाया जा सके।

सारे उपन्यास के बौद्धिक ढाँचे में मानववादी जीवनदर्शन की ही स्थापना की गयी है। टॉमस मान स्वतः मानववादी—'ह्यूमनिस्ट' है। मानववाद के साथ दो मानव-विरोधी पक्ष उपस्थित किये गये हैं। एक तो है व्यक्तिप्रधान संस्कृति का गलित जीवनधर्म। दूसरा है ईसाई आतंकवाद।

जेसुइट फ़ादर नेफथा इसी ईसाई आतकवाद का प्रतीक है जो अन्त में अपने अन्त करण की पराजय के कारण आत्मग्लानि से स्वतः मर जायेगा। नेफथा मसीहा की उस आवाज़ का ही समर्थक है जो वोलती है "मैं पडोसी के लिए प्यार नहीं लाया हूँ, तलवार लाया हूँ। मैं बाप को बेटे से, पति को पत्नी से, भाई को भाई से अलग करा दूँगा।" नेफथा का आदर्श है पोप ग्रेगरी द ग्रेट जिस ने शस्त्रवल से राजशक्ति को दबा कर चर्चका आतंक ऊँचा किया। (फल हुआ, ईसाई चर्च का रोमन साम्राज्य के एक जर्द शुष्क सस्करण में बदल जाना—वस्तुत वह ईसाई रहा ही नही।) नेफथा को ग्रेगरी की आत्मा प्रोलेतारियत क्रान्ति मे दिखाई देती है और प्रोलेतारियत समाजवाद में वह ईश्वर-राज्य की स्थापना का स्वप्न देखता है, यह एक प्रकार का फासिस्ट समाजवाद है, जो मध्ययुगीन क्रिश्चियन आदर्शों पर आधारित है। नेफथा का यह 'कमिटमेंट' एक भयकर फ़ैनेटिसिज़्म पर खडा है जिस के लिए हिब्रूशाखा से उत्पन्न सारे धर्म वदनाम हैं। उपन्यास के अन्त में इस जीवन-दृष्टि की पराजय नेफथा के ग्लानिमय आत्मघात द्वारा प्रदर्शित की गयी है।

टॉमस मान ने इस उपन्यास की रचना-प्रक्रिया पर स्वतः प्रकाश डाला है। वह अपनी वीमार पत्नी से मिलने एक ऐसे ही टी. बी. अस्पताल में गया। डॉक्टरो ने उस की भी परीक्षा कर के छह मास के लिए ठहरने को कहा। पर वह तीन सप्ताह रह कर वहाँ से भागा और इन तीन सप्ताह की अनुभूतियो के आधार पर इस उपन्यास 'मैजिक माउटेन्स' को लिख मारा।

टॉमस मान ने एक कहानी लिखी है 'डेथ इन वेनिस'। इस में प्लाट नही है। एक अधेड उम्र का लेखक पहले-पहल अपने नगर से वाहर जाता है पर्यटन-रस के लिए। वेनिस में एक खूबसूरत लड़के पर, जिस की माँ वगल के कमरे में ठहरी है, आसक्त हो जाता है। यह आसक्ति आँखो की सक्रियता से अधिक नही जाती, पर अन्तराल को मथती रहती

है। वह लडके का हर जगह पीछा करता है, पर एक शब्द भी मारे भीरुता के कहता नही। समुद्रतट पर खेल में दूसरे लडके उस के शरीर को निर्दयतापूर्वक मरोडते हैं, इसे देख कर (जो बालक्रीडा की स्वाभाविक सी घटना है) उस लेखक का दिल तडप जाता है और वह 'शॉक' को बरदाश्त नही कर पाता है। वही मृत्यु हो जाती है। मान ने स्वतः कहा है, "Death in Venice' portrays the fassination of Death-idea, the triumph of drunken disorder over the forces of life consecrated to rule & discipline In 'Magic Mountains' the same theme is humoursly treated" 'डेथ इन वेनिस' की कथा तो कुछ नही है, फिर भी प्रक्रियाओ और अनुभावों का 'डिटेल' इसे पचास-साठ पृष्ठो की कहानी बना देता है। इसी प्रकार 'मैजिक माउटेन्स' में भी कोई विशिष्ट कथा नही। प्रेम निष्क्रिय और अव्यक्त तथा एकाकी रहता है। कोई घटना ही नही घटित होती। केवल एक 'स्थिति' का चित्र है। भावात्मक और बौद्धिक सघातो का चित्र है। इस से अधिक नही। पर टॉमस मान विस्तार देने की कला का माहिर है। 'जोजेफ' की कथा बाइबिल के एक दर्जन पृष्ठों में है, पर टॉमस मान ने विशाल-विशाल चार भागो में महाकाय उपन्यास तैयार किया है। इसी तरह 'मैजिक माउटेन्स' भी सात सौ पृष्ठो का उपन्यास है। आधुनिक दर्शन, विज्ञान एव साहित्य की बौद्धिक पृष्ठभूमि में मानसिक संघात बडी ही बारीकी से व्यक्त किये गये है।

समस्त उपन्यास में सेतेम्ब्रिनो एक जागरूक आत्मा है। पर यह जागरण निगडबद्ध है। प्रेत का जागरण है। जब वह मानववादी चिन्तन और जीवन की महिमा का व्याख्याता बनता है तो टॉमस मान का अपना स्वर उस में बोलता है। अन्यथा वह भी उसी ऊर्णनाभ-शृंखला से बद्ध एक दीन प्राणी है जिस के खण्डन में वह अपनी समूची तर्कशक्ति लगा देता है। यह शायद सेतेम्ब्रिनी का ही प्रभाव है कि कास्तार्प मृत्यु और

व्याधि का प्रशिक्षण लेते हुए भी मृत्यु और व्याधि को अपना मन सम्पूर्णतः नही बेचता। 'डेथ इन वेनिस' का नायक, जिस की आसक्ति मृत्यु-वृत्ति का ही प्रतिरूप है, इस मृत्यु-वृत्ति को अपना मन और अपनी आत्मा बेच देता है। पर कास्तार्प अन्त तक इस आसक्ति को (जो हिप्पी, शोशा और व्याधि तीनो के आलम्बन से प्रस्फुटित होती हुई भी एक ही है) अपनी आत्मा नही बेचता। महायुद्ध का वज्रनिनाद सुन कर वह घेरा तोड कर बाहर आ जाता है वीरगति की आकाक्षा से। घेरे के भीतर भी उस की प्रज्ञा सत्य पा जाती है। शोशा जो व्याधि और मृत्यु-वृत्ति का आलम्बन थी, गुरु बन कर एक्स-रे चित्र को दे कर सत्य व्यक्त कर जाती है। रह जाता है मन में एक आभास, एक कोमल स्पर्श—टेडरनेस! इस तरह कास्तार्प एक 'अनविकी आत्मा' अन्त तक रह जाता है, जब कि 'डेथ इन वेनिस' के नायक-लेखक की आत्मा शैतान खरीद लेता है।

वास्तव में कास्तार्प 'फास्ट' का ही एक रूप है। रूप नही प्रतिरूप—'एंटो-फास्ट'। यह मृत्यु और व्याधि के मार्ग से उच्चतर प्रज्ञा के अनुसन्धान में जाता है। यह चिरन्तन सत्य-खोजी आत्मा का प्रतीक है। 'मैजिक माउटेन्स' की मिथ का यह अन्य पक्ष है जिस पर जरमन प्राध्यापक निमरोव ने अपने प्रबन्ध 'अन्वेषण-मिथ : मान की रचनाओ का विश्वप्रतीक' में प्रकाश डाला है। मध्ययुग की अन्वेषण कथाओ यथा 'होली ग्रेल' आदि के साथ इस की तुलना की गयी है। देवास के माया-शिखरो पर अवस्थित प्रेक्षागृह के तहखानों का अतल गहराइयों में मृत्यु-जीवन प्रेम-व्याधि, मानववाद और ईसाई आतकवाद आदि की जाँच इस उपन्यास का प्रथम पक्ष है। साथ ही, इन प्रेक्षागृहो में एक अबोध अपना पथ टटोलता हुआ जा रहा है। यह एक अन्वेषण-'मिथ' है। यह और बात है कि अनुसन्धान की मणि पा कर भी बच्चे का अन्त हो जाता है। पर इस से क्या? साठ हज़ार सगरसुवनों के भस्म होने के बाद कोई अंशुमान् तो आयेगा ही, एक दिन।

सनातन नदी : अनाम धीवर

भगवान् बुद्ध जब तरुण थे, जब उन की तरुण प्रज्ञा काम, क्रोध, मोह के प्रति निरन्तर खड्गहस्त थी, तो उन्होंने उरुवेला में शिष्यों को पावक-दीप्त उपदेश दिया था, "भिक्षुओ, आँखें जल रही हैं, यह सारा दृश्यमान् जगत् जल रहा है, देवलोक जल रहा है, यह जन्मान्तरप्रवाह जल रहा है। भिक्षुओ, यह कौन सा सर्वभक्षी आग है ? यह कौन-सी स्वाहामयी लपट है ? यह आग रूप की है। भिक्षुओ, सावधान, यह रूप की लपट है।" परन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया, बुद्ध की प्रज्ञा पकहर और अनुभव-समृद्ध होती गयी और अन्तिम काल में उन्होंने अनुभव किया कि यह दृश्य-मान् जगत्, यह रूपमय जगत्, यह भवसरिता एकदम तिरस्कार की वस्तु नही। यह जगत् सुन्दर है, क्योंकि हमें अवसर देता है महाकरुणा की अभि-व्यक्ति के लिए। यदि यह दृश्यमान्, रूपमय जगत् न रहे तो हमारी महा-करुणा किस के उद्धार के लिए सक्रिय होगी ? स्वयं-केन्द्रित अपना निजी निर्वाण पा कर हमारा धर्म शान्त हो जायेगा, उस की उदारभूमि महाकरुणा एक सम्भावना मात्र रहेगी वास्तविकता नही। महाकरुणा को सम्भावना से वास्तविकता के स्तर तक लाने का माध्यम है यह दुःखपीड़ित दृश्यमान् जीव जगत्। अब यह रूपमय, रसमय, गन्धमय, शब्दमय जगत् की जन्म-मरण-सरिता कम सुन्दर नही। लगता है यह बोध पा कर ही बुद्ध के मन में जम्बूद्वीप के प्रति एक विशेष मोह पैदा हुआ था। उन्होंने अन्तिम बार वैशाली से प्रयाण करते हुए नगर से बाहर आ कर वैशाली के भवन, शिखरों और श्याम हरित उद्यानों पर पीछे घूम कर एक स्नेह दृष्टि डाली

थी और कहा था, "आनन्द, अब हम फिर वैशाली को नहीं देख पायेंगे!" यही नहीं, कुछ देर मौन के बाद उन्होंने कहा था, "चित्रोऽयम् जम्बूद्वीपम्। मनोरम जीवितं मनुष्याणाम् ॥"—यह जम्बूद्वीप क्या ही चित्र-विचित्र, रंग-बिरंग है! और, मनुष्य का जीवन कितना मनोरम है! प्रयाणवेला से कुछ दिन पूर्व बुद्ध की पकी हुई प्रज्ञा बोल रही है, "मनोरम जीवित मनुष्याणाम्!"

बौद्ध ग्रन्थो में बुद्ध को जिन उपाधियो से अभिषिक्त किया है उन में दो विशेष रूप से आकर्षित करती हैं। वे है महाधीवर और महाभिषज्। विश्व दुखी है, सृष्टि बीमार है, सभी कामना के ज्वर से पीड़ित हैं, अत. भगवान् का अवतरण भिषज् या वैद्यरूप में हुआ है। "दुख का कर के सत्यनिदान, प्राणियों का करने उद्धार!" यही तथागत के आरण्यक-सवाद का उद्देश्य है। बुद्ध सहजता और आरोग्य के महास्रोत हैं। स्मरण रहे कि भिषज् की भूमिका ही वैष्णव भूमिका होती है, इसी से मुक्तिदाता विष्णु की भी एक उपाधि है भिषज्। पर बीज रूप में यह उपाधि बौद्धभूमि में पहलेपहल बोयी गयी। इसी उद्धारक शक्ति को महाकरुणा कहा गया।

दूसरी ओर बुद्ध महाधीवर हैं और आवागमन भवसरिता में, जन्म-मरण की नदी में कामना के मीनों को प्रज्ञा के जाल में फँसाते हैं और मत्स्य-आखेट करते हैं। ये कामना के जलचर इस नदी के जल को अपावन, मलिन और अशुद्ध कर रहे हैं। अत. बुद्ध एक धीवर हैं, जो निरन्तर अखण्ड मत्स्य-आखेट कर रहे हैं। अन्यथा ये मीन प्रज्ञावारि को गन्दा ममता-जल बना डालेंगे, बोधि विकृत होगा और बुद्धत्व कमजोर हो जायेगा। और यदि स्वयं अपना बोधि विकारग्रस्त रहा, बुद्धत्व क्षीण-दुर्बल रहा, तो बुद्ध औरो के उद्धार के लिए महाभिषज् बन कर कौन सी करुणा बाँटने में समर्थ हो सकेंगे? अत. उन के महाभिषजत्व की सार्थकता के लिए यह धीवर रूप एक अनिवार्य आवश्यकता है। बुद्ध नदी के शत्रु नहीं; नदी ही तो उन की महाकरुणा का कर्मक्षेत्र होगी। नदी जल तो मूलत. पावन है।

उसे अपावन किये हुए है भिन्न-भिन्न जलचर, मीन-मकर, नक्र-नग, शम्बूक-शैवाल आदि। ये सभी काम या मार के विविध चेहरे है, जिन्हे काम, क्रोध, लोभ आदि नामो से पुकारते है। बुद्ध मार के इन्ही प्रतिरूपों का, इच्छाओ की मछलियों का शिकार करने में संलग्न है, जिस से नदी-जल निर्मल-प्रसन्न एव विशुद्ध बना रहे। अन्यथा महाकरुणा का वृन्दावन उकठ कर स्थाणुओ का कंकाल-वन बन जायेगा। इस प्रकार देखते है कि महाधीवर और महाभिषज् परस्पर-पूरक है। बुद्ध-हृदय' एक अद्भुद भाव-प्रत्यय है। बुद्ध हृदय में निहित है बोधिचक्र और बोधिचक्र की नाभि है महाकरुणा। कालान्तर में 'बोधि' का वरण शंकराचार्य ने किया और 'महाकरुणा' का वैष्णवो ने। निर्मल-प्रसन्न भवसरिता का वरण, मनुष्य जीवन का वरण, 'चित्रमय,' रूपमय सृष्टि का वरण ही बोधिसत्व के जन्मान्तर-लीला की नाभि है। महायान इसी अनुभव की सन्तान है।

तो, बुद्ध, महाभिषज् और महाधीवर दोनों थे। मै भी तो एक धीवर हूँ, कामरूपी मायावी धीवर! इस चित्रमय जम्बूद्वीपम् की अति सज्जित चित्र-विचित्र चित्रशाला कामरूप के हृदय में प्रविष्ट हो गया हूँ और रात-दिन जाल लगाये मछलियों की घात में बैठा रहता हूँ। अत बुद्ध जैसे विराट् प्रतीक को अपना सहधर्मी एव सहपाक्तेय पा कर मुझे गर्व हो आता है। कहाँ वे प्रतापी शाक्यो के राजकुमार और कहाँ मैं कामरूपी कैवर्त। पर यह मत्स्य-आखेट की गुणमयी वंसी हम दोनो को एक बादरायण सम्बन्ध में जोड देती है। हमारे और बुद्ध के आखेट स्व-भाव में परस्पर-विरोधी है। बुद्ध का आखेट कामना का आखेट है और मेरा आखेट रस-आखेट है। बुद्ध कामना की मछलियों का शिकार करते हैं प्रज्ञावारि के शोधन के लिए, और मैं रूप-रस की मछलियो का शिकार करता हूँ आस्वादन के लिए। मेरे पास बुद्ध का अष्टांग मार्ग, आर्यसत्य चतुष्टय और द्वादशांग प्रतीत्य समुत्पाद से बना चौबीस तन्तुओ का जाल कहाँ से आये? अपने हाथ में तो बस गुणमयी वंसी है, बाँस की एक छडी

में एक गुण अर्थात् डोरी, जिस में एक काँटा लगा है और काँटे में चारा फँसा है। इसी कँटीली गुणमयी चटुल के द्वारा कभी सवेरे, कभी शाम, कभी दोपहर, कभी पहर रात गये नदी की चचलधार में तटभूमि पर बैठा-बैठा, मागुर-रोहित, वामी-वराली, रूपसी-पियासी आदि मछलियों का आखेट करता हूँ। जो संन्यासी के लिए कर्दम है, वह मेरे लिए स्वादिष्ट है। मेरी निर्दय धूर्त वंसी निर्मम ममता से रूपमयी मछलियों को खींच लाती है। वैराग्य और ममता दोनों में निर्मम हुए बिना सिद्धि नहीं मिलती।

मुझे याद आती है माघ की ठिठुरती सुवह, जब मैं अपनी स्थानीय नदी 'पगला दें' अर्थात् 'पगला दह' के धूम्र-धुन्ध कगार पर खडा रहता हूँ, ठण्ड से फूटती उँगलियों से काँटे में चारा लगाता हूँ और सतह को चीरता काँटा पानी के भीतर प्रवेश कर जाता है। साथ ही, सतह पर चक्राकार गुदगुदी फूटती दिखाई पड़ती है, गोया कुहासे की मोटी रज़ाई में दुवक कर सोयी नदी की पतली अचंचल धार को इस भिनुसारे मैं अपनी शय्या त्याग, उस का केश सहला कर नहीं, जगह-वेजगह चिकोटी काट कर जगा रहा हूँ। तब लगता है, नदी कुनमुनाती है और निद्रा से भारी फूली हुई सुन्दर पलकें खोल कर मेरी ओर मुग्धा-रोष से देखती है। उधर मेरी लोभी लालची वंसी इस की देह में विहार करती है और लुब्धक की तरह मछलियों को फँसाने में तत्पर है। आज मेरी बारी है। आज मैं कुहासे की रुईदार रज़ाई ओढे पतली तुसधार नदी को चिकोटी काट कर जगा रहा हूँ। पर कभी वह दिन भी आता है जब मैं इस के रुद्र रूप को देख-देख भयकम्पित गात से थर-थर काँपता हूँ। माघ की सुवह, फाल्गुन की शाम और चैत्र की राका रात्रि में इस नदी का चेहरा वडा नरम, वडा मोहक लगता है। यह तब कैशिकी वृत्ति में रहती है। पर मुझे याद आती है इस कामरूपिणी की आरभटी मुखाकृति जब वरसात में यह उमडती है और अपने यौवन-ज्वार में चार घण्टे-छह घण्टे के भीतर तालुका-तहसील, गाँव-घर, ताल-तलैया एक करती प्रलय मचा देती है। कितनी हरीतिमा

का भक्षण कर डालती है, कितने जीवों की जान ले बैठती है। इसी से इस का नाम है 'पगला दं' अर्थात् उन्मादिनी नदी। यौवनकाल ही ऐसा है। इस में देह और मन किनारा तोड कर रोधहीन वहने लगते हैं। विधि निषेध से शीलावृत देह के भीतर भी रेखाएँ सकेतमय हो उठती है। जब धीरा नायिका गगा में यौवनज्वार आ कर उसे वन्या बना जाता है, तो यह तो मनु-स्मृति के साम्राज्य से वाहर किरातसंस्कृति के देश कामरूप की नदी है। मुझे इस नदी के किस्म-क्रिस्म के चेहरे याद आते हैं। पान, घोडा और मन तीनो को समय-समय पर फेरना चाहिए, अन्यथा वे एकरस हो कर सडने लगते हैं। मेरे पास मन फेरने यानी मन का स्वाद वदलने का सर्वाधिक सुलभ साधन है यह कामरूपिणी नदी। इसी से मैं इस के तट पर वार-वार आता हूँ सुवह-शाम या 'पूर्णिमा-निशीथे दशदिशा परिपूर्ण हासि' के क्षणो में कभी वसी के साथ, तो कभी वशी के साथ, तो कभी रिक्तहस्त। अकसर अकेले-अकेले आता हूँ। रोज-रोज नही, समय-समय पर। रोज-रोज आने पर तो यह 'कार्य' हो जायेगा, 'अभिसार' नही रहेगा। यहाँ दुकेले आने का सवाल नहीं उठता। उस दूसरे को कैसे कहूँगा कि यह नदी नहीं, मेरी द्वितीया है, मेरी मध्यमा है। यह भी क्या विज्ञापित करने की चीज है।

और वह दूसरा बन्धु मेरे अभिसार की वात जानते हुए परिवेश को अपनी अखवारी चर्चा द्वारा शरविद्ध करता रहेगा और मैं 'बोर' हो कर अपनी गुणमयी वसी या सुरमयी वशी को एक ओर रख दूँगा और मैत्री की यन्त्रणा का भोग करूँगा। मेरा मित्र समझता है कि सविधान ने उसे मुझे अखवारी चर्चा द्वारा 'बोर' करने का जन्मसिद्ध अधिकार दिया है। वात भी कुछ ऐसी ही है। सविधान वनाने वालो ने 'जीभ' की स्वतन्त्रता का वडा ध्यान रखा है। पर मनुष्य के दूसरे मौलिक अधिकार 'कान' की स्वतन्त्रता के वारे में चुप हैं। शोरगुल और जयजयकार की राजनीति में दीक्षित उन महापुरुषों को यह खयाल भी नही आया कि किसी नागरिक

को 'वोर' करने का अधिकार अन्य नागरिक को नही। अत मेरे मित्र संविधान-प्रदत्त बल द्वारा मेरे शीश के ऊपर ज्ञान का श्रीफल फोड़-फोड कर खायेंगे और मैं खोपडी सहलाता रहूँगा। भला इस ज्ञान से मुझे क्या लाभ कि आज कलकत्ते में साम्यवादी शैली में बलात्कार की तेरह घटनाएँ घटी, आज भूपेश गुप्ता सभा में ढोलक पर नारे लगाये, आज राजनारायण जी ने सभा में अमुक की बाँह चढा कर धमकी दी और अमुक जगह पर इन्दिरा जी ने कहा कि देश उन के नेतृत्व में बड़ी भीषण गति से आगे बढ रहा है। जो विज्ञापन में पुण्य घोषित होता है, वह आँख के सामने पाप बन कर नाच रहा है। यह सब सुनने-जानने से अच्छा है कि बाग़ की घास काटी जाये, या बैठ कर मक्खी ही मारी जाये। पर मक्खी मारने में कोई आत्मिक समृद्धि नज़र नही आती, अतः मैं नदी के पास वक़्त काटने आ जाता हूँ। ध्यान और मौन की भी कीमत होती है। इन का भी कुछ महत्त्व है। ध्यान और मौन के मध्य ही व्यक्ति या जाति के नैतिक गुणो का विकास होता है। पर आज सारा देश बोल रहा है। गाली-गलौज की अपवित्र धारा ओर-छोर से बह रही है। झूठ इस देश की आत्मा का सहज धर्म बन गया है। होता है संघर्ष जातिवादी शैली में और विज्ञापित होता है वर्गसंघर्ष कह कर। सारे के सारे आर्थिक और वैचारिक संघर्ष प्रान्त स्तर और जिला स्तर के राजनीतिज्ञो द्वारा जाति और परिवार के माध्यम से लडे जाते हैं, फलतः इस देश के सारे वैचारिक-राजनीतिक, आर्थिक आदर्श जारज हो जाते हैं। इसी से न्याय-ईमान में विश्वास नहीं टिक पाता। ऐसी हालत में क्या अखबार पढ कर उल्लसित हुआ जाये? सिवा क्रोध और आत्मक्षय के क्या हाथ आयेगा? मेरे मित्र यह सब पढ कर क्रुद्ध होंगे और कहेंगे, "भला जब हम लोग अखबार पढ कर क्रान्ति कर रहे थे, समाजवाद का कुरुक्षेत्र फतह कर रहे थे, तो यह नीच, यह संविधानद्रोही, यह राष्ट्रकलंक 'पगला दें' के तट पर बैठा मछली मार रहा था और मौज ले रहा था।" इत्यादि-इत्यादि।

वसी लगाना धीरता की परीक्षा है। मछली के फँसने के पहले अपने को फँसाना पडता है। पन्द्रह मिनट, वीस मिनट या आधे घण्टे तक प्रतीक्षा करनी पडती है, तब कही कोई मछली चारा निगलती है। सच तो यह है कि यह लीला-रस है। यह एक आशिकवाजी है। मैं इस नदी के साथ, इस की मछलियो के साथ गाहे-वगाहे आशिकवाज़ी करने घण्टे-दो-घण्टे के लिए आ जाता हूँ। एक थे कोई मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ के गुरु और एक कामरूपी धीवर। इन के नाम एक भणिति चलती है कि ये कामरूपी धीवर थे, लोहित अर्थात् ब्रह्मपुत्र में मछलियाँ मारते थे और खेचरी-सिद्धि के आकाश में विहार करते थे। मैं भी अपनी नदी में आखेट-लीला का सुख लेता हूँ। मैं वक्त काटता हूँ और वक्त मुझे काटता है। यही हमारा विहार है। मैं काँटे में चारा लगा कर डोर ढोली कर के पानी के भीतर काँटा उतार देता हूँ। डोर का मध्य भाग और 'सूचक' या 'काठी' (डोर में बँधी दो इच की शलाका जिसे असमिया में 'पुड' कहते हैं) दोनों सतह पर तैर रहे हैं। सूचक तैरता रहता है और मैं प्रतीक्षा करता रहता हूँ "आ मेरी प्यारी, आ मेरी मछली रानी, तुम्हारे पद्मवर्ण लाल होंठ, तुम्हारी रजतवर्ण देह, चाँदी के झलमलाते अगवस्त्र, तुम्हारी उन दो आँखो जैसी चपल-चटुल भंगिमा जिन की रोज़ जय मनाता हूँ ('चटुल चक्षुर्विजयते !') और सव से वढ कर तुम्हारा गुदाज स्वादिष्ट शरीर . , मेरी प्रिया, ये सव सार्थक हो जायेगे, यदि तुम प्रेम के इस काँटे से विद्ध हो जाओ। आ मेरी प्यारी मछली आ जा ! हम एक दूसरे के लिए ही रचे गये हैं ! तू एक वार आ जा !..." मैं रति-प्रार्थना-चाटुकार प्रियतम की तरह मन ही मन सवाद वोल रहा हूँ, फुसला रहा हूँ, पर वुद्धि निर्मम क्रूर ढंग से सजग है और आँखें वार-वार सूचक की ओर देख रही है। जव कोई मछली चारे को निगलेगी तो उस के भार से सतह पर तैरती डोर सूचक के साथ पानी में डूब जायेगी और तव मैं जो अव तक मन ही मन प्रेमिका को सहला रहा था, उस के

केशों में चाटुता के फूल गूँथ रहा था, एक झटका दूँगा जिस से काँटा अच्छी तरह गले में विंध जाये। और तब खींचो ऊपर! अब मछली रानी मुट्ठी में है। इस नाशिकबाजी का उपसंहार बड़ा ही निर्मम है। पर यही जीवधर्म ही नहीं, प्रेमधर्म भी है। हम 'यूक्राइस्ट'-संस्कार में रोटी और शराब का भक्षण मसीहा की देह मान कर करते हैं। रोटी मसीहा की देह है और शराब उस का रक्त। इस लिए कि वह जो हमें इतना प्यार करता है, हमारे रक्त-मांस का, हमारे अस्तित्व का अविभक्त अंग बन जाये, वह मसीहा हमारी आत्मा और मन में तो है ही, हमारे रक्त-मांस में भी निवास करे, जिस से सारा अस्तित्व ही देवता या प्रियतम से लिप्त, व्याप्त, सम्पृक्त और आच्छादित रहे। यज्ञीय पशु में देवता का आवाहन कर के उस का भक्षण इसी दैवी शक्ति के आहरण के लिए करते थे। सो, चरमबिन्दु पर प्रेम और वैराग्य में कौन अधिक क्रूर और निर्मम है, कहना कठिन है।

मैं तो इस 'पगला दै' नदी के तट पर प्रेम व्यापार के लिए ही आता हूँ। पर यह मत्स्य-कन्या, यह छोकरी, यह नखरेबाज घण्टों देर लगाती है चारा काटने में। जितनी देर तक यह नाज़-नखरा चलता रहता है, जितनी देर तक यह प्रतीक्षा चलती रहती है, उतनी ही देर तक लीला-रस की कविता है, उतनी ही देर तक मेरी वंसी 'उज्ज्वल नील मणि' है। मछली के चारा काटते-काटते इस की भूमिका बदल जाती है और यही वंसी पैंतरा बदल कर 'कुट्टनी मतम्' का व्यवहार अपना लेती है। मछली चारे की गन्ध पा कर पास आती है, इस के चारों ओर चचल गति से तैरती रहती है। इसे एक बार, दो बार, तीन बार छू-छू कर लौट जाती है। कम्पित हृदय, काम-थर-थर गात! "हाय रे प्रेम तू ने हृदय जीत लिया और जीत कर भी तेरा भय नहीं जाता!" "जय करे तबू केनो तोर भय जाय ना, हाय रे भीरु प्रेम, हाय!" मत्स्यकन्या, हृदय-भीरु मत्स्यकन्या चारे को छू-छू कर लौट जाती है, सूचक हिल-हिल उठता

है और मैं झूठमूठ सावधान होता रहता हूं। यह छू-छू कर लौट जाना कुछ देर चलता रहता है। पर आखिर वह क्षण आ ही जाता है, जब मछली रानी चारा निगल लेती है, गलफड में कांटा धंस जाता है और उस की झूलती देह के भार से सूचक तेजी से पानी में डूबता है और प्रेमी के हाथ गोंद से ऐंठी हुई, कडे सूते की पतली डोर को ऐसा झटका दे देते हैं कि कांटा और चुभ जाये और तब ?.. तब छटपटाना व्यर्थ है। इस तरह बारहवानी शुद्ध सोने जैसा निकषित प्रेम-व्यापार सम्पन्न होता है।

मुझे क्रोध आता है उन लोगों पर, जो हथगोलों और क्रैकरो से मछली मारते हैं। पहाडी सोतों में या नदी की छिछली धारा में बने जलगर्तों में, जिन में पानी सड़ता है, मछलियो के पुंजीभूत समूह निवास करते हैं और इन जगहों पर जा कर 'क्रैकर' विस्फोटित करने से सैकडो घायल मछलियां पानी के तल पर एक साथ आ कर तडफड़ाने लगती हैं। फिर उन के मुरदे बटोर लिये जाते हैं। इस विधि में न तो रस है, न लीला है। सीधे-सीधे हत्याकाण्ड है। जिसे सहला कर मार सकते हैं उसे गंडासे से काट-काट कर मारने में क्या रखा है? मैं तो कामरूपी धीवर हूं। मैं तो प्रगतिशील और आधुनिक नही। मैं इस नदी के तट पर बैठा रहता हूं कि कही से कोई सुडौल देहछन्द वाली इस गुणमयी बंसी के प्रबल आकर्षण से खिच कर चली आये। यद्यपि यह नदी कभी-कभी मेरे साथ मज़ाक़ भी करती है, उत्फुल्ल-थरथर हृदय से डोर ऊपर खींच रहा हूं, पर कांटे में जो लगी चीज आयी है, वह घोंघा-सिवार या अन्य कोई अपदार्थ है। तो भी इस नदी की महिमा है। यह नदी माया है, जो मुझे सात नाच नाचने को बाध्य कर देती है। चारा नदी देती है—कीट-सेवार आदि। निगलने वाली प्रेमिका मछली रानी भी नदी से ही आती है। पर मैं नदी से बाहर हूं। मैं महज़ इस के तट पर बैठा हूं। मैं कामरूपी कैवर्त हूं। विकृत देहधर्मी बोद्ध वज्रयानी नहीं, सिद्धाचारी नही, शुद्ध

कामरूपी मत्स्येन्द्रनाथ ! पट्ठे, लँगोट सच्चा रहे ! मोह के शरासन चारो ओर तने हैं। आगे नौ लाख अप्सराएँ नृत्य कर रही हैं, "सव्याज सन्दर्शित मेखलानि !" पर मन की पृष्ठभूमि में आत्मा का विशुद्ध शतदल है, 'सहज' का अखाडा है। 'नौ लाख पातुर आगे नाचे, पीछे सहज अखाडा ! पट्ठे, जी भर कर नाच देख ले, पर देखना, सहज का अखाडा न डिगने पाये, लँगोट सच्चा रहे !'

असमिया संस्कृति अर्थात् सरसो के तेल की संस्कृति, खूब झार-झरार, चटक तीखी और स्वादिष्ट ! स्मरण रहे कि सरसों के तेल को पूर्वी उत्तर प्रदेश में 'करुआ तेल' या 'कडुआ तेल' कहते हैं, जब कि बंगाल, असम में इस का नाम है 'मीठा तेल'। पर इस संस्कृति और इस तेल—दोनों की मूलभूमि है वह देश, जिसे पहले कान्यकुब्ज देश कहते थे, आज उत्तर प्रदेश कहते हैं। प्रोफ़ेसर निर्मलकुमार वसु ने भारतीय संस्कृति का विभाजन तेल-घी के आधार पर किया है। प्रथम—सरसों तेल (असम, बंगाल, उत्कल), द्वितीय—तिल तेल (गुजरात, महाराष्ट्र), तृतीय—तिल और नारियल तेल (दक्षिण भारत), और चतुर्थ है घी—(हिन्दी प्रदेश), जहाँ घी का स्थान 'डालडा' ले रहा है या ले चुका है। इस का प्रभाव भोजन-रुचि पर भी पडा है। घी माने रोटी, दाल और मास का प्राधान्य, सरसों तेल माने भात और मछली का प्राधान्य। और असमिया संस्कृति में तो दो ही भोजन-प्रतीक हैं। एक है मछली, दूसरा 'खार' अर्थात् खाने वाला सोडा। यह देशी सोडा केले के रूखे पत्तों को जला कर बनता है। इस से सब्जी और मछली का स्वाद चटक हो जाता है। असम प्रदेश में मागुर, रोहित, बरारी, रूपही आदि का विशेष प्रचलन है। पर ब्रह्मपुत्र और उस को सहायक नदियो में वे सब मछलियाँ पायी जाती हैं, जो गंगा में मिलती हैं। पास ही वर्मा की इरावदी में मछलियो की जाति और रंग-रूप भिन्न हो जाता है। भारतीयता भारतवर्ष के मनुष्यों में भले ही न हो, पर जलचरो-वनचरों और पेड़-पौधों में अद्भुत आकृति-

साम्य, रुचिसाम्य और व्यवहारसाम्य है। निसर्ग ने समस्त भरतखण्ड को मय पाकिस्तान एक इकाई के रूप में रचा है। अब हम उसे चाहे हिन्दुस्तान-पाकिस्तान में बाँटें, या पंजाब-हरियाना में, या कुछ में।

मछली आर्य भोजन परम्परा का अंग नहीं। आर्य जौ, गेहूँ और मांस खाने वाली जाति थी। पर भारतवर्ष में आ कर उन्हें मछली और भात द्वारा प्रकृति ने भारतीयता की दीक्षा दी। 'नोर', 'मीन' आदि द्रविड शब्द हैं, जो संस्कृत शब्दकोश में आ गये हैं। यद्यपि इन बातों का मात्र बौद्धिक महत्त्व ही है। तथ्य में आज हम सब लवणाम्बु की तरह एक हैं। मैं उतना ही द्रविड हूँ, जितना राजा जी और करुणानिधि आर्य हैं। पर ऐतिहासिक दृष्टि से वर्तमान भारत के शरीर के साढे तीन हाथ-विस्तार में एक हाथ आर्य है, एक हाथ द्रविड, एक हाथ आग्नेय (निषाद) और आधा हाथ मंगोल (किरात)। ये सब मिल कर राष्ट्र-शरीर की रचना करते हैं। मुझे लगता है कि इन में निषादों का (मुण्डा, कोल, खासी, ज्यन्तिया आदि मध्य प्रदेश और असम की आग्नेय अर्थात् 'आस्ट्रिक' भाषा परिवार की जातियाँ, जिन के लिए पण्डितों ने 'निषाद' शब्द चुना है) हमारी भोजन संस्कृति में जो अवदान है वह है मछली। असम की बडो, कछारी, खासी, ज्यन्तिया आदि जनजातियाँ मछली को देवता स्वरूप मानती हैं और अनेक लोककथाओं की नायक-नायिका मछली ही है। (देखिए 'असमिया लोक संस्कृति' : विरंचिकुमार बरुआ) खासी जयन्तिया आदि मानते हैं कि उन का राजपरिवार मत्स्य वंशी है, उन के आदिम राजा मछली की सन्तानें हैं। इस के सम्बन्ध में एक कथा भी है। बडो और कछारी मानते हैं कि 'लक्ष्मी' (धान्य या अन्न) तथा 'मछली'—दोनों सगी बहनें हैं। मिकिर पहाडों के लोग मछली को आद्याशक्ति के रूप में मानते हैं। नागाओं में मछली के सम्बन्ध में अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। प्राचीन कामरूप में कामदेव की पूजा होती थी मत्स्य ध्वज के रूप में और गौहाटी से बीस मील दूर वहीं पर मदनकाम मन्दिर

के भग्न-अवशेष भी सुने जाते हैं। ब्रह्मपुत्र की घाटी के असमिया अर्थात् ब्राह्मण, कायस्थ और कलिता आदि आर्यवंशीय हैं। भौंहो के घने रोम और नुकीली या अर्ध नुकीली नाक आज भी विहार-उत्तर प्रदेश की ओर इशारा करती हैं। आर्यो की यज्ञभूमि का विस्तार सदिया तक जाता है (योगिनीतन्त्र)। इन के अन्दर भी तेरहवी का श्राद्ध-भोज मत्स्य-स्पर्श का भोज है। विवाह के समय, अष्टमगला ('हरदो-मटमागर) का भोज भी विना मछली के नही होता। हरिद्रालेपन और अष्टमगला या पंचमंगला का भोज सारे भारत में है। परन्तु मछली को इस अवसर पर अनिवार्यता असम में ही दी गयी है। क्योकि, भाषा और खानपान में असम आस्ट्रिक-मंगोल संस्कृति द्वारा सर्वाधिक प्रभावित प्रदेश है। हमारी भारतीय कला में मीन-मिथुन निषादों से, नागवल्ली और पद्म द्राविडो से, पीपल-वट-मयूर-वृषभ, यहां तक कि 'स्वस्तिक' भी मोहनजोदडो, हडप्पा वाले अनार्य भारतीयो-से आते हैं तो फिर आर्यो का है क्या ? केवल एक वस्तु, जिस के कारण आर्य वाजी मार ले गये और वह है 'वाक्' या छन्दमयी भाषा ! अतः अँगरेजी वनाम हिन्दी की जो लडाई चल रही है उस का अर्थ वडा ही व्यापक और वडा ही गहरा हैं। हमें वडे से वडा अनर्थ कर के भी 'वाक्' की रक्षा करनी ही है। दु शासन हमें हमारा प्राप्य देने को तैयार नही।

ईसाई धर्म-साधना में मछली एक रहस्यमय प्रतीक के रूप में पूज्य है। यह 'प्रभु का आशीर्वाद' अभिव्यक्त करती है। प्रभु हमारा पिता है, इस लिए सच्चे दिल से की गयी हर प्रार्थना वह मजूर करता है। ऐसा हो नही सकता कि "हम रोटी मांगें और पिता पत्थर दे, हम मछली मांगें और पिता हमारे हाथ पर साँप रख दे।" अत मछली प्रभु द्वारा प्रदत्त श्री या प्रसाद की प्रतीक है। इस के विपरीत हिब्रू लोग मछली नही खाते। यो मछली यूरोप में भी सुखाद्य है, परन्तु भात का सहयोग अधिक न पा कर वहां उतना महत्त्वपूर्ण नही वन सकी है, जितना चीन,

जापान और हिन्दुस्तान में। शेक्सपियर का एक पात्र रसिकतावश एक पात्री से कहता है, "अरी सुनो, मछली तो कमर के नीचे ही स्वादिष्ट होती है।" साधारणत मछली का मध्य भाग ही सुखाद्य होता है, पर कुछ मछलियों के मुण्ड की वडी महिमा स्थापित हो गयी है। पूर्वी भारत में लोग हाथ की उँगलियाँ अर्ध सम्पुटित कर के कहते हैं : 'रोहित के दो मुण्ड, घी और लौंग से तर वासमती का भात और 'सजाव' दही! अह, अपूर्व!' और इस तरह कह-सुन कर के हम सभी अप-युग और अप-संस्कृति को कोसते हैं। क्या किया जाये आखिर? इस देश से जब खाने-पीने की सारी लहार-वहार चली गयी तब मेरी माँ की सौत अर्थात् मेरी क़िस्मत ने मेरे जन्म पर मंजूरी की सही करते हुए कहा था, "जा वेटा, जा हिन्दुस्तान में। वहाँ आकाश कुसुमो का मीठा-मीठा मधु चखना, कच्छप की पीठ दुह कर भरपेट दूध-भात खाना" और इस विमाता-आदेश का तिलक लगाये, इस गुणमयी वसी के साथ मैं अवतरित हो गया। यहाँ आ कर देखा कि मधु और दूध की तो बात क्या, इस देश से धान्य-लक्ष्मी भी रुष्ट है। यह तो गुणमयी वसी है, और यह माया-नदी है, जिन के साथ व्यथा वाँटते हुए गंगा से ब्रह्मपुत्र तक का चक्कर लगा लेता हूँ, अन्यथा अकेले-अकेले तो यह जन्म-धारण एक दुर्वह भार होता।

●

छप्पन भोगों की इतिहास-नदी

जब कोई गाँव का बडा-बूढा कहता है, "क्या जमाना आ गया है। घी-दूध लगता है, सपना ही हो जायेगा। यही मतसा गाँव है जहाँ दूध पिया और पिलाया जाता था, बेचा नही जाता था। यही दीपू राय की गली है जहाँ घी-दूध की नदी बहती थी। और अब तो कोई सीक से डुबो कर भी नही देता।" इत्यादि-इत्यादि सुन कर मुझे लगता है कि यह बूढा अपने विगत युग के गौरव का कटहल मेरे सिर पर फोड कर स्वयं बडे रौब से खा रहा है, पर इस की आँखें इन तथ्यो की ओर से बन्द है कि आज घर-घर रेडियो बजते हैं, घर-घर मैट्रिक-बी. ए. हो गये हैं, पहनने-ओढने का सलीका लोगो को आ रहा है। अरे, पहले तो तार आने पर दो मील दौडे जाते थे कालिम साहब के यहाँ उसे पढवाने। वही तो था इन का जमाना परम्परा का चिरकुट लपेटे बैल की तरह खटो और भैंसे की तरह खाओ। कभी-कभी जब बरदाश्त नही होता तो कह देता हूँ, "हाँ, हाँ यह क्यों नही कहते कि लड्डू, पेडे और मालपुए गली-गली जन-जन के प्रति हाथ जोडे टहला करते थे और पायस-श्रीखण्ड की कीचड़ आँगन-आँगन घुटने तक लगी रहती थी।" हमारे गाँव का महाकाव्य युग है दीपू राय का युग और उस के अन्तिम प्रत्यक्षदर्शी कण्टू भाँट को मरे दस वर्ष हुए। सवेरे-शाम जब कहारिनें पानी भरने कुएँ पर आती थी तो कण्टू भाँट जगत पर ढई दे कर बैठते थे और पोपले मुँह से कुटिल नेत्र भगिमा के साथ एक बार प्रति दिन नही तो दूसरे-तीसरे जरूर कहते थे...."ओह हमारा जमाना क्या था! वह सुगन्धित गमागम बासमती,

वे मसालेदार बडे, वह दही और मक्खन, वह ऊपर से केसरिया रंग की खाँड, गोया किसी ने चीनी को ही चुम्मा दे कर उसे औरमीठी, औरलाल बना दिया हो।" और वाक्य समाप्त होते-होते कोई अधेड शुद्ध 'नेवीब्ल्यू' रग की भजना कहारिन 'माहुर' शब्दों के मुखोश से अपने 'मधुर' अर्थ को ढँकती हुई झिडक उठती या कभी-कभी एक बालटी पानी छपाक से फेंक देती, "ऐ बूढे, मरने के किनारे आये, शर्म नही।" पर मृत्यु-तट को एक हाथ से टटोलते हुए भी कण्टू भाँट के दूसरे हाथ की उँगलियाँ कामना के ताल पर चटकारी देती रही। आदमी बूढा हो जाता है, छब्बीस से खब्बीस हो जाता है, रुखसार पर झुर्रियाँ पड जाती है, पर जब तक मन बूढा न हो, भाषा पोडशी ही रहती है, उस की छमाछम अदा और बाँकपन वही रहते हैं, यद्यपि जीवन बाहर से बासी फल जैसा अशोभन हो जाता है। कण्टू भाँट हमारे गाँव के महाकाव्य युग के एक पोपले मुख, बूढ़े इन्द्रधनुष थे। पर उन का मोरछली मन भीतर-भीतर बारहमासी नृत्यकलाप में लीन था। पहले कभी यह कलाप सवैये-कवित्त छन्दों में, व्यक्त होता था तो वृद्धावस्था में शादी-ब्याह, बारात, नाच, मण्डप, भोज भात, जेवनार आदि के संस्मरणो में जिन में व्यजनो और पकवानो की सघन पावस ऋतु उमड-घुमड कर बरसती थी।

कण्टू भाँट की भोज-चर्चाओ की स्मृति मुझे अपने देश के जातीय महाकाव्य युग की भोजनचर्चा का स्मरण दिला देती है। भोजन चाहे कितना भी कवित्वहीन विषय क्यो न हो, जीवन की समग्रता का वृत्त इस के बिना अधूरा है और महाकाव्यो के कवि समग्रता के वृत्त को पूरा-पूरा व्यक्त करने की चेष्टा करते है, अत ऋतुचर्या, नगर-चर्या की तरह भोजन-चर्या भी महाकाव्यो का मुख्य विषय रही है। कला-प्रधान महाकाव्यों यथा 'रघुवशम्' और 'पैराडाइज लॉस्ट' में इस परम्परा का पालन नहीं हुआ है, क्योकि उन की दृष्टि समग्रता से हट कर विशिष्टता की ओर उन्मुख रही है। परन्तु आदि महाकाव्यों में, होमर, वाल्मीकि और व्यास

की कृतियो में 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' में, भोजन-चर्या के सन्दर्भ अपने सहज स्वाभाविक रूप में या कभी-कभी काव्यमयी भंगिमा के साथ भी प्रस्तुत किये गये है। परवर्ती भारतीय महाकवियो ने भोजन का जो वर्णन किया है, वह व्यजनो और पकवानो की सूची मात्र है, क्लासिकल युग के होटलो का 'मेन्यू' है, परन्तु वाल्मीकि और होमर तथा 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' में ये वर्णन सन्दर्भ के मध्य से पल्लवित होते है और वाल्मीकि में इस प्रकरण की नाटकीय भंगिमा तो बस देखने ही लायक है। 'अयोध्या काण्ड' में महर्षि भारद्वाज द्वारा भरत का आतिथ्य सत्कार व्यजनो एव भोगों का ऐसी छटा बांध कर वर्णन किया गया है कि शेष अन्य भारतीय-अभारतीय काव्यो की भोजन-छटा इस के सामने फाल्गुन-मेघ बन कर रह गयी है। लँगोटबद्ध तपस्वी अपने दरिद्र कमण्डल से जल हाथ में ले कर सारे देवमण्डल एव ऋद्धियो-सिद्धियो को, रसो के स्वामी चन्द्रमा को तथा अन्नपूर्णा-रूपिणी सारी सृष्टि को आदेश देता है कि सब रात भर भरत का आतिथ्य सत्कार करें। कुबेर का वह चैत्ररथ वन त्रिवेणी-तट पर उन के आश्रम के आस-पास आकाश मार्ग से उतर पडता है जिस के पत्र ही आज की बनारसी-नीलाम्बरी-मयूरकण्ठी से बढ कर महार्घ परिधान है, जिस के पुष्प हीरा-रतन-जडे आभूषण हैं और जिस के सुरम्य फल दिव्य देवकन्याएँ हैं। अपूर्व आतिथ्य सत्कार वर्णित किया गया है। सारे स्वाद, सारे भोग अपने-अपने स्वतन्त्र चरित्र के साथ करबद्ध उपस्थित है। मैरेय और मधु से भरी वापियाँ है जिन के पक्के घाटो पर ढेर के ढेर मृष्ट मास के पकवान यत्र-तत्र ढेरी लगा कर रख दिये गये है। 'सीककबाब' (प्रतप्त-पिठरैश्चापि) और मृगमास, शूकर मास, मयूर मास और आज का लोकप्रिय मुर्गमास, सब कुछ है (मार्गमयूरकुक्कुटै)और इन को भून कर तल कर, छौंक कर, सेक कर हर तर्ज में प्रस्तुत किया गया है। "पात्राणि परिपूर्णानि सहस्रश्च" षट्रस व्यजन है। कही पर श्वेत दही की विशाल वापियाँ हैं जिन के पास चीनी की पक्की हौजें है, तो कहीं पायस के पोखरे

है और कही मसालेदार दही अर्थात् 'रसाले' के कुण्ड। तेजपत्र, दालचीनी आदि से गमागम सुगन्धित। यारो, बड़ी ही मौज रही होगी। परोसने-माँगने की तो झंझट ही नहीं थी। ऐसा अपूर्व योग तो ईश्वर ही सर्व-शक्तिमान् होने की वजह से कर सकता है। इतना सब युधिष्ठिर-विक्रमादित्य, अकबर-आसफ़ुदौला आदि बेचारो की औकात के बाहर की बात है।

वाल्मीकि के काव्य का 'नाभि'-संस्करण बुद्ध से भी प्राचीन है। बुद्ध भारतीय इतिहास की इतनी बडी घटना है कि कोई भी उन के बाद पैदा हो कर उन की अप्रत्यक्ष छाया से बच नही सकता था। बुद्ध के पहले भी रामकथा थी। प्रमाण है 'दशरथ जातक' जिस में बुद्ध अपने पूर्वजन्म में 'रामपण्डित' हैं, जिन की पत्नी को लंकाधिपति हरण कर के ले गया और जिस का उद्धार उन्होंने कपि मित्रों की सहायता से किया। परन्तु रामायण का वर्तमान संस्करण ईसा की प्रथम शती से कुछ पूर्व अश्वघोष से पूर्व का सा लगता है। अत. भरत के अतिथि-सत्कार और लंकाकाण्ड में वर्णित लंका की राजसी पानभूमि की व्यंजनावली तत्कालीन भारत के राजसी भोजन का चित्र उपस्थित करती है। परन्तु साधारण नित्य का भोजन दाल, भात-घी और दही ही था, मिष्टान्न एवं मास रस के साथ। तथ्य तो यह है भारतीय धर्म-साधना, साहित्य कला, वेशविन्यास, प्रणय शैली की तरह पाक कला और व्यजनावली भी आज तक अविच्छिन्न अपरिवर्तित चली आ रही है। वैदिक युग से ही 'सत्तू' (भाषा-सूक्त का 'शक्तु') भुने अन्न या 'धाना' (भोजपुरी में अब भी 'दाना' कहते है) पुरोडाश (आधुनिक 'चूरमा' या 'मलीदा') पायस (परमान्न) दही भात और मासोदन (पुलाव) आज तक चले आ रहे हैं। भात बनाने की तरह-तरह की क़िस्मों का उल्लेख सब से पुराने उपनिषद् 'बृहदारण्यक' में मिलता है : क्षीरोदन, दधि ओदन, घृतायित दधि-ओदन, तिलोदन और मास घृतोदन। ऋषि कहते हैं कि कोई चाहे कि मेरा पुत्र पण्डित, यशस्वी

सभाओ-एसेंबलियो में जाने वाला, प्रसन्न वाणी का वक्ता, सर्ववेदो का अध्येता तथा परमायु हो तो पति और पत्नी—दोनो (संभोगपूर्व) साथ-साथ मास-घी और भात को पका कर 'मासोदन' खायें। आगे बताया गया है कि मास ऊक्षा 'ऋषभ' अर्थात् 'सेचन समर्थ पुंगववृषभ' (शकराचार्य की टीका) का हो। कहने का तात्पर्य यह है कि वैदिक आर्यो का ही खाना दरिद्र बद्दू या जंगली नही था। यो सर्वसम्मानित भोजन थे कृष्णसार-मास, पायस और सत्तू। साम स्वरो की रचना करने वाले 'सातूखोर' थे। आटा और सत्तू अभारतीय आर्य परम्परा में भी सम्मानित रहे हैं। सत्तू का सिक्का 'भाषा सूक्त' (ऋग्वेद १०।७१।२) स्वीकार करता है—'जैसे चलनी द्वारा सत्तू को परिष्कृत करते हैं, वैसे ही सुधीजन बुद्धि द्वारा भाषा (परिष्कृत कर के) प्रयुक्त करते हैं।' मछली द्रविड सस्कृति का आशीर्वाद है। अत. सुखाद्य होने पर भी वैदिक श्रेष्ठता जो कृष्णसार या आज्य मास, परमान्न और सत्तू को प्राप्त है, इसे प्राप्त नहीं। आज उत्तर भारत में सत्तू किसान सस्कृति का प्रतीक है, और मछली बाबू सस्कृति का, और भारत के श्रम-विमुख जीवन-दर्शन के वशधरो द्वारा 'सातूखोर' शब्द एक विशेष सन्दर्भ में उच्चारित किया जाता है।

बुद्ध के समय भारतीय भोजन अपनी वैदिक सादगी को छोड कर राजसी रूप ग्रहण कर रहा था। राजगृह में होली के दिन भिखमंगे तक मालपुए खाते थे, पर बुद्ध को नजरो में बढिया चावल का भात और मास रस ही श्रेष्ठतम भोजन ज्ञात होता है। वह अपने एक विरोधी माणवक को डांट कर कहते है, "क्या वे ऋषिगण तेरे या तेरे गुरु की ही तरह बढिया भात, मास का शोरबा और कालिमारहित (केसर वर्णी) दाल का भक्षण करते थे, अगराग लगाते थे, पचास्वादन से युक्त लिप्त और आवृत्त रहते थे?" (दीर्घनिकाय, अम्बट्ठ-सुत्त) बुद्ध युक्ताहार-विहार के प्रवक्ता थे, आहार में मास से उन को परहेज नही था और

उन की मृत्यु भी अर्धसिद्ध मास के खाने से हुई थी । पर शायद श्रमणों के उपयुक्त भोजन इसे नही माना जाता था । बुद्ध के हजार वर्ष बाद ह्वेनसाग ने अपने यात्रा वृत्तान्त में लिखा है कि नालन्दा के प्रत्येक विद्यार्थी को बडे-बडे दानो वाला श्वेत सुगन्धित चावल, गेहूँ, जायफल, सुपारी, कर्पूर, घी तथा तेल प्रचुर मात्रा में दिया जाता था । सुखाद्य के विना सद्विद्या कैसे आयेगी ?

बौद्धों का भारतीय पाक-कला में कोई अलग से योगदान नहीं, पर उन्होंने भोजाचारिकी अर्थात् भोजन करने की सम्यक्-सयत कला को विकसित किया । मौन हो कर भोजन करो, सचेत आस्वाद के साथ भोजन करो, भोजन लील्ना या भक्षण नही, आसुरी या पाशविक कर्म नही, वल्कि सहज आस्वादन है, 'ध्यान' है, यह 'बुद्ध-हृदय' का स्वाद है, मौन में 'बुद्ध-हृदय' का अनुभव होता है, अत अनुभव करते हुए मौन के मध्य भोजन करो । यही नही आज के भारतीय भोजों के शुद्धाचार और पक्ति के नियम भी बौद्ध शीलाचारिकी के निकट लगते हैं । यह शीलाचारिकी आज भी चीनी-जापानी संस्कारो में 'ज़ेन शैली' के रूप में है । भोजन जूठा नही छोडना चाहिए, यह नियम जापानियों ने भारत से सीखा है, बौद्धधर्म के माध्यम से । पर भारत में ही आज कुछ पुराने लोगो को छोड कर जो अन्न को देवता मान कर छोडते नही, यह नियम सर्वाधिक तिरस्कृत है ।

पाक-कला और व्यंजनावली में हिन्दू, बौद्ध, जैन सब की सयुक्त परम्परा है । जैसे साहित्य में नव रस हैं, वैसे ही भारतीय भोजन में षट्रस है, और छह रसो के ढाँचे में राजस और साधारण स्तरो पर प्रयोग तो आज तक होते रहे हैं । रसगुल्ला को आविष्कृत हुए मात्र एक सौ वर्ष के लगभग ही हुए हैं । परन्तु आधारभूत व्यजनों का रूप जो वैदिकोत्तर युग में शुरू होता है, गुप्त काल तक आते-आते स्थिर हो गया लगता है और आज तक वही चल रहा है । भारतीय पाक-कला के तीन

दौर है,—सादा स्वस्थ वैदिक युग, क्लासिकल राजसी वैदिकोत्तर युग और अन्त में तीसरा महान् युग, मुग़लाई खाने के रूप में, जब तुर्क और ईरान के सूपकारो ने मुग़ल और तत्कालीन अमीरो की पाकशाला में भारतीय मसाले, घी, बेसन तथा मास के माध्यम से वह परम्परा स्थापित की जिस से आज तक दुनिया दंग है। दुनिया में तुर्की खाना श्रेष्ठ माना जाता है, परन्तु सम्मानित विदेशी भोजकों ('गूरमे') की राय है कि हिन्दुस्तानी खाने के सामने वह भी झक मारता है। क्यों न हो ऐसा? प्रकृति ने चीनी और मसाले हिन्दुस्तान को छोड कर और किसी को दिये कहाँ? कही मिर्च है तो कही पुदीना। ये गरम मसाले मनुष्य जाति के इतिहास में अजब-अजब होली-दीवाली खेले हैं और इन्ही के लोभ में इतिहास दाये-बाये पूरब-पश्चिम मोड लेता रहा है। एक घटना याद आती है। गॉथों के कबीलो ने रोम को घेर लिया। सन्देशा भिजवाया: 'इतने मन सोना दो, नही तो हमारी मशाले और नगी तलवारें ज्यादा इन्तज़ार नही करेंगी।' रोम के सामन्त चिन्तित हो उठे। आखिर इतने मन सोना कहाँ से आये? फिर सन्देशा गया: 'अच्छा सोना नही तो उतने मन भारतीय मसाले दे दो।' बस क्या था, रोम के बन्दरगाह में लगे भारतीय जहाज़ो की बोरियाँ उतरने लगी; रोम जल कर खाक होने से बचा और रोमन तरुणियो और शिशुओं के राहु-केतु लौट गये। पर इतना होते हुए भी भारतीय व्यजनावली का सब से बडा दोष है इस के असख्य भेद-उपभेद, साहित्य की नायिका भेद की तरह। एक रसगुल्ले के या सन्देश के मूल रूप की पचासों 'काट' तरह-तरह के नामो से चलती है।

भारतीय महाकाव्यो में नारी के रीतिबद्ध नख-शिख वर्णन की तरह खाद्य सूची भी रीतिबद्ध ढंग से प्रस्तुत की गयी है। परन्तु पश्चिमी महाकाव्यो में भोजन की तालिका न दे कर, भोजन कर्म को ही महत्त्व दिया गया है और भोजन क्रिया के भावात्मक और सन्दर्भ-गत मूल्यो को ध्वनित

करने की चेष्टा की गयी है। होमर की सूची वाल्मीकि की तुलना में अधिक दरिद्र है साधारण रोटी, भुना मांस, मधु छेना और अंगूर तथा नीलवर्णी मदिरा। यह सादी सुगन्ध, स्वस्थ व्यंजनावली हमें वैदिक युग की याद दिला देती है। होमर ने भोज्य पदार्थों से ज्यादा उन से प्राप्त तृप्ति और प्रतिकूल सन्दर्भ में उन से जुटी तृष्णा को ही वर्णन का नाभि-बिन्दु बनाया है। भोजन की राजसी तालिका और भोजन से प्राप्त तृप्ति-सुख दोनों में वही फर्क है जो नख-शिख वर्णन और प्रणय प्रक्रिया के बीच है। प्रणय-प्रक्रिया 'रति' नामक स्थायी भाव का सगुण रूपान्तर है जब कि नख-शिख वर्णन 'उद्दीपन' मात्र है, रति की कच्ची सामग्री है। खाद्यास्वादन, क्षुधा, तृषा, घोर तृषा, क्षुधानिवृत्ति, तृप्ति, स्वादसुख एवं क्षुधित क्रोध की अभिव्यक्ति भारतीय साहित्य में नवलेखन के माध्यम से ही आ रही है। पूर्वजों ने इसे काव्य की निषिद्ध भूमि बना कर रखा था। पर यह उन की एकांगी दृष्टि का परिचायक है। यदि रतिक्रिया और सुरत-वर्णन जो ह्रासोन्मुखी बाणोत्तर संस्कृत साहित्य में 'लिबिडो' का रूप धारण कर लेते हैं, काव्य के लिए ग्राह्य है तो क्षुधा, तृषा, खाद्यास्वादन और तृप्ति क्यों नहीं कवि कर्म का अंग बने ? पर शायद उन दिनों हिन्दुस्तान भूखा नहीं था इस लिए 'रोटी' उस के लिए रोमाण्टिक तृषा का विषय नहीं हो सकती थी। विरही यक्ष को भी मध्य प्रदेश के रामटेक पर्वत की मालभूमि पर भी रोटी मिल ही जाती क्योंकि इस भूमि के बारे में आज भी कहते हैं—"मालवभूमि गहन गम्भीर। पग-पग रोटी मग-मग नीर।" और गंगा के कांठे की अन्नपूर्णा बाणभूमि की तो बात ही क्या है। पर आज रोटी रोमाण्टिक तृषा का विषय-बिन्दु हो गयी है। "तुम्हारे प्यार का स्वाद गरम रोटी जैसा" या "तुम गरम रोटी जैसी स्वादिष्ट हो।" ऐसी पंक्तियां मेरी समझ से सघन रोमाण्टिक भावबोध से सम्पृक्त हैं। आज ही नहीं, सदैव भोजनकर्म और रतिकर्म दोनों एक तरह की क्रियाएँ है, दोनों ही क्षुधा-तोष है, दोनों में भोक्ता और भोज्य परस्पर एक दूसरे को खाते

हैं। सीमा के भीतर रतिकर्म देह के भीतर की अमृता कला का भक्षण है और भोजनकर्म सृष्टि के मध्य की अमृता कला का। पर सीमा से बाहर होने पर दोनों घातक हो जाते हैं। इसी से 'तैत्तिरीय' के ऋषि का कथन है . 'हम और अन्न, दोनों परस्पर को खा रहे हैं।'

प्राचीन ग्रीको को होमरीय और क्लासिकल दोनो युगो में प्रणय अर्थात् नारी के प्रति रूमानी प्रेम का ज्ञान नही था। यह अद्‌भुत उन्मादक मादन तो सूफी प्रभाव से अरब के माध्यम से यूरोपीय साहित्य में प्रवेश करता है। ईसाई मध्य युग के पूर्व यूरोपीय साहित्य में 'प्रणय' नही 'रमण' है, विरहकाव्य नही रमण-तृपा है। और जहाँ तक आदि कवि होमर का प्रश्न है, उस में तो 'रमण' भी परिधि पर ही है। केन्द्र में है साहस, अभिमान, भय तथा करुणा। प्रेमिका से ज्यादा महत्त्वपूर्ण है सहयोगी और सहचर। आदिम युग का वातावरण ही ऐसा था। कुछ-कुछ ऐसा वातावरण ऋग्वेद के मन्त्रो मे मिलता है। सौन्दर्य-बोध अर्थात् सुन्दरी हेलेन और सुन्दरी उपस् के प्रति होमर या वैदिक ऋषि का आकर्षण उद्दीपन मात्र है स्थायी भाव नही। यही कारण है कि होमर के दोनो महाकाव्यो मे युद्ध और भोजन को रति या रमण से अधिक स्थान दिया गया है। कवि के टोन से, कथन के हावभाव से लगता है कि होमर 'रमण' को उतना या उस से भी कम महत्त्वपूर्ण मानता था जितना हम भोजन को मानते है। आहार-निद्रा-मैथुन तीनो समान रूप से सहज स्वाभाविक जीवधर्म है—इस से ज्यादा होमर मानने को तैयार नही।

"जब सृष्टि में वसन्त का आनन्द छा जाये
और हमारी भोजनशालाओं में गायको की वीणा बजती रहें,
और हमारे सम्मुख रोटी, भुने मास के ढेर हो, और साक़ी
हर क्षण हमारे पात्रो को भरता हुआ गुजरता रहे,
तो जीवन का कुसुम-प्रस्फुटन यही है,
यही है जीवन का मधुरतम आशीर्वाद।" (ओडिसी)

होमर के भोजन-वर्णन में मुख्य 'मेन्यू' है, रोटी, दूल्य मास, भुना मास, मधु और शराब। यह शिविर-भोजन है। 'इलियड' में इसी का वर्णन है। पर राजकीय भोजो में इस सूची में अगूर, दही, छेना, नवनीत और अन्य फल जुड जाते है जिन में सम्भवत अजीर और किशमिश-मेवे मुख्य रहे होंगे, यद्यपि होमर इन का नाम नही लेता। पर सिकन्दर-युग के ग्रीक सैनिक भुने जौ और अजीर चबा कर किशमिश की मदिरा पीते थे। होमर के युग में मांस का 'चाप' बनता था—मांस के चकत्तो के बीच चरबी की तह दे कर। रोटी प्राय जौ की होती थी। आर्य जातियाँ, ग्रीक, ईरानी और हिन्दू तीनो मूलत जौ खाने वाली जातियाँ हैं। गेहूँ तो बाद में आता है, गोकि होमरीय ग्रीको और ऋग्वैदिक आर्यों में गेहूं का महत्त्व स्थापित हो चुका था। आज भी श्रेष्ठ और पवित्र अन्न जौ ही माना जाता है। होमर युग में छेना और मधु श्रेष्ठ भोजन थे। वरुणपुत्र राक्षसो की भोजनशाला में एकाक्ष असुर द्वारा कच्चा मांस चबा कर लस्सी पीने का उल्लेख होमर ने अपने द्वितीय काव्य ओडिसी में किया है। ग्रीको को एक विशेष प्रकार का मधुपर्क भी प्रिय था जो मक्खन, मधु, जौ का आटा और अंगूरी मदिरा, चारो को मिला कर बनता था, वैसे ही जैसे मेष-सक्रान्ति के दिन भोजपुरी क्षेत्र में जौ का सत्तू, चीनी, घी और मेवों को गाढे औटे दूध में मिला कर 'घेवडा' तैयार करते हैं जिसे ब्राह्मणो, अतिथियों और बन्धु-बान्धवो को खिलाते हैं। यों आज हालत दिन पर दिन पतली होती जा रही है। पर जिन्हें अंटता है, आज भी ऐसा करते हैं। पूरबी भारत में विष्णु पूजा का मुख्य भोग है 'शीतप्रसाद' जो केला, घी, चीनी, मधु, दूध के साथ गरी-किशमिश फेंट कर बनाते है, और साथ ही थोडा सा कच्चा आटा डालते हैं गाढा करने के लिए। 'घेवडा' और शीतप्रसाद ग्रीक मधुपर्क के भारतीय संस्करण हैं। आज ही की तरह होमरीय और क्लासिकल ग्रीस मधु का धनी था। वसन्त प्रति वर्ष आता है और ग्रीस के विविध द्वीपो की

पहाड़ियो पर उगी वनानी मधु के छत्तो से भर जाती है। होमर के काव्य में तीन वस्तुओ का उल्लेख नही है—चीनी, मसाले और दाल का। इन तीन के विना व्यंजनावली राजस् हो ही नही सकती। इसी से होमर की व्यजनावली विदग्ध और अभिजात नही, पर समृद्ध और श्रेष्ठ अवश्य है। ग्रीक जैतून का तेल खाते थे। घी का प्रयोग नही होता था। रोटी मास को ही ग्रीक भोजन माना जा सकता है। रोटी सेंकना एक कला थी और रोटी के लिए आटा गृह स्वामिनी स्वयं गूँधती थी, क्योकि आटा गूँधना सुन्दरता के अर्जन के लिए आवश्यक था। प्राचीन ग्रीक सौन्दर्य-बोध में रूप का छन्द स्वास्थ्य के छन्द का अनुगामी था। सौन्दर्य-दृष्टि पौरुष प्रधान थी। आटा गूँधना सुन्दरियो के लिए आवश्यक बताते हुए ग्रीक इतिहासकार जेनोफन कहता है, "इस से सुन्दरता और निखर आती है और शरीर सुगठित एव छन्दबद्ध हो जाता है।"

होमर के नायक पौराणिक महिमा से समृद्ध है, देवताओं के आमने-सामने या बग़ल में निर्भीक हो कर युद्ध करते है, किसी से डरते नही, मृत्यु से भी नही। वे क्रूर नियतिचक्र के नीचे अद्‌भुत साहस-क्षम जीवो सा आचरण करते हैं। पर होमर ने उन्हें यथार्थ ही रखा है। वे बावन तोले पाव रत्ती मनुष्य है। होमर ने उन की पशुता को भारतीय महाकवियों की तरह ढँकने या उदात्त करने का प्रयास नही किया है। भारतीय महाकवियो में व्यास का स्वभाव कुछ-कुछ होमर से मिलता है। महाभारत का प्रत्येक पात्र अत्यन्त सजीव एवं अत्यन्त मानवीय है। होमर का स्वर ही यूरोपीय साहित्य का सनातन स्वर है। साहित्य के चार बीज, यथार्थवाद, 'आयरनी' (विडम्बना या वक्राघात) 'ट्रैजडी' और 'साहसिकता' (रोमैंटिक एडवेंचर) जो होमर बो गया, वे ही आज भी यूरोपीय साहित्य में विविध नाम-रूपो से फ़सल-दर-फसल उगते हैं। हाँ, इस खेत में एक पाँचवां बीज भी पडा है होमर के दो हज़ार वर्ष बाद, और आज से डेढ हज़ार वर्ष पहले, मध्ययुग में। वह बीज है ईसाई भावाकुलता।

पर यह बीज एशिया से उधार लिया गया है। इस के प्रतिकूल खड़ा है भारतीय महाकवि, जो वैदिक युग से ही मनुष्य को यथार्थोत्तर, उदात्त, 'अमृतस्य पुत्रा' रूप में देखने का आदी है।

'इलियड' का प्रतिनायक हेक्टर (जिस का स्थान 'इलियड' में वही है जो मेघनाद का 'रामायण' में है) युद्ध मे मारा जाता है। उस की लाश को विजयोन्मत्त क्रूर नायक एकिलीज़ बुरी तरह घसीटता हुआ अपने खेमे में ले जाता है। रात्रि के घने अन्धकार में हेक्टर का श्वेतकेश पिता बूढा नृपति प्रायम अपने बेटे की लाश मांगने चुपके से शत्रु के पास जाता है। ग्रीक ट्रोजन सस्कृति में अन्त्येष्टि क्रिया का महत्त्व विवाह और जन्म के बराबर था, क्योकि लोगो को मृत्यु के बाद 'रूह' या जीव-प्रेत के अस्तित्व में उतना ही विश्वास था जितना जीवित अस्तित्व में। बूढे राजा के रजत केशों को देख कर नायक एकिलीज़ को अपने पिता की याद आ जाती है। वह शत्रु होते हुए भी वृद्ध के प्रति करुण हो उठता है। ग्रीक नायक विशाल पर्वत शिलाखण्डों जैसे अकित किये गये है, दृढ और देवोपम, पर ममताहीन पुरुप जैसे। इस स्थल पर आ कर होमर शिलावक्ष में करुणा का शैलजकमल खिला देता है। द्रवित एकिलीज़ वृद्ध नृपति को भोजन के लिए निमन्त्रित करता है। दोनो साथ बैठ कर भुने मास-रोटी और चरबी का आघ्राण—भोजन करते है। जन्म और मरण, सुख और दुख के प्रवाह के मध्य भोजन तो नही रोका जा सकता। यहाँ पर होमर पुरानी गाथाओ मे उद्धरण दे कर बूढे प्रायम के भोजन को युक्तियुक्त सिद्ध करता है। 'निबो' के बारहो बेटे मर गये, वह आँसुओ से तर हो गयी, पर भोजन तो उसे भी करना पडा। फिर प्रायम खेमे के बाहर लाश को ले कर जाता है और एकिलीज अपनी लूट में मिली सुन्दरी रक्षिता ब्रिजोस के साथ बिस्तर पर। यह है होमर की यथार्थवादी दृष्टि। ऐसा व्यवहार वाल्मीकि के पात्रों द्वारा असम्भव है। जीवन की समग्रता में भोजनचर्या का भी स्थान होता है। इस स्थल पर भोजन का उल्लेख होमर जीवन की

समग्रता का चित्र प्रस्तुत करने की दृष्टि से नही करता है। यहाँ पर वह जीवन के यथार्थ पर ज़ोर देना चाहता है। रुदन या ट्रेजडी यदि जीव धर्म है तो ऊपर से साहित्य द्वारा उसे और गुरुता न दे कर, भोजन-पान, आस्वादन, रतिक्रिया, पिकनिक-'सासाहान्त' आदि के वरण द्वारा इस क्रूर चक्र के मध्य किसी तरह इस जीवन को जी डालो—यही तुम्हारी गरिमा है। होमर इसी पक्ष को ढकने के बजाये उद्घाटित करता है। यह मोह-मुक्त उद्घाटन और यह निर्मम निस्संग यथार्थवाद यूरोप में बीसवी से पूर्व बायरन (उनतीसवी-शती) वाल्तेयर (अठारहवी-शती), सरवेण्टीज़-मोलियर-रेसीन-जानसन (सोलहवी-सत्तरहवी शती), लैटिन व्यंग्यकार होरेस और जुवेनल तथा ग्रीक नाटककार एरिस्टोफेनीज में मिलता है। पर भारत में 'मृच्छकटिक' में मजाक के तौर पर यह भले ही आ जाये, गम्भीर रूप से आया है सन् १९३० के बाद तीसोत्तर दशक से और परम चरम रूप में आता है साठोत्तरी के लेखक में, यद्यपि इसे कोई प्रतिभा-सम्पन्न विशिष्ट प्रतिनिधि अभी तक नही मिला। बांग्ला लेखक श्री समरेश बसु में यह अपनी उद्दामता के कारण असहज हो उठता है। उद्दामता मोह का सबूत है, मोह-मुक्ति का नही। इस के लिए कोई जार्ज बर्नार्ड शॉ जैसा स्थिर-चित्त, सशक्त, तीव्र और अ-उद्दाम पुरुष आना अभी बाकी है।

ग्रीक रचन-कला पर ईरानी और मिस्री प्रभाव, अर्थात् एशियाई प्रभाव, प्रचुर रूप से पड़ा है। ग्रीक मूलत. मेष मास और वृषभ मांस ही खाते थे। हिन्दुओं की तरह ग्रीको का विश्वास था कि 'अपोलो' (जिसे कालान्तर के हिन्दू विष्णु मानते हैं, पर जो वैदिक युग में आदित्य था) का पवित्र पशु है गाय और लगता है कि गाय की पवित्रता और उस से विष्णु में अर्थात् आदित्य का सम्बन्ध आर्य मात्र के विश्वास का एक अंग है। पर ग्रीक गो-मास वैसे ही सहज रूप से खाते थे जैसे अरबी-मिस्री सेमेटिक जातियाँ। होमर का 'ओडिसी' इस का प्रमाण प्रस्तुत करता है।

यो अरस्तू, जो होमर के हज़ारों वर्ष बाद सिकन्दर-युग में वर्तमान था, कहता है कि सारे मांसो का राजा है ऊँट का मांस। जहाँ तक तरकारियों का प्रश्न है, आलू-टमाटर को छोड कर आज की प्राय सभी तरकारियाँ प्राचीन हिन्दू और ग्रीक—दोनो जातियाँ खाती थी।

यूरोप में रधन-कर्म की मुख्य रीतियाँ है झुलसना, भूनना, सेंकना, उबालना, भाप पर पकाना, शराब में घोट कर पकाना, शोरवा लगाना, तलना और छौंकना-बघारना। और गरम तेल में छानना भी, परन्तु यदा-कदा, क्योंकि यह रधन विधि मूलत एशियाई है। इन में प्रथम चार तो आदिम है और अन्तिम चार की विकास भूमि एशिया है, पर ग्रीकों और रोमनो द्वारा इन्हे प्रियता और प्राथमिकता दी गयी है। दरअसल होमरोत्तर ग्रीक सस्कृति के हेलेनिक युग में ईरान का बडा योगदान है। ईरान कभी ग्रीको का मालिक रहा, तो कभी गुलाम। पर खान-पान-विलास में ईरानी दारा की नकल सिकन्दर के अनुगामियो ने हरेक क्षेत्र में की। ग्रीक सस्कृति अन्तर्राष्ट्रीय गुणो से दिन पर दिन समृद्ध होती गयी। ठीक उसी प्रकार है कि जब रोम ने ग्रीस को जीत लिया, तो दूसरे ही चरण में उस की राजनीतिक विजय सास्कृतिक आत्म-समर्पण में परिणत हो गयी। यही कारण है रोमन युग में अभिजात सस्कृति की भोजन शाला अन्तर्राष्ट्रीय रुचि का प्रतिनिधित्व करती है। यह रुचि मूलत. ग्रीक रुचि है जिस का केन्द्र न तो एथेंस था न स्पार्टा, बल्कि अलेक्जेंड्रिया अर्थात् वर्तमान काहिरा की ज़मीन थी। रोमन लोग न केवल मिर्च-मसाले, छौंक-बघार के शौक़ीन थे बल्कि अचार और चटनी का भी प्रचुर उपयोग करते थे। यहाँ तक कि वे करमकल्ला को (जिसे आधुनिक यूरोप प्राय उबाल कर खाता है) पकाने में जो मसाले लगाते थे मिर्च, धनिया, पुदीना, जीरा, तेजपात, 'रयू' (एक तिक्त पौधा), तेल, शराब और सब से बढ कर भारतीय नमक। भारतीय नमक रोम में बडा कीमती था और पैसा न होने पर रोमन शासक नमक के डले ही सैनिको को वेतन के रूप में दे देते थे।

नमक के लिए लैटीन शब्द है 'सेलेरियम' उसी से 'सेलरी' शब्द निकला है जिस का अर्थ होता है 'वेतन'। भारतीय कौशेय और मलमल के प्रचलन और भारतीयों द्वारा रोम के शोषण पर रोमन इतिहासकारों ने दांत पीस-पीस कर लिखा है, पर भारतीय मसालों का विरोध नहीं के बराबर था। रोमन भीषण रूप से असुरों की तरह खाते थे। खाते-खाते वमन कर देते थे, फिर खाने लगते थे। इस का सजीव वर्णन होरेस की पत्र-कविताओं (एपिस्टिल) में है या विविध संस्मरण-लेखकों की डायरियों में है। (पेट्रानियस · 'द बैंक्वेट ऑफ़ त्रिमालशियो')। इन की आसुरी भक्षण पद्धति बौद्धों की प्रज्ञापूर्ण भोजन-कला या भोजाचार की ठीक उलटी थी। इसी से क्रुद्ध हो कर ईसाई धर्म ने अति भक्षण या बहुभोजन को सात भयावह पापों में पाँचवाँ पाप घोषित कर दिया। अन्त में दिग्विजयी शस्त्रधारी रोमन सामन्तों की जबान को तीव्र और उत्तेजित करने वाली चटनी 'गारम' का उल्लेख कर हम यह प्रसग समाप्त करते हैं। यह विशेष चटनी मछली की आँतों को नमक में गला कर शराब, तेल और कई तरह के मसाले डाल कर बनायी जाती थी।

जैसे भारतीय पाककला के तीन चरण हैं, वैसे ही यूरोपीय पाककला के तीन चरण है—होमरिक, ग्रीक-लैटिन और फ्रेंच। ये तीनों चरण दो सस्कृतियों में उपजते हुए भी स्वभाव में समानान्तर हैं। फ्रेंच रईसों और सामन्तों की भोजन-शाला में यूरोपीय व्यंजनावली एव पाककला का चरम विकास हुआ है। इस की एक झलक हमें चासर के 'केंटरबरी टेल्स' में मिलती है, क्योंकि नार्मन अँगरेजी सभ्यता फ्रेंच सभ्यता की ही कलम थी। इस के बाद आता है आधुनिक युग। यूरोपीय व्यंजन पुन. होमरीय युग की सादगी की ओर लौटता है। ग्रीक-लैटिन तथा फ्रेंच युग में मसाले के जोर से खाद्य वस्तु का असली स्वाद छिपाने की चेष्टा की जाती थी। परन्तु अब यूरोप असली स्वाद ही पसन्द करता है। यह रुचि-परिवर्तन साहित्य में असलियत की ओर, मूल यथार्थ की ओर,

जाने की प्रक्रिया के समानान्तर है। कला मूलभूत, आदिम और ज्यामितिक की ओर उन्मुख होती जा रही है, तो स्वाद-रुचि भी सहज और स्वाद बोध की ओर। मसालों के रोमास से यूरोप का जी ऊब गया है। आज यूरोप उबाला हुआ, आधा उबाला हुआ, झुलसा हुआ, कच्चा खाने का पक्षपाती होता जा रहा है। रसोईघर और सस्कृति—दोनो साथ-साथ टूट रहे हैं और इस तथ्य के प्रमाण हैं टिन के डब्बे में बन्द खाद्यों की लोकप्रियता। आधुनिक रसोईघर का अर्थ है स्टोर रूम, रधन-शाला नही, जहाँ बिजली का चूल्हा प्रेशरकुकर के बावजूद राज्य है रिफ्रिजरेटर, डब्बेबन्द मास, बीन, सलाद, सूखे बिस्किट, पावरोटी, मक्खन, क्रीम आदि का, और पाककला की दक्षता स्लाइस को ठीक से काटने तथा विशिष्ट रीति या भगिमा से परिवेशन करने तक ही सीमित होती जा रही है। यह आधुनिकता का आदिममुखी प्रत्यावर्तन है। यह आदिममुखी प्रत्यावर्तन हमारी सेक्स सम्बन्धी धारणाओ, कम्यून जीवन, व्यक्तित्व-निषेध, सम्पत्ति के सामूहिकीकरण आदि के द्वारा भी व्यक्त हो रहा है। हम सहज और प्रकृत की ओर जाना चाहते हैं। पर सहज और प्रकृत को खरादने-परिष्कृत करने का ही नाम सस्कृति और सभ्यता है। सहजता और प्रकृति की ओर जाने का मतलब है पुन पीछे लौटना। इस से आधुनिक जीवन में व्याप्त आर्थिकअन्याय का प्रतिकार तो होगा, पर आत्मिक मानसिक दरिद्रता भी आयेगी।

स्वय मैं तो भोजन की दृष्टि से शुद्ध वैष्णव हूँ। पर मेरी वैष्णवता कुछ यायावरीय है। वैष्णवो का चरम उद्घोष है, "मुनि, पुनि रसन के रस लेख।" वैष्णवों की चरम प्रार्थना और चरम तृप्ति है, "भई कृपा रघुनाथ की लूचो दोनो जून!" विष्णु षोडश-शृगार, कामलोलुपता, पचास्वादन और मोहक पुनर्जन्म के आधार हैं। मुक्ति तो वह गैरों को देते है। अपने लोगो को तो पचास्वादन करने के लिए पुनर्जन्म देते हैं। कर्म, प्रगति, सन्तान-परम्परा, दूध-पूत, आशा और भविष्य के देवता

हैं। वह मनुहार-मधु और रोदन-मधु के देवता हैं। वह तृप्ति और पुष्टि, रति और तृषा के दाता हैं। भारतीय पाककला की हिन्दू शाखा के उन्नयन और विकास में वैष्णव मन्दिरो का अपूर्व योग रहा है। वैष्णव प्राय सगीत, काव्य और भोजन—इन तीन का माहिर होता है। उस के देवता का स्वभाव ही ऐसा है। इसी से मैं वैष्णव हूँ। मैं समाजवाद को लक्ष्य नही, साधन मानता हूँ। जीवन का लक्ष्य है: सुख, सुख और मात्र सुख। इसी को पुरानी भाषा में 'आनन्द' कहते हैं। क्योकि सृष्टि निरुद्देश्य मशीन नही। इस का लक्ष्य ही है लीला। जब सृष्टि ही लीला की मौज लेने के लिए बनी है तो जीवन का लक्ष्य सुख ही होगा और कुछ नही। धर्म, शासन व्यवस्था, समाजतन्त्र आदि मार्ग है, मजिल नही। अत सुख चाहे पाऊँ, या न पाऊँ, पर इसे ही चरम लक्ष्य के रूप में स्वीकार करता हूँ। इसी सुख की सद्यानुभूति के आस्वादन में विश्वास करता हूँ और इसी से हजार वर्षो से बार-बार दोहराये जाने वाला भारतीय रसिक समाज का भरत-वाक्य मेरा भी भरत वाक्य है: "हमें जन्म-जन्म में भैंस का ताजा दही, शर्करा मिश्रित दूध, मृगमास, कोमल वपु षोडशी, कालिदास की कविता और इन सब को भोगने के लिए युवावस्था प्राप्त होती... रहे" मुझे जगत् में बारम्बार आना है दही, दूध, मांस, नारी, कविता और नव यौवन—इन का षट्रस स्वाद पाने के लिए। अत यारो, आओ हम सब परम वैष्णव बनें.

"कालिदास-कविता नव वय.
माहिष दधि सशर्कर पय:।
एणमासमबला च कोमला
संभवन्तु मम जन्म-जन्मनि ।।"

यारो, यह षट्-रस मौज मुक्ति से भी बढ कर है, यह ईश्वर का ही आस्वादन है।

●

स्नान : एक सहस्रशीर्षा अनुभव

स्नान को मैं पचम पुरुपार्थ का सहोदर मानता हूँ। वैष्णवों ने चारो पुरुपार्थों से परे, ईश्वर साक्षात्कार को पचम पुरुपार्थ के रूप में देखा है। स्नान की सुखद अनुभूति भी ईश्वर साक्षात्कार के क्षण-भोग जैसी ही होती है। क्षण भर के लिए ही सही, पर लगता है कि सारा अस्तित्व अतीन्द्रियता की ओर उन्मुख हो रहा है। यह अनुभूति बहुत कुछ अनिर्वचनीय सी होती है। जल आदि भूत है, "या सृष्टि: स्रष्टुराद्या...." रूप में परमात्मा की प्रथम भौतिक मूर्ति है और स्नान करते समय इस के साथ सम्पर्क जोडना माने आदिभूत के साथ एकाकार होने की चेष्टा करना, आदिभूत के स्पर्श को मानसिक और आत्मिक स्तर पर आत्मभुक्त करने की चेष्टा करना। और शायद यही कारण है कि हम स्नान करते समय अनुभव करते हैं कि भीतर-भीतर आत्मा भी तरल हो कर प्रवाहमयी बन गयी है और हमारी स्थूलता अर्थात् भौतिक देहसत्ता विगलित और रूपान्तरित हो रही है।

यों जल की अपनी एक निराकार भावसत्ता भी है। निराकार रूप में यह ब्रह्मसत्ता है। भावसत्ता के रूप में कवियों ने दृष्टि-जल की और मरमी प्रेमियो ने 'अन्तस्' या हृदय-जल की भी कल्पना की है। 'अन्तस्' शब्द का अर्थ भी जल माना गया है। जल की सगुण और साकार सत्ता में आता है मृग-जल, जो रूप तृषा का धोखेबाज भ्रम-जल है। इस के निरन्तर नाचते जल में स्नान करने से ईश्वर मुझे क्या, हो सके तो यार दोस्तों तक को बचाये। फिर आता है अश्रु-जल, जिस के अन्तर्गत नन्हें-

मृत्तों के विकट क्रन्दन से ले कर श्रीमती के प्रणय-अश्रु और प्रेमिका का रोदन-मधु सभी आते हैं। पर इन सारे जलों से महत्त्वपूर्ण साक्षात् जीवन-स्वरूप, तृषा-हर, ताप-हर, सृष्टि-जन्म-सहोदर एवं प्राण-सहोदर जो जल है वह है अपना स्थूल जल, जिसे हम पान-प्रक्षालन-प्रोक्षण और स्नान के लिए प्रतिदिन व्यवहृत करते हैं। इन तरह-तरह के निराकार एवं साकार जलो से हम बुद्धि, मन और देह के स्तर पर तरह-तरह से स्नान करते हैं और बाहर-भीतर के कर्दम को साफ़ करते रहते हैं। यहाँ पर हम अपनी चर्चा दैहिक स्नान तक ही यथासम्भव सीमित रखने की चेष्टा करेंगे। पर जो कुछ देह स्तर पर घटित होता है उस का स्पर्श मन और बुद्धि को भी दीप्ति या छाया दे जाता हैं। अत. स्नान चाहे मन्त्राभिषिक्त अभिषेक हो, या दैनिक लोटा-बाल्टोवाला या बाथरूमस्थ मज्जन-मार्जन हो, या आलसियो की 'कठौती गंगा' की शैली में काक स्नान हो, या बहती नदी में जल का मन्थन करते हुए वीरोपम अवगाहन हो, हरेक स्थिति में लगता है मन रजोमुक्त हो रहा है। तबीयत हलकी हो जाती है, गन्दे विचार धुल-से जाते हैं, सारी ग्लानि, सारा सन्ताप, सारा प्रमाद कट जाता है और लगता है कि हम चाहें तो उड सकते है, चाहें तो धरती से एक हाथ ऊपर-ऊपर चल सकते हैं। यह एक आपाद-मस्तक अपूर्व लघिमा और मुक्ति का अनुभव है। यह अनुभव अपने में अपूर्वता, रजोगुण-मुक्ति और आत्मारामता की उपस्थिति के कारण ईश्वर साक्षात्कार के, जिसे वैष्णवो ने 'पंचम पुरुषार्थ' की संज्ञा दी है, समानान्तर सा लगता है। हाँ, मात्रा-भेद अवश्य है। परन्तु मात्रा-भेद के बावजूद यदि काव्यानन्द को योगियों के ब्रह्मानन्द का सहोदर माना जा सकता है, तो मैं प्रस्ताव कर सकता हूँ कि उसी सीमा तक स्नान को भी पंचम पुरुषार्थ का सहोदर माना जाये। ईश्वर साक्षात्कार अर्थात् पंचम पुरुषार्थ की ही तरह इस में भी साध्य-साधन भाव से परे मात्र सुखानुभूति, केवल सुख, अविचल विश्राम, चरम शान्ति, विराट् क्षमा का अनुभव होता है। अतः

मात्रा-भेद स्वीकारते हुए भी दोनों को सहोदर मानने में मुझे कोई अनौचित्य नहीं दिखाई देता।

हिन्दुस्तान एक ऐसा देश है, जहाँ स्नान को भोग और शृंगार तो माना ही गया है, धर्म और तपस्या भी माना गया है। यह षोडश शृंगारों में से एक है। इस के अभाव में सारे शृंगार अस्पृश्य और दुर्गन्धमय लगते हैं। जो सौन्दर्य का उद्घाटन करे वही शृंगार है। स्नान तन और मन के निर्मल सौन्दर्य को उद्घाटित करता है और उसे एक पावनता प्रदान करता है। इसी से यह अन्यतम शृंगार माना गया है। लाख कोई तेल-फुलेल लगावे, चोवा-चन्दन और कुसुम-शृंगार धारण करे, पाटम्बर परिधान पहने, पर यदि स्नान न किया हो तो स्वय को ही यह सब व्यर्थ और अपावन लगता है। धर्म-कर्म के रूप में स्नान का महत्त्व तो ऐसा जम कर है कि बस आफ़त है। गोया यह स्नान न हो कर स्वर्ग की सीढी हो। यहाँ तो देवपूजन, राज्यारोहण, दीक्षाग्रहण—सब के साथ अभिषेक अर्थात् स्नान मुख्य कल्प के रूप में जुडा है। यहाँ तीर्थयात्रा माने स्नानयात्रा और पर्व माने स्नानपर्व। अपने गाँव के पन्ना साहू और लगूदन अहीर भी दुर्गन्ध व्रत तोड कर सक्रान्ति के अवसर पर स्नान करते हैं और दोनो बन्धु परस्पर दुखडा रोते है "मत पूछ यार, हर साल यह 'संकरात' आया ही रहती है।" इधर हमारे देहात के डोमो की पचायत ने फ़ैसला किया है कि जो डोम प्रति दिन स्नान न कर के जाति की बदनामी करायेगा, वह कुजात रहेगा। तो देहात के सारे डोमो को तो नहाना हो पड रहा है, साथ ही हमारे बालसखा दिलदार पण्डित भी इधर प्रति दिन स्नान करने लगे है। बाध्य हो गये बेचारे! अन्यथा वे 'मन चगा तो कठौती में गगा' को ही बचपन से आस्थापूर्वक मानते आये थे।

मेरे अपने घर में 'पानी' और 'डालर' 'रूबल' जैसे नन्हें-मुन्नो को स्नान के लिए फुसलाना पडता है, तो दूसरी ओर माँ दिन में तीन बार नहाती है और मैं कहता हूँ, "माँ, तेरे देवता तो समुद्र-शय्या पर सोते हैं,

उन्हें अभ्यास हो गया है, अत सर्दी-जुकाम का डर नही, पर तू तो ऐसा नही कर सकती। तुझे सर्दी लग जायेगी।" पर मेरे इस तर्क के बावजूद वह हाथ लगी स्वर्ग की सीढी नही छोडना चाहती।

यह तो स्नान-चोरो का देश है। मनुष्य तो मनुष्य, यहां गृह-पशुओ और प्रेतो तक के लिए स्नान पर्व है। यो प्रेतो के अस्तित्व में मेरा विश्वास नही, पर मैं उस कल्पना के अन्दर अद्‌भुत् रस का आस्वादन पाता हूं, जिस के अनुसार फाल्गुन शुक्ला चतुर्दशी को मध्य ज्योत्स्ना रात्रि में ससार के पिशाचगण काशी की यात्रा करते है, स्नान पर्व मनाने के लिए। वे कालेश्वर कुण्ड पर स्नान कर के विशालाक्षी और रुद्र की अर्चना करते हैं। प्रेत-अस्तित्व का अनुभव एक मानसिक विकृति है, पर इस विकृति को भी एक बार गगा स्नान करा देना उचित ही है। अद्‌भुत कल्पना है। मध्यनिशा में चांदनी की धारा के मध्य आकाश के प्रेतो की पांत पर पांत चल रही है अपने मालिक भूतेश्वर शिव के दरबार में जुहार करने और स्नान-उत्सव मनाने। घटताल पीटती हुई, अद्‌भुत शब्द करती हुई पांत पर पांत आकाशचारी पिशाचवाहिनी कालेश्वर कुण्ड पर उतरती है, वैतरणी के तट पर झुण्ड के झुण्ड जीव-खगो की उतरती पांत की तरह। और इस ज्योत्स्नामयी रात्रि को भयावह करती हुई वे पिशाच पक्तियां अपने नेता धूर्जटी के दरबार में हाजिर हो रही है। सारा आकाश ही दरबार का मेघडम्बर शामियाना बना हुआ है और सारा गंगातट उन्मुक्त प्रेत नृत्य से भयभीत हो उठा है। सारे अविमुक्त क्षेत्र की सांस बन्द है। ज्योत्स्ना-काक अर्थात् उल्लू भी मारे भय के शान्त है। ऐसे वातावरण में महाशाप की तरह आकाश से प्रेतगण उतरते है और कालेश्वर कुण्ड में डुबकी मार कर फिर उसी गति से ऊपर उठ कर बाण-वेग से वे मणिकर्णिका की दिशा में चल देते है विशालाक्षी और रुद्र के दर्शन के लिए।

जब-जब मैं ग्येटे के 'फास्ट' मे वर्णित 'प्रेत रात्रि' (वालपर्जिस-

नाइट) को पढता हूँ, मुझे अविमुक्त क्षेत्र के फाल्गुन शुक्ला चतुर्दशी का यह प्रेत-पर्व स्मरण हो आता है। अत मुझे लगता है कि ससार की किसी भी अन्य जाति ने स्नान को इतना महत्त्व नही दिया है। भोगो में स्नान और विद्याओं में दर्शन-शास्त्र, इन दो के प्रति इस जाति का घनघोर प्रेम अति की सीमा को पार कर गया है। यह जाति प्रत्येक कर्म के पूर्व स्नान करती है और प्रत्येक कर्म के पीछे दार्शनिक युक्ति खोजती है। इस स्नान-प्रेम का मूल उद्गम वर्तमान भारतीय जाति की आदि सस्कृति निषाद-सस्कृति में है। निषादो की स्नान-शैली थी अवगाहन, अर्थात् नदी या सरोवर में स्नान। द्रविडो ने मज्जन-मार्जन को स्नानागारों में स्थान दिया और स्नान का रूप अवगाहन से प्रक्षालन हो गया।

उस अविकसित युग में भी स्नान की कला इस देश में कितनी उन्नत और कितनी लोकप्रिय थी, इस का अन्दाज़ हम मोहनजोदड़ो और हडप्पा के ईसा-पूर्व दो सहस्र पुराने स्नानागारो को देख कर कर सकते है, जिन के जल-निकास की व्यवस्था देख कर आज के अभियन्ता या इजीनियर भी मात खा जाते है। आर्यो की अग्नि-उपासना अर्थात् यज्ञ का रूपान्तर हुआ 'हवन'। निषादो और द्रविडों का स्नान-प्रेम बना 'तीर्थ'। द्रविडो की भाव-साधना बनी 'कीर्तन' या 'भजन' और आर्यो की चिन्ताशीलता बनी 'दर्शन'। इस प्रकार हवन-तीर्थ-कीर्तन-दर्शन के चार पहियों पर हिन्दू धर्म की बैलगाडी चल पडी और चलती रहेगी निरन्तर। मानता हूँ कि यह बैलगाडी ही है, रेल, ट्रक या जहाज़ नही। पर रेल अपनी गति के बावजूद कितनी ईश्वरनिरपेक्ष, उदास, निस्सग तथा अमानवीय लगती है। लम्बी बन्द, श्मशान जैसी उदास और भयावह मालगाडी की अपेक्षा गुलजार-'मनसायन' और सजीव बैलगाडी ईश्वर और मनुष्य के अधिक निकट लगती है। रेलगाडी के लौह मृदग में मशीन का आर्तनाद है, तो बैलगाडी के गति-स्वरों में मनुष्य और प्रकृति के पारस्परिक सहयोग की साँसें बजती है।

आज साधारणत स्नान के माने होते हैं आदि महाभूत जल में स्नान। परन्तु भारत के स्मृतिकारो और आयुर्वेद के पण्डितो को इतने से सन्तोष नही हुआ और उन्होंने पंचमहाभूतो में स्नान करने की व्यवस्था दे दी और इस के वाद मन और वुद्धि में भी स्नान करने की वात कह कर सात प्रकार के स्नान वताये। इन स्नानों को क्रमश भौम, आग्नेय, वायव्य, दिव्य, वारुण, मानस और मान्त्र स्नान कहते हैं। मै इन सारे स्नानो का सुख धृष्टतापूर्वक लूट चुका हूँ। भौम स्नान अर्थात् मिट्टी या धूल में लोटना, और विना किसी शिखाधारी स्मृतिकार के हुक्म के ही मेरा यह स्वय साधित स्नान था, जिसे आज से तीन दशक पूर्व मै प्रति दिन करता था और जो माँ के लिए उपद्रव था, तो पिता जी की दृष्टि में गन्दगी था। आग्नेय स्नान का अर्थ होता है पवित्र भस्म से सारे शरीर को मलना और मित्रो के वीच यह पाखण्डलीला भी मै अपने वचपन में कर चुका हूँ। वायव्य स्नान अर्थात् सन्ध्या की उडती गोधूलि में विचरण करने का अनुभव भी अहीर वालको के सत्सग मे मैं कर चुका हूँ। आकाश स्नान या दिव्य स्नान वडा ही मनोहर स्नान है। जव उगी हुई धूप के वीच वर्षा की फुहार गिर रही हो अर्थात् स्यार मामा का विवाह हो रहा हो, तो उस में भीगना दिव्य-स्नान है और इसे मै वडे मनोयोग से कर के कई वार दण्डित हो चुका हूँ। और जल-स्नान तो सारी दुनिया जानती है, पर इसी की एक विशिष्ट शैली है वारुण स्नान, जो पानी में कूद-कूद कर, छपका खेलते हुए उन्मत्त शैली में किया जाता है और मैं आँगन में लगे वर्षा जल से ले कर वाढ-पानी तक में यह वारुण स्नान कर चुका हूँ और इस सद्कर्म के लिए पीटा भी जा चुका हूँ।

मुझे तो लगता है कि कम से कम स्नान के सन्दर्भ में मेरा वचपन पूरा-पूरा स्मृतिकारों के आदेश के मुताविक वीता है। पर उन दिनो मुझे 'स्मृति चन्द्रिका' या 'ग्लासरी ऑफ स्मृति लिटरेचर' जैसे ग्रन्थो का नाम भी ज्ञात नही था, अन्यथा माँ से प्रतिवाद अवश्य करता, "मारती क्यो

हो, दिव्य स्नान या वारुण स्नान कर रहा था—देखो, देखो, इस धर्म-शास्त्र को, और एक धार्मिक कार्य में बाधा देने के लिए पश्चात्ताप करो।" इन पचभूतो में स्नान के अतिरिक्त आता है बुद्धि के माध्यम से मान्त्र स्नान या वाड्मय में स्नान। वाड्मय में गोता लगाना (अवश्य ही वह साठोत्तरी का वाड्मय न हो तो) एक अपूर्व बौद्धिक स्नान है और काव्य, साहित्य और चिन्तन के सहस्रशीर्षा समुद्र के तट पर खड़े हो कर लहरें प्राप्त करने में, उन से सराबोर होने में मुझे अपूर्व आनन्द आता है। अन्त में आता है मानस स्नान और इस का अर्थ स्मृतिकारो ने भगवान् विष्णु का ध्यान बताया है। परन्तु इस अर्थ को विस्तृत कर के देखें तो लगता है कि वह कोई भी ध्यान चाहे वह देवता का हो या अन्य किसी सौन्दर्यसत्ता का, मानस स्नान की सज्ञा पा सकता है, जो हमें रजोमुक्त कर के उदात्त और देवाविष्ट करे। ध्यान माने देवता का अपने अन्दर अनुभव और आवेश। ध्यान के पूर्व अग-अग में देव-शक्ति का आवाहन या न्यास करने की प्रथा इसी से चालू की गयी है। अत कोई भी ध्यान-योग जो मन को रज और तम से मुक्त करे, मन को हलका करे, आत्मा को लघिमा प्राप्त कराये, हमारी सत्ता को किसी प्रवाहमयी विरजा नदी के साथ एकाकार होते हुए अनुभव कराये, जिस से रक्त की उन्मत्तता शान्त हो, जिस से मन के घाव निरुज हो जाये, भवताप का अनुभव थम जाये, वह ध्यान मानस-स्नान है।

दोनो भौंहों के मध्य जहाँ तृतीय नयन का स्थान है, जहाँ सिंहवाहिनी निवास करती है, वहाँ सारे मन को खीच कर एकाग्र करने पर इस मानस-स्नान में सहस्र तेजस्वी किरणो की प्रभा धारा में अवगाहन जैसा सुख मिलता है। दोनो पलकों के नीचे दृष्टिस्नायु-मण्डल में किसी के जाने-पहचाने अथवा कल्पित चन्द्रोपम मुख का ध्यान इस मानस स्नान को ज्योत्स्ना-स्नान में परिवर्तित कर देता है। हमारे हृदय-कमल के मध्य विष्णु का निवास है। उन का उस स्थल पर ध्यान करने पर इस मानस-

स्नान में हमें अनुभूति की तीर्थकन्या नदी में उलट-पुलट कर अपने 'स्व' को मज्जित-प्रक्षालित करने जैसा सुख मिलता है। इस प्रकार यह मानस स्नान अपूर्व और अलौकिक अनुभव है और इस की असंख्य श्रेणियाँ है देशकाल और पात्र के अनुसार।

ये सारे स्नान तो जाने-पहचाने स्नान है। पर कई सौ नायिका भेद, भाव-भेद, अनुभाव भेद की कल्पना करते-करते शताब्दियो काट देने वाली जाति की स्नान-सूची यही नही समाप्त होती। कर्मकाण्ड और वैद्यक में तरह-तरह के अवसरो पर तरह-तरह के स्नानो का वर्णन है। पर सब से अजीब है गौडीय वैष्णवो का वयः सन्धि पर चढी नायिका के मन और देह का वयस-स्नान। वैष्णवो के अनुसार हम लडको के क्षेत्र में तो कोई खास बात नही, पर साक्षात् राधा की सगुण प्रतिमाएँ लडकियाँ वयस की नदी में स्नान कर के दिन पर दिन और-ही-और होती जाती है। इस स्नान के तीन स्तर हैं जो करुणाभाव, तरुणाई और लावण्य के माध्यम से साधित होते हैं। वय सन्धि की प्रथम अवस्था में किशोरी में चपलता, मृगया भाव और निर्मम लीला-विभ्रम की हल्की सी लालसा रहती है। इस के बाद राग का सम्पर्क होने पर उस में प्रेमी के प्रति अनुकम्पा या मोहमाया का सचार होता है। और इस अवस्था में मन करुणावारि या 'कारुण्यामृत' में स्नान करता है। तब स्वभाव में तरलता और अनुकम्पा का प्रवेश होता है। इस स्वभाव-परिवर्तन का असर देह पर पडता है और तरुणाई षोडशी कला में फूटती है। इसे दूसरा स्नान 'तारुण्यामृत स्नान' कहते है। भाव और देह दोनों सम्पूर्ण प्रस्फुटन से अपनेआप तीसरी अवस्था आ जाती है चरम लावण्य का उद्घाटन। लावण्य केवल आगिक श्री नही, यह तन-मन-नैन-बैन सब के समवेत सयोग से व्यक्त होता है। वचनचातुरी और कथनभगिमा तक इस के अन्तर्गत है। और, यह अवस्था 'लावण्यामृत'-स्नान कही गयी है। इस में स्नान करने के बाद किशोरी नायिका लज्जा का नील-वसन धारण करती है।

इस प्रकार वयस की नदी में स्नान कर के उस का व्यक्तित्व पूर्णता को प्राप्त करता है। यों यह सब आज की नायिकाओं पर लागू नहीं होता। आज तो सब उलटा-पुलटा हो गया है और हो रहा है। यह उन लोगों की बातें है, जिन के जीवन की ज्यामिति 'भाव के नीर में स्नान ही असली स्नान है' की साधारण प्रतिज्ञा ले कर प्रारम्भ होती थी।

जब मैं हिन्दुओं के स्नान-प्रेम की बातें जोर दे कर कहता हूं, तो मेरा तात्पर्य यह नही कि अन्य जातियों में स्नान-प्रेम का अभाव है। स्नान तो प्रत्येक सभ्य जाति द्वारा आवश्यक और महत्त्वपूर्ण दैनिक कर्म माना गया है। रोमनों, तुर्कों, मुगलों और जापानियों ने स्नान-विलास की दिशा में एक से एक बढ कर अपूर्व प्रयोग किये है। ईसाई धर्म के सप्त सस्कारों में आदि सस्कार है 'बपस्तिमा'। इस का मुख्य कर्म है शिशु को पवित्र जलधारा में पुरोहित द्वारा स्नान कराना। शिशु जन्मा था मनुष्य रूप में। इस सस्कार द्वारा वह 'द्विज' हो गया, उस का ईसाई के रूप में दोबारा जन्म हो गया। पुरोहित, जो लैटिन मन्त्र बोलता है उस मन्त्र का आशय है 'मै तुम्हें प्रभु की विशेषसन्तान बना रहा हूं।' बिना इस सस्कार के ग्रहण किये कोई भी प्राणी प्रभु के राज्य मे प्रवेश करने का अधिकारी नही। स्नान को आदि सस्कार का मुख्य अग मानने वाला यही ईसाई धर्म मध्य युग में एक तरह से स्नान-विरोधी हो गया। यह एक आश्चर्य की बात है। ईसाइयों की धार्मिक अदालत (इनक्वीजीशन) में अनेक गैर-ईसाइयों को स्नान करने के लिए दण्डित किया गया। सेंट ऐनस्लेम जैसे अनेक ईसाई सन्तों ने गन्दगी को भक्ति का एक अग मान लिया तथा फोडे-फुसियो को "प्रभु के प्यार की मुक्तामणियां", क्योंकि दुख के माध्यम से ही हम प्रभु के प्यार के योग्य होते है। आज ईसाई धर्म का स्वभाव बदल चुका है। आज यह सब बातें नही। परन्तु इन मध्ययुगीन विकृतियों के पीछे भी एक महान् ऐतिहासिक कारण है। ईसाई धर्म ने स्नान नही, बल्कि स्नान-विलास को शका की दृष्टि से देखना शुरू किया,

क्योकि ईसाई धर्म जन्मत. भले ही यहूदी हो, उत्तराधिकारी है यह रोमन धर्म और रोमन संस्कृति का। यहाँ तक कि बाइबिल के ईसाई खण्ड की मूल भाषा भी यहूदी नही, ग्रीक है। अत संस्कृति और सभ्यता की दृष्टि से यह रोमन सन्तान है। ईसाई धर्म के पूर्व रोमन सभ्यता में 'स्नान' घोर विलास का रूप धारण कर चुका था, 'अति भोजन' और 'अति व्यभिचार' की ही तरह यह आत्मा तृतीय घोर पाश बन चुका था। ईसाई चर्च ने प्रथम दो को सात महापापो में गिन लिया पर स्नान का विरोध अप्रत्यक्ष और दबी जबान से ही किया, क्योकि सहज सीमा तक स्नान करना तो सभी के लिए सदैव आवश्यक रहेगा, चाहे वह ईसाई हो या 'हेरेटिक'। ईसाई चर्च चाहता था कि रोमन ईसाई जो स्नान को पुरानी परम्परा के अनुसार विलास की दृष्टि से देखने के आदी थे, इस अति स्नान की आदत छोडें। इसी से यत्र-तत्र स्नान को धार्मिक विद्रूप का लक्ष्य होना पडा है।

प्राचीन रोमन सभ्यता में और पूर्ववर्ती ग्रीक सभ्यता में भी स्नान को बडा महत्त्व दिया गया। बडे-बडे विशाल जन-स्नानागारों से रोमन साम्राज्य के शहर भरे पडे थे। स्नानागार, खुला रंगमंच या क्रीडाभूमि (ऐंफीथियेटर) और लैटिन भाषा—ये तीन रोमन सभ्यता के बाहरी निशान थे। और भीतरी प्रतीक थे 'स्तोइक दर्शन' और रोमन कानून। जहाँ-जहाँ रोमन गये, ये पाँचो साथ-साथ पहुँचे। रोमन स्नानागार में कम से कम पाँच खण्ड होते थे। पहले गरम हवा, फिर भाप, फिर सुगन्धित भाप, फिर गरम जल, फिर शीतोष्ण जल और अन्त में शीतल जल से स्नान कर के यह स्नान-कल्प पूर्ण होता था। साधारण रीति से भी दो घण्टे लग जाते थे। पर ऐसे स्नानप्रेमी बहुत-से थे, जो सवेरे घुसते थे, दोपहर को प्रातराश या हलके भोजन के लिए ही बाहर आते थे; और फिर एक घण्टे बाद घुसते थे तो सध्या के बाद ही स्नानागार से निकलते थे। फिर रात को उसी अतिशयता से पान और दुर्धर्प भोजन

एव रतिक्रिया, तत्पश्चात् निद्रा। पर वह भी मध्यरात्रि के बाद सम्भवत. वेश्यागृह, पानगृह या भोजनशाला में ही। रोमन अपने घोर दैहिक विलास के बाद अपने देह-मन का शुद्धीकरण दीर्घ स्नान-प्रक्रिया और 'स्तोइक दर्शन' के मध्य करता था, और जब यह विलासी रोमन कवच चढा कर रथ पर या अश्व पर सवार हो कर चलता था तो उस के ममान अनुशासित सृष्टि का और कोई जीव हो ही नही सकता। लगता है कि रोमन घोर पान और विलास द्वारा जो कुछ आत्मक्षय करता था, वह उस की आत्मिक क्षति-पूर्ति की चेष्टा करता था दीर्घ स्नान द्वारा। जो हो परन्तु रोमनों जैसी स्नान विलासी जाति इतिहास में और कोई नही हुई। अन्त में यह स्नान-विलास आत्मा की मुक्ति नही, पाश बन गया। बहुतों के लिए तो यह मदिरा और नारी से भी बढ कर नशा बन गया था।

प्रति'दिन के स्नान-विलास के अतिरिक्त रोमनो के स्नान-पर्व भी होते थे। एक समय सारे यूरोप में वर्तमान फरवरी मास के उत्तरार्ध में स्नान-उत्सव चलता था—'फेब्रुआ'-उत्सव। 'फरवरी' या 'फेब्रुअरी' शब्द इसी उत्सव के नाम पर बना है। उन दिनो 'फरवरी' बारहवां मास था और नये वर्ष का प्रारम्भ वसन्त-सम्पात के मास मार्च से होता था। इस बात का सब से बडा सबूत हैं सेप्टेम्बर, ऑक्टोबर, नवम्बर और डेसेम्बर शब्दो के अर्थ। सेप्टेम्बर का शाब्दिक अर्थ है सातवां मास, ऑक्टोबर का आठवां मास, नवम्बर का नवां मास और डेसेम्बर का दसवां मास। इस तरह से फेब्रुअरी यूरोप का अन्तिम मास था और स्नान-मास के रूप में जाना जाता था क्योकि वर्ष समाप्त हो रहा है, वसन्त ऋतु आने वाली है, शिशिर समाप्तप्राय है, ऐसे में ही तो भरपेट स्नान कर मन को पुन. संस्कार देना सर्वथा उचित होगा।

रोमन सभ्यता का प्रथम केन्द्र और राजधानी थी रोम नगरी। द्वितीय राजधानी थी वर्तमान इस्ताम्बुल, जिस का पुराना नाम 'बाइजैन्तियम'

अथवा कुस्तुनतुनिया है। यह केन्द्र तुर्कों के हाथ चले जाने पर रोमन-स्नान कला ने तुर्क-स्नानकला विकसित हुई। आज भी तुर्की में स्नान-विलास एक जीवित कला और लोकप्रिय मनोविनोद के रूप में चल रहा है। भारत के मुग़ल भी स्नान के बड़े शौकीन थे, और सुना जाता है कि गुलाब के इत्र के 'रूह' की ईजाद नूरजहाँ के स्नानागार में ही हुई थी। पूर्वी एशिया में जापानी स्नान-कला ने अपना स्वतन्त्र विकास किया है। किन्तु रोमन-तुर्क स्नान-कला की उद्दामता और अतिविलास इस में अनुपस्थित है। जापानी जाति रस की बूँद-बूँद का, 'बुद्ध-चित्त' की भावदशा में सजग-सचेत रूप से आस्वादन करने की विश्वासी है। यहां के परम्परागत स्नानागार प्राय. दुतल्ले होते थे। ऊपर पानकक्ष और संगीत की व्यवस्था थी और निचले तल्ले में स्नानगृह, जिस में जापानी नागरिक और भद्र पुरुष 'जेन' शैली में स्नान को 'ध्यान योग' में परिवर्तित कर के काल-प्रवाह के क्षण प्रति क्षण का स्वाद लेते थे। पर यह ध्यान योग या जेन-मुद्रा 'मौन समाधि' की ओर उन्मुख नही थी। स्नान-जल की सुख-लहरियो द्वारा यह मौनता लहरिल और उर्मिल होती रहती थी अन्यथा मौनता तहीभूत हो कर दही सी जम जाती और जमी मौनता सड सकती है, विकृतिकीट को .जन्म दे सकती है। भाव-तरंगायित मौन या ध्यान ही वांछनीय होता है।

ठीक इस के विपरीत है अपनी काशी के दशाश्वमेध घाट का स्नान-पर्व। हड़कम्प और हुड़दंग भरा स्नान-उत्सव। 'बम-बम हर-हर' का भीषण-रव हांक-हुंकार, डांट-फटकार! लगता है कि सहस्रशीर्षा शिव ही उतर आये है स्नान करने, लगता है कि कही पर हिन्दुस्तानी लोगो का भोज हो रहा है, लगता है कि स्नान नही, स्वर्ग से बरसते पुण्य की लूटपाट हो रही है, लगता है कि मनुष्य देह में प्रवेश कर के बटुक-प्रमथ आदि धूर्जटी के हजारों खास शिष्य ही स्नान कर रहे है। विदेशी यात्रियो को भले ही यह भयानक और वीभत्स लगे, पर मुझे तो शुद्ध वीर रस ही,

जो शान्त रस का सहोदर है, इस में दिखाई देता है। मैं हिन्दू हूँ और हिन्दू में भी सोमनाती ('सोमनाथ का उपासक'—यों यह शब्द इकबाल का है)। मुझे जब कभी अवसर मिलता है मैं धक्के खा कर भी ऐसे सामूहिक स्नान-सुख को लूटता हूँ और हज़ार-हज़ार के बीच स्नान करते हुए मुझे लगता है कि मैं ही हज़ार-हज़ार हो कर स्नान कर रहा हूँ, मैं ही सहस्रशीर्षा बन गया हूँ। पर जब मैं अकेले रहता हूँ तो मुझे वारुण-स्नान की अपेक्षा मानस-स्नान ही अधिक सुख देता है। वारुण-स्नान तो उस महत्स्नान की भूमिका मात्र बन कर रह जाता है। तब मेरे मन के अन्दर श्लोक पर श्लोक रूपों और दृश्यों का सगुण अवतार लेने लगते हैं। मैं कभी उज्जयिनी में स्थित हो जाता हूँ, तो कभी अलका में, कभी रामेश्वरम् तट पर, तो कभी देवगिरि पर। कभी कोई प्रेमिका, कभी कोई गुरु, कभी कोई कवि मेरा हाथ पकड मुझे ले चलते है उस मानव-वर्जित अनुभवलोक मे। अकेले जाने की कहाँ सामर्थ्य है मेरे पास ? भीतर बैठा गुरु श्लोक बोलता है और मै इस अनुभव लोक में प्रवेश कर के एक अपूर्व स्नान-दृश्य का साक्षी बन जाता हूँ

"तत्र स्कन्द नियति वसति पुष्पमेघी कृतात्मा
पुष्पासारै स्नपयतु भवान्व्योमगगाजलार्द्रै ।
रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीना चमूना-
मत्यादित्य हुतवहमुखे सभृत तद्धि तेज ॥
ज्योतिर्लेखा वलयिगलित यस्य वर्ह भवानी
पुत्रप्रेम्णा कुवलयदलप्रापिकर्णे करोति ।
धौतापाङ्ग हरशशिरुचा पावकेस्त मयूर
पश्चादद्रिग्रहणगुरुभिर्गजितैर्नर्तयेथा ।"

—(४५, ४६ । पूर्व मेघ)

मुझे लगता है कि श्लोक मुझे ही आदेश दे रहा है 'ओ यक्ष-मेघ, ओ प्रिय ललित निबन्धकार, तुम स्कन्ध के पवित्र निवास देवगिरि-शिखर की ओर बढ जाना। वहाँ शिव का अपूर्व तेजस्वी बालक निवास करता है। तुम उसे अपनी फुहार से नहलाना, बच्चा जो है, बडा खुश होगा! जैसा बाप वैसा बेटा। शिव की तरह यह भी बडा ही स्नान-प्रिय है। ओ कामरूपी ललित निबन्धकार, तुम इस की प्रसन्नता के लिए अपनेआप को पुष्प-मेघ बना देना और आकाशगगा के जल के साथ मिश्रित कर के तुम नन्हे-नन्हे बकुल या शेफाली के फूलो की हलकी फुही के साथ सुगन्धित वर्षा करना। बडे-बडे वज़नी फूल मत लेना, नही तो फुहार की मौज नही आयेगी और वर्षा की सौम्यता नष्ट हो जायेगी। वज़नदार चीज़ो की वर्षा तो हिमपात या चुनाव भाषणो के अवसर पर ही फबती है। तुम्हारी सुगन्धित सौम्य झडो में भीग-भीगकर कार्तिकेय अत्यन्त प्रसन्न होगा... तत्पश्चात् हे मेरे मित्र-मेघ, तुम तो जानते ही हो कि उस का एक दुलार-पोषित प्रियपक्षी भी है—मयूर, जिस के कलाप शिव के शीश-चन्द्रिका की चितवनो से निरन्तर धुल कर सदैव चमाचम रहते है। इस मयूर की गिरी पाँखो, अर्थात् वर्हों को दौड़-दौड कर कार्तिकेय चुन लाता है और माँ के हाथो में "माँ, यह ले, माँ यह भी ले, देख कितना अच्छा है!" कह-कह कर समर्पित करता जाता है। और, भवानी भी पुत्र का मन रखने के लिए कर्णो से पुष्प-शृगार हटा कर इन मयूर-पखो को धारण करती हैं। तुम तेजस्वी बालक के क्रीडा-सहचर उस मयूर को भी अपनी श्याम छवि और गम्भीर गर्जन से नचाना। तुम्हारी गर्जन गुहा-गुहा, दरी-दरी, से प्रतिध्वनित हो कर दोहरायी जायेगी, कार्तिकेय का मयूर कलापपख खोल कर महा उल्लासपूर्वक नाचेगा, उक्त पर्वत के अग-अंग से उठती प्रति-ध्वनियाँ अदृश्य दैवी मृदगो का ऑर्केस्ट्रा बन जायेगी, भवानी अपने हाथो से ताल देंगी और बालक कार्तिकेय स्नान के बाद यह अपूर्व खेल देख कर और अधिक प्रसन्न होगा।' इस प्रकार जब-जब मेरे अन्दर बैठा गुरु श्लोक

के माध्यम से मुझे आदेश देता है, तब-तब मुझे लगता है कि मैं वह नहीं जो परिजन-पुरजन की दृष्टि में दिखाई पड़ता हूँ, बल्कि कुछ और हूँ और दलोक के मध्य घटित लीला में मैं भी सक्रिय अभिनय कर रहा हूँ। आप लोगों की दृष्टि में यह मेरा मानस-रमण है। पर मैं इसे मानस-स्नान कहता हूँ।

●

रिपोर्ताज़

दृष्टि-जल*

दुर्गापूजा की छुट्टियाँ थी, घर जा रहा था। इस बार मेरा विधाता भूल कर गया था और मैं गाडी के चक्के के ऊपर वाली शायिका न पा कर अन्य 'वर्थ' पा गया था, अत नीद खुल कर आयी। नही तो अपनी किस्मत में आज तक रहा है, गतिमान 'छक-छकाछक' पहिये के ठीक ऊपर पैगम्बरो की तरह सो कर चलना। सबेरे नीद टूटी, तिस्ता के प्रवाह के पास, सिलीगुडी अभी पहुँचना शेष था, सारा डब्बा सो रहा था। पर मैं ने खिडकी खोलते ही अपूर्व का दर्शन किया। नील-श्यामल मेघ, आसमान का पता नही, गहरे नीले जगल और बीच में हलके आसमानी रग की तिस्ता, जगल को काटती, तीव्र सफेन प्रवाह से बह रही थी। एक ही नील रग के इतने गाढ और कोमल आभासो को देख कर लगा कि यहाँ धरती और आकाश किसी नीलवर्णी वासना में आबद्ध है। मुझे लगा कि वासना अपने सहज रूप में विश्वव्यापी मगल का द्वार है। सस्कारवश मुझे सूरदास के कुछ पद याद आने लगे 'क्यो री सखी, क्या मथुरा में बादल नही घिरते ? अथवा कृष्ण ने उन्हें मना कर दिया है। लगता है, वहाँ सारे दादुरो को सर्प खा गये। क्या वहाँ के मोरो, चातकों, पिको को व्याधो ने विशेष रूप से मार डाला है ?'

"किधौं घन गरजत नहिं उन देसनि
किधौं वहि इन्द्र हठिहिं हरि बरज्यो दादुर खाये सेसनि

---

* इस रिपोर्ताज की पृष्ठभूमि है १९६६-६७ का भीषण सूखा और उस के फलस्वरूप उत्तरप्रदेश-विहार आदि में भ षण दुर्भिक्ष।

किधौ वहि देस मोर चातक पिक वधिकन वधे बिसेपनि ।"

—यह मंगलमय नीलवसना ही धरती को विरह काव्य की ओर भी खीच लाती है । जितना विह्वल और तरल विरह काव्य हिन्दुस्तान में वैष्णवो द्वारा लिखा गया है, वैसा अन्यत्र कही भी नही मिलता। शायद इस लिए कि उन देशो में हमारे यहाँ जैसी वर्षा नही होती । हिन्दुस्तानी पावस साक्षात् श्री कृष्ण-रूप है । इस के बिना ऐसा विरह काव्य सम्भव ही नही । यह सब सोच रहा था कि सहयात्री इन्द्रदेव भाई ने एक वीररस व्यंजक अगडाई ली और फिर करवट बदल कर सोने ही जा रहे थे कि मैं ने कहा, "यार उठो, देखो इस अपूर्व को . "—"क्या है?" उन्होंने आँखें मूँदे ही पूछा । मै ने कहा, "यह धरती और आसमान . "—"बस, बस, चल कर जरा बिहार और उत्तर प्रदेश में कल दूसरा ही अपूर्व देखना," कहते हुए वे फिर सो गये ।

सचमुच दूसरे दिन का यह दूसरा अपूर्व भी अद्वितीय ही था। उदास मटमैला मरा हुआ पीला रग क्षितिज तक फैला था । पीला एक अजीब रग है । अपने चटक तेजस्वी रूप में यह शुचिता और सौभाग्य को व्यक्त करता है । उदाहरण के लिए पीले सरसो के फूलो का प्रसार देख कर लगता है कि धरती किसी ईश्वरीय शृगार रस को व्यक्त कर रही है । परन्तु यह मरा हुआ जर्द पीला, खाकी पीला तो जरा, मरण और ह्रास का रग है । सारी धरती आज मरे हुए धान्य से ढकी है । मृतवत्सा वसुन्धरा की छाती पर हमारे फसल की लाश बिछी है । धान का इस तरह से मरना कभी नही देखा था । सुनता था कि धान और घोडा जब मरते है तो जीभ काढ कर मरते है । आज देख रहा हूँ, मेरी गाडी इलाका पर इलाका पार करती जा रही है और खेत-खेत धान जीभ निकाल कर मरा पडा है, लावारिस मुरदे की तरह । स्यार घूम रहे है । आश्विन मास है, पर जेठ जैसी गरम हवा बह रही है । धरती इस साल प्यासी हो रही । जून के बाद ही वर्षा नदारद । हाय रे, स्वाति, हाय रे चातक, इस स्वाति-चित्रा से तो

तप्त मृगदाह भी मात खा गया। धान ही नहीं, लगता है धरती स्वयं मर गयी है। लगता है, गर्भिणी शकुन्तला सर्प-दंश के कारण मृत हो गयी और यह हमारी धरती उसी शकुन्तला की लाश है। गाँव-गाँव पर, नगर-नगर पर, मरण फेरा दे रहा है। स्टेशन-स्टेशन पर भीड़ उसी तरह चढ़ती-उतरती थी, पर सब के चेहरे बदल गये थे। लगता है कि सब की हिम्मत टूट गयी है। सभी हताश हो चुके हैं। हताशा और गहरी इस लिए हो गयी है कि रबी की बोआई का भी कुछ ठिकाना नहीं नजर आता। धरती इतनी तप्त है कि एक गज तक नमी का कोई निशान नहीं। पेड़ के पेड़ सूख गये हैं। हर बाग़ में एक-तिहाई ठूँठ नजर आ रहे हैं। कुछ इलाक़ों में तो कुओं में पानी ख़त्म हो गया है। लोग कुओं को और गहरा कर रहे हैं। पता नहीं, जेठ में क्या होगा? शायद पानी भी काले बाजारों बिकेगा। क्योंकि मरण की छाया में काम और अर्थ खूब फलते-फूलते हैं—सहज काम और सहज अर्थ नहीं, विकृत काम और नारकीय अर्थ। कौन है जो हमारी रक्षा कर सकेगा? कौन है वह अर्जुन, भीम, वह दीनबन्धु? मुग़ल युग में एक बार मरण का ऐसा ही कंकाली नृत्य हुआ था तो तुलसीदास ने पुकारा था, "दारिद दसानन दबाई दुनी दीनबन्धु देखि तुलसी हहा करी।" पर आज कवि किसे पुकारे? महान् नेता को, प्रजातन्त्र को, संविधान को, विरोधी दल को, विनोबा के सतोगुणी प्रेतो को, या अपने अस्तित्ववाद को, आधुनिकता को, मार्क्सवाद को? कम से कम हिन्दुस्तान के परिवेश में ये सभी निरर्थक हैं। शब्द-सगर और शब्द संगर के अर्जुन भीम। ये काठ के मसीहा हैं, जो 'दारुयोपिता' की तरह किसी सूत्रधार के अधीन हैं। यह सूत्रधार निर्विकार निर्गुण सूत्रधार है, जिस का चेहरा सामने कभी नहीं आता है, पर सारी मशीन यही चला रहा है। अत. उस सूत्रधार पर शर-सन्धान भी नहीं किया जा सकता। शर-सन्धान करने पर काठ का यह दीन मसीहा ही हत होता है। पर उस से कुछ आता-जाता नहीं।

यह सब सोचता घर पहुँचा। रास्ते में लाठी के उस्ताद सोमारू अहीर मिले। मूंछे वैसी ही खडी-खडी थी, जैसे चार मास पूर्व देख गया था, पर लगता है कि उम्र ही दस साल घट गयी हो। सोमारू उस्ताद दुर्गा के मन्दिर में नित्य प्रति फूल चढाने जाते हैं पर औरो की तरह दूध-पूत नही माँगते, बल्कि "शान रखे रह, माँ! बेटे की मूँछे खडी रह जायें, माँ—देख, बेटे की पीठ में धूल न लगे!" कहते हुए मन्दिर से निकल आते हैं और किसी थानेदार या अफसर को गाली देते हुए मूँछो पर ताव फेरते एक ओर चल देते। उसी सोमारू के चेहरे पर त्रस्तता और आतंक के भाव हैं। गाँव में घुसते ही बद्री बढई मिले। इन के बूढे और सूखे चर्म-अस्थि मात्र हाथ अब भी नीरस बेजान काठ में फूल उगाते हैं, नाचते हुए मयूरों के जोडे काढ देते हैं। जब हम लोग बच्चे थे तो ये बताया करते थे—'ये मोर तो उस काठ के भीतर था। उसी तरह जैसे अण्डे के भीतर चिडिया का बच्चा होता है। हम तो सिर्फ इसे काठ के भीतर से काढ लाते हैं।' और उस समय हम लोगो को इस तथ्य पर पूर्ण विश्वास होता था। बद्री ने नमस्कार किया—उन के चेहरे की ओर देखते हुए हालचाल पूछने की हिम्मत नही पडी। सर्जनात्मक बढईगीरी के दिन यो ही इस सपाट रुचि के युग में बदलते जा रहे हैं। अब तो तीज-त्योहार पर मिलने वाले सेर-दो सेर का भी कोई ठिकाना नही रहा। आगे चल कर छैलवाराम नर्तक मिला। ऐसा 'नटुआ' इस जवार-देहात में नही। इसी के गीतो से गाँव-गाँव में फागुनी हवा का स्वागत होता है। अपने काले रंग के बावजूद राधा का 'पाट' वही करता है। छैलवा कह रहा था—"बाबू, हम लोग अब किस काम के? हम लोगो को तो सरकार कतार में खडा कर के गोली मरवा दे, तो अच्छा है! अपने से मरने में तो बडी तकलीफ होगी।" फागुन-चैत में रबी की फसल कटती है और गाँव-गाँव में नाच और रास शुरू होते हैं। फिर जेठ-बैशाख और आषाढ तक बारातो का सिलसिला चलता है—ये पूरे पाँच महीने 'समय-पुरुष' ही छैलवा के प्रति मोहाविष्ट

हो कर "अरे वाह रे, मोरे राजा!" चिल्लाता है और सर्वत्र उस की धूम मची रहती है। पर इस बार रब्बी की कोई आशा नही। इस तप्त धरती में बीज डालने पर बीज की प्राणशक्ति जल जाती है। इस लिए कार्तिक की बोआई भी बन्द है। धरती तृषा से व्याकुल है। जून के बाद वर्षा ही नही हुई। 'आषाढस्य प्रथम दिवसे' के बाद मेघगण अपना रास्ता ही भूल गये। अत. खेतिहर को साल भर इन्तज़ार करना है—खाली मुट्ठी, खाली पेट, खाली हाँडी साल भर तक अन्नपूर्णा की प्रतीक्षा करनी है, और अकाल शिव का ककाली ताण्डव देखना है। छैलवा कह रहा था, "इस वर्ष कौन नाच करायेगा, बाबू! कोई अपने को तो मजूरी भी नहीं देता—लोग कहते हैं 'जाँगर' नहीं—काम का हर्ज होगा।" साल में पाँच महीने 'राधाभाव' से आविष्ट रहने वाला छैलवाराम इसी से अपने जन्म को अपने जीवन को, धिक्कार रहा है; साथ ही इस धरा-धरित्री को भी धिक्कार रहा है।

दरवाजे पर अभी बैठा ही था कि तोताराम भाट यानी श्रीयुत भट्टाचार्य तोताराम कविराज आ गये। 'कविराज' शब्द का प्रयोग हमारे क्षेत्र में भाटों और चारणो के लिए होता है, वैद्यो के लिए नही। पर बंगाल में 'कविराज' का अर्थ है 'वैद्यराज'। तोता भाट चार-पांच गाँवों के पुश्तैनी कविराज है। इस बुढौती में भी अपने गलमुच्छो और हँकडती आवाज के लिए सम्मानित हैं। कई बारातो में बनारस और पटना के बीच अनेक भाटो से मुकाबला ले चुके हैं। शृङ्गार, वीर और हास्य के कवित्त-सवैयों के भण्डार से एक से एक बेशक़ीमत चीज़े पेश करते हैं कि सुनने वालो को लोहा मान ही लेना पडता है। चैती और अगहनी मिला कर लोगो से इतना अन्न माँग लाते हैं कि पाँच आदमियो के कुटुम्ब का रूखा-सूखा साल भर चल जाता था और स्वयं कवित्त-सवैयो में मगन रहते हैं। प्रति वर्ष हर त्योहार को दरवाजे पर आ कर "मानी महीपतियो की" प्रशसा और दान के महत्त्व पर एक कवित्त गाते है, जिस की पहली पंक्ति में पृथु-मान्धाता

का, दूसरी पक्ति में हरिश्चन्द्र-कर्ण का, तीसरी पक्ति में विक्रम-भोज का और चौथी पक्ति में मेरे बाबा का उल्लेख रहता है। और महुव बीस एकड के मालिक मेरे दादा अपनेआप को उन "मानो महीपतियों की" पांत में पा कर खुश हो जाते हैं और उन के राजकवि कविकुलगयन्द श्री तोता भट्ट भी हाथी, स्वर्णमुद्रा और जागीर के अभाव में सेर-दो सेर चावल पा कर ही जय-जयकार कर उठते हैं। फिर दूसरे के दरवाजे जाते हैं और वही छन्द गाते हैं, फर्क यही रहता है कि चौथी पक्ति में मेरे बाबा की जगह उस के बाबा का नाम चस्पां रहता है। वही हुँकडती आवाज वाले तोता भाट आज सांय-सांय बोल रहे थे। कविता की जगह चेहरे पर हवाइयां उड रही थी। मुझे उन का वह दीन चेहरा याद आ गया, जब मै ने तोता-राम जी को आज से चार साल पूर्व बुरी तरह डांटा था, क्योकि उन्होंने मुझे 'राजन' या 'हुजूर' 'सरकार' ऐसा ही कुछ कह दिया था। बाद में उन के नाती का मैट्रिक परीक्षा शुल्क दे कर, जिस की याचना में मुझे वे इतना ऊँचा उठा रहे थे, मै ने उन के उतरे चेहरे का रग ठीक कर दिया था। पर इस बार कविराज अपनी निजी करुणा नही जवार-देहात की करुणा या विश्व-करुणा से आहत थे। और इस बार चेहरे का उतरा रग ऐसे गहरे घाव के कारण था, जिस पर अपना कोई बस नहीं। कवि-राज एक ओर बैठ गये चारपाई पर, और मैं भी बैठा रहा, और वातावरण मौन से बोझिल रहा, क़रीब पाँच मिनट तक। मानो हवा में कोई बहुत बडा आतंक खुफ़िया तौर पर घूम रहा हो और हम एक दूसरे की बात मन ही मन समझ रहे हो, पर कहने में सहम रहे हो।

इसी बीच एक दिन ग्रामसेवक बच्चनसिंह मिले। बेचारे बड़े परेशान थे। सिचाई विभाग वालों को गालियां दे रहे थे। बडे बौखलाये हुए थे सरकारी नहर के 'आपरेटर' पर, जो सयोगवश हरिजन है। कुछ उस की जात के कारण और कुछ उस के कारनामों के कारण लोग उस के शुद्ध नाम का उच्चारण पीठ पीछे प्राय नही करते हैं। पर उस दिन बच्चनसिंह

उस के नाम के साथ एक से एक अनोखे कल्पित और असम्भव विशेषण जोड कर उसे अनेक पशुओ और वृक्षों का रिश्तेदार घोषित कर रहे थे। कुछ शान्त होने पर मामला स्पष्ट हुआ। इस सूखे में उत्तर प्रदेश सिंचाई विभाग के छोटे कर्मचारियो की बन आयी है। विशेषत 'आपरेटर' तो अपनेआप को भाग्यविधाता ही मान रहा है। उस का इञ्जन बिना "पत्रं पुष्प" खातिर पाये अकसर खराब हो जाता है। इधर सरकार ने विकास विभाग वालो को मैक्सिको का गेहूँ, 'लर्मा रोहो', जो सम्भवत. ४०-५० या ७०-८० मन प्रति एकड पैदा होगा (यह अभी अनुभूत प्रयोग नही है, सरकारी दिवास्वप्न है), किसानो को बोआने का आदेश दिया है। पर एक तो उस गेहूँ को सरकार नकद बेचेगी, दूसरी बात यह कि उस में पाँच सिंचाई की नितान्त आवश्यकता है। स्कीम सम्भवत एक साल पूर्व बनी होगी। इस बीच में घोर सूखा हो गया। पर नौकरशाही के दिमाग में घिरे भ्रम के बादल तो ज्यो के त्यो रहे। आदेश पूर्ववत् स्थिर है। यही नही, एक अमुक राशि तक वह गेहूँ का बीज प्रति ग्राम में न खपाने पर जिला अधिकारीगण ग्रामसेवको से जवाब तलब करेंगे। इधर किसानो का तर्क है कि सिंचाई की कोई सुविधा नही, एक पानी का भी ठिकाना नही, तो फिर 'लर्मा रोहो' बो कर घर का आटा क्यो गीला करे। एक नलकूप की सिंचाईशक्ति दो हजार एकड तक सीमित है, तो उस के जिम्मे चालीस-पचास हजार एकड है। नहर विभाग वाले कहते है कि पानी ही नही। गत वर्ष कुछ मछुआरो ने इन की पूजा की तो नहरें खाली करने के लिए, जिस से मछली मारने में आसानी हो, इन्होंने माघ में खेतो में पानी ठेल दिया। जिस से लगी फसल, जो दाना पकड रही थी, सड गयी। ऐसी घटना पूरबी उत्तर प्रदेश में एकाध जगह हुई। इस बार पूरबी उत्तर प्रदेश में कोई नहर पानी नही दे रही है। अखबारो मे पढा कि कुछ किसानो ने चोरी से पानी लिया तो जेल में गये।

सन्ध्या का समय था। यही सब चर्चा हो रही थी। कुछ और लोग

थे। कपिल भगत ने खँखारते हुए कहा, "अरे भइया, इन अफसरो को क्या मालूम ? गेहूँ की जगह पर मोटे अन्न चना और मटर वोये जायें तो कुछ सहारा हो जायेगा। चना और मटर एक पानी से होते हैं। चना तो वडा ही 'थेथर' है। डिम्भी (अकुर) फूटने पर तो वह जाडे की शीत से ही वढ जायेगा—एक पानी सिर्फ देना होगा। पर गेहूँ चाहे देशी हो या विलायती, काफी पानी के विना वह भूसा होगा—दाना तो पकडेगा नहीं।'

"अरे, जमेगा ही नही। खेत में नमी नही। वीज व्यर्थ में जल जायेगा। खेत को एक वार किसी भी तरह सीच दिया जाता, तो मैं तो उठा कर के चना वो देता। मोटा अन्न ही सही ! अन्न तो है !"

"चने को तुम मोटा अन्न कहते हो ?" जित्तन तिवारी वोले। अव वात ग्रामीण अर्थशास्त्र से हट कर ग्रामसाहित्य और इतिहास पर चली। तोता भाट ने चने को 'छप्पन प्रकारा' घोपित करते हुए एक दोहा पढा, तो सुखदेव मास्टर ने तुरत इतिहास का पन्ना पेश किया। औरगजेव ने जव शाहजहाँ को कैद कर लिया, तो उस ने हुक्म दिया, "यह ज़िन्दगी भर ऐशोआराम किया है। इसे सिर्फ एक अन्न खाने का मिलेगा।" खानसामा ने धीरे से भूतपूर्व शहशाह से कहा, "हुजूर चने की माँग करें।" चना-पर्व के वाद मिठाई-पर्व, मिठाई-पर्व के वाद वारात-पर्व इस तरह यह महाभारत, जिस का प्रारम्भ वख्वनसिंह के क्रोध और ऑपरेटर के गोत्रोच्चार से हुआ था, आगे वढता गया और व्यास पर व्यास वदलते गये। भीड वैशम्पायन वन कर वोलती रही और वही भीड जनमेजय वन कर सुनती रही। लगता है, सारा हिन्दुस्तान 'स्वगत' भाषण कर रहा है किसी 'ट्रेजडी' के नायक की तरह। इस के वाद ? इस के वाद क्या होगा ? क्या ट्रेजडी घटित हो कर रहेगी ?

छुट्टियो भर हिन्दुस्तान के 'स्वगत' भाषण को सुनता रहा—अपूर्व के वाद अपूर्व, एक से एक वढ कर अपूर्व का दर्शन करता रहा। कम्युनिस्ट पार्टी और ससोपा ने अपना घूल-फूल, जिन्दावाद-मुरदावाद, अभी से शुरु

कर दिया है। कल एक लडका पर्चा दे गया। छपा हुआ इश्तिहार था। पता चला कि कम्युनिस्ट पार्टी के नेता अमुक 'खाँ' साहब, जो वास्तव में जन्म से भूमिहार ब्राह्मण हैं, वचन से पहले 'रईस' थे और अब सर्वहारा हैं तथा कर्म से पहले क्रूर जमींदार थे और अब जननेता हैं, एक हजार नौजवानो के साथ एक दिन के लिए जिला कलेक्टर के बँगले पर अनशन करेंगे। इश्तिहार में छपा था कि "जवान लोग अनशन करने के वास्ते, खा-पी कर १२ बजे कलेक्टर के बंगले पर पहुँचेंगे।" १९४७-४८ में इस देश को बुरी तरह बुखार आया था। वह बुखार था 'हृदय परिवर्तन' का बुखार! इसी बुखार में बहुतो का दिमाग बदला और कट्टर मुसलिम लोगी कांग्रेसी बने और रक्तशोषक जमींदारो के लडके कम्युनिस्ट-सोशलिस्ट बने। यह प्रक्रिया अखिल भारतीय स्तर पर घटी। पर यह दिमाग के ऊपरी हिस्से को छू कर रह गयी। मन नहीं बदला। फलत' भारतीय राज-नीति में आज 'सत्य के लिए संघर्ष' नहीं, 'सत्ता के लिए सघर्ष' है। हर दल में ऊपर दो-चार ईमानदार चेहरे हैं, परन्तु हर दल का हाथ-पाँव-हृदय नरक से भी बदतर है। भारतीय राजनीति का चिन्तन अस्पष्ट, धुंधला दिशाहीन होने का यही कारण है। कार्यकर्ताओ की पलटन में (कांग्रेस, सोशलिस्ट, कम्युनिस्ट, जनसंघ सभी में) वह चरित्र नहीं, जो एक जमाने में गान्धीवादियो में था। एक जमाना था कि गान्धीवादी बडे अडियल होते थे, और अपने सिद्धान्तो पर डट गये तो डट गये, फिर कौन उन्हें डिगाता है! इसी 'अड़ियलपन' को उन दिनो 'सत्याग्रह' कहते थे। यह तब की बात है जब उन का नेता जिन्दा था। अन्त में मशाल टूट गयी। उस के दो टुकडे हो गये। एक नेहरू के हिस्से गया और दूसरा विनोबा के। पर अपूर्ण और खण्डित मशाल बेजान सिद्ध हुई। गान्धीवाद कहीं लँगडा हो कर रहा तो कहीं अन्धा। आज स्थिति यह है कि दिल्ली चाहे जिस दल के हाथ में जाये, जिला-स्तर पर उस के आदेशो को कार्यरूप में परिणत करने का भार तो 'हम' पर, 'आप' पर और 'उस' पर ही रहेगा।

और, यह 'हम', 'आप' और 'वह' अपनी कांग्रेसी, कम्युनिस्ट, सोशलिस्ट और जनसघी वर्दी के बावजूद कपडो के नीचे 'असलियत' में क्या है ?— यह आज का सब से कठोर और सत्याग्रही प्रश्न है। पर यह प्रश्न इतना भयकर है कि उस से आँख मिलाने की हमारी हिम्मत नही। फलतः यथार्थ 'अस्तित्व' से मुँह फेर कर हम शब्दों के माध्यम से सोचते है। शब्द एक अभिव्यक्ति की विधा भर है। यह अस्तित्व नहीं। 'अस्तित्व' पकडने का साहस चाहिए। वह हम में इस लिए नही कि हम 'सत्ता सघर्ष' वाली राजनीति की सन्तान है, 'सत्य सघर्ष' वाली राजनीति से हमारा कोई वास्ता नही। हमें हमारे गुरुओ ने आदेश दे रखा है सत्ता के लिए सत्य से समझौता करो। अर्धसत्यो के युग में सत्य को सरे बाजार बेचो। क्योंकि, अर्धसत्यो के युग में सत्य को 'अस्तित्व' के रूप में नही, महज 'शब्द' के रूप में देखा, सुना और परखा जाता है। भारतीय राजनीतिक चिन्तन की यही ट्रेजडी है कि उस के अन्दर सिद्धान्तो की 'शब्द' गत स्थिति को व्यक्त करने के लिए कामराज, लोहिया, डागे और मधोक के ईमानदार चेहरे हैं, तो उन्ही सिद्धान्तों की 'अस्तित्वगत' स्थिति को व्यक्त करने वाली हैं कार्यकर्ताओ की वर्दियाँ, जिन में बहुत कम के भीतर आदमी का निवास है और ज्यादा सख्या में वे अदृश्य प्रेतों के भीतरी तनाव के कारण हवा में झूल रही हैं और अपने अस्तित्व का इजहार कर रही हैं।

जो कुछ देखा, जो कुछ सुना, वह अपूर्व था। छुट्टियाँ खत्म हुई। घर से स्टेशन की तरफ चला। रास्ते में एक टैक्सी में जगह मिल गयी। जब टैक्सी एक हाईस्कूल के सामने से गुजरी तो सडक रोक कर १२ या १४ किशोरवय तरुण खडे मिले, जो उम्र के हिसाब से मैट्रिक कक्षाओ के छात्र लगते थे। टेरीलिन बुश्शर्ट, ड्रेनपाइप पैण्ट और काला चश्मा उन के विद्यार्थी होने का सबूत था। 'रोको' का समवेत स्वर आया। टैक्सी रुकी। तरुण मण्डली शायद मुझे पहचानती थी। शेष सहयात्री तो बाहरी आदमी थे। दल-नायक का कडा आदेश हुआ, "देखो, इन लोगों को पहुँचा

कर, शीघ्र लौटो। हमें शहर जाना है मैच देखने!" ड्राइवर कुछ कहे कि कडकता हुआ औरगज़ेवी आदेश आया, "जाओ! हमें देर होगी!" ड्राइवर चला। रास्ते में वताता गया, "आना ही होगा। वावू, ये लोग इसी तरह से जाते हैं। एक पैसा नही देते। मांगने पर शीशा तोड देते हैं, गाली देते है।" मैं ने देखा कि सभी आसपास के अच्छे खानदानो के लडके हैं। इन के माता-पिता तो शरीफ हैं, पर ये कैसे इस तरह के हो गये?

तो क्या ये क्रान्ति के लक्षण हैं? नही, विलकुल नही। क्रान्ति महान् और पवित्र वस्तु है। उस से जीवन का जन्म होता है। पर यह जो कुछ किशोरवर्ग के अन्दर अखिल भारतीय स्तर पर घटित हो रहा है, वह अराजकता है। उच्छृंखल, अर्थहीन अराजकता एक मरणवासना है। सामाजिक असन्तोष या हताशा से इस का जन्म नही हो रहा है। क्योंकि चाहे वह कलकत्ते की हडताल हो या ऊपर का टैक्सीकाण्ड हो, इस में वे चेहरे काफी नजर आते है, जो दस-पाँच रुपये प्रति दिन खर्च करते है, और उन की एक कमीज़ का दाम तीस-चालीस है। यह सर्वहारा वर्ग नही। इस का असन्तोष सर्वहारा करुणा से नही जन्म ले रहा है। इस के पीछे कभी-कभी प्रान्तगत, भाषागत सम्प्रदायगत असन्तोष हैं जरूर—पर सौ में सत्तर के अन्दर इस अराजकता के पीछे उन का नया मन है, जो 'सैडिज्म' और ध्वस में कलात्मक विनोद का आनन्द पा रहा है। उन की चेतना के ऊपरी स्तर पर यह क्रोध जैसा अनुभूत हो रहा है, पर अवचेतन में यह आनन्द है। यह और वात है कि कोई कुशल सूत्रधार आ कर अपनी कूटनीति द्वारा उन के इस ध्वस रसलोभ का अपने उद्देश्यों के लिए उपयोग कर ले। परन्तु यह सव क्रान्ति का लक्षण नही।

उन के इस ध्वंसरस-लोभी मन का इलाज क्या है? दमन? नही। क्योंकि, दमनकर्ता के लिए जिस प्रामाणिकता और सत्य-गौरव की आवश्यकता होती है, वह वर्तमान शासक वर्ग के पास नही। ऐसा इलाज अत्याचार का रूप धारण कर लेगा। कोई इस से भी सूक्ष्म विधा चाहिए।

किसी महान् स्वप्न या आदर्श द्वारा उन के इस 'स्वसरस-लोभ' का उदात्तीकरण और दिशा-परिवर्तन करना होगा। जिस प्रकार कि 'दमित कामनाओं' का, स्वप्न, काव्य या कला के रूप में उदात्तीकरण कर दिया जाता है, ठीक वैसे ही कुछ करना होगा। पर यह तब होगा जब कवि, शिक्षक और लोकनायक तीनो सयुक्त, परस्पर पूरक प्रयास करें। पर क्या यह हो सकेगा ? वर्तमान अर्धसत्यो के परिवेश में शायद यह नही होगा। और होगा वही, जो नही होना चाहिए।

o

दृष्टि-अभिषेक

मेघों के दफ्तर में भी वितरण में धांधली होने लगी है। लगता है कि आजकल इन्द्र के अफ़सर "कामरूपं मघोन." भी सिर्फ टोटल देख कर ही सही मार देते हैं। गाजीपुर-बनारस में अनावृष्टि, तो गोहाटी में अतिवृष्टि, आखिर हिन्दुस्तान अपना कोटा ही न पायेगा! टोटल तो ठीक ही है! अप्रैल-मई का महीना है और लगातार दस दिन से आसमान में काले-काले मेघों ने हुडदंग मचा रखा है। मैं गोहाटी में टिका हुआ मित्रों के शोषण से अपना पोषण कर रहा हूं और कापियां जांचने जैसे नीरस कार्य में लीन हूं।

पर आज अचानक सवेरे धूप छिटक उठी। आज देव-वासर है यानी रविवार। नीलगगन में छुट्टी की वंशी बज रही है। यह नीलगगन भी बडा पाजी दोस्त है। जब मैं काम में लगा रहता हूं, तो यह मोह के दाने फेंकता है और वंशी बजाता है। कस्तूरी-मृग की तरह गन्ध की खोज में पागल-पागल, घर से दूर-दूर रहने का आदी मेरा मन इस चारे के लोभ में, इस संगीत के सुर पर बुरी तरह खिचता चला जाता है। इस मोहपाश को विकंपित करना मेरे वश का नहीं। अब इस वंशीस्वर को सुन कर ये कापियां और शापमय हो उठी हैं। मैं घोर आग्रह करता हूं, 'भाई मन, मेरे हाथ रह!' पर वह मेरी नहीं, इस पाजी दोस्त नीलगगन की ही सुनता है। हार कर मैं निर्णय लेता हूं, 'आज मेरी छुट्टी रहेगी!' मित्रों को बताता हूं। वे लोग प्रस्ताव करते हैं, 'आप उमानन्द जाने को एक बार कह रहे थे। चलिए, आज ही चला जाये।'....और एक ने

कैमरा ठीक करना शुरू किया, तो दूसरे ने टिफिन कैरियर।

उमानन्द इस क्षेत्र की देवता महायोगिनी कामाख्या के भैरव है। हरेक शक्तिपीठ का एक भैरव होता है। जैसे अपनी अन्नपूर्णा (काशी) के विश्वनाथ बाबा है या विशालाक्षी (मणिकर्णिका-काशी) के कालभैरव। शक्ति योगिनी रूप में प्रिया और स्वामिनी है, पत्नी नही। कामाख्या दस महाविद्याओ के साथ नीलाचल पर स्थित है। यह त्रिपुर सुन्दरी है, पूर्णिमा रूपिणी है, सौन्दर्य और काम का चरम आधार है। इस के तीन रूप है—त्रिपुरबालिका, त्रिपुरकामिनी और त्रिपुरभैरवी। इस के त्रिपुरकामिनी रूप का ध्यान "सद्य प्रस्फुटित कमल पर उगते सूर्य की तरह नग्न भास्वर देह लता" के रूप में करने का विधान यहाँ के प्रतिनिधि ग्रन्थ 'योगिनीतन्त्र' में दिया गया है। पर पापविद्ध मन से यह ध्यान करने पर महाजाग्रत् देवता के भैरवी रोष का भागी बनना पडता है। ब्रह्मपुत्र के दक्षिण तट कामाख्या का नीलाचल है, तो उन से एक मील हट कर धारा के बीच निकली एक पहाडी भस्माचल है, जहाँ उमानन्द भैरव का निवास है। चारो ओर बडा ही प्रखर और चक्करदार प्रवाह है। ब्रह्मपुत्र यो भी बडा क्रोधी नद है, निरन्तर मत्तगयन्द की तरह गरजता रहता है। तिब्बती लोककथाओं के अनुसार यह घोडे के मुँह से निकलता है। शिवरात्रि के दिन तो उमानन्द जाने के लिए मोटर लाच की सुविधा मिलती है, पर अन्य दिनो एक पतली डोगी का ही सहारा लेना पडता है।

कचहरी पर बस से उतर कर हम शुक्लेश्वर घाट पहुँचे। ठाकुर साहब एक डोंगी ठीक करने लगे। इन्द्रदेव कभी कैमरे की ओर देखते तो कभी आसमान की ओर। "भुवनेश्वरी के मस्तक को मेघो ने घेर लिया!" इन्द्रदेव कहते है। भुवनेश्वरी कामाख्या की दसवी महाविद्या है और इस का मन्दिर नीलाचल के सर्वोच्च शिखर पर है। एक समय था कि अहोम शासकों के समय यहाँ नर-बलि दी जाती थी मैं ने देखा,

मृत्यु-भैरवी भुवनेश्वरी के मस्तक पर मेघ घिर आये हैं। अभी मौसम कितना अच्छा और साफ था और अचानक खेल-खेल में नीलगगन रूठ कर उदास हो गया। ब्रह्मपुत्र के पानी का रग फेनिल होने लगा और उस में उफान जोर मारने लगा। अपनी सहज अवस्था में भी ब्रह्मपुत्र क्रुद्ध गज है तो अब तो झड तूफान का लक्षण दिखाई पडता है। मन आगा-पीछा करने लगा। पर भय में भी एक रस है। मन जब रस-बोध के लिए उद्यत हो जाता है तो पीडा, शोक और भय में भी रस मिलने लगता है, फोडे की लय और ताल पर बँधी टभकन एव पीडा का लययुक्त प्रवाह, दुख में भी एक छन्द की सृष्टि करते है, और जब छन्द जन्म लेता है तो एक सुख मिलता है, जैसे करुणरस की कविता का कोमल सुख या अपने निकृष्टतम रूप में चलती रेलगाडी की 'छक-छकाछक' ध्वनि का कर्कश सुख। अत "जले वाराहं थले वामनम्" का स्मरण कर के मैं अपनेआप को तैयार कर लेता हूँ।

अकसर ऐसे अवसरो पर मैं डरता नही हूँ, पर अभिमान भी नही करता हूँ। प्रणति से ऐसे अवसरो पर बडा बल मिलता है। लगता है कि किसी ने कन्धे पर हाथ रख दिया और भुजाओ में समुद्र गरजने लगे। प्रणति अभिमान से ज्यादा विश्वसनीय है। अभिमान की स्थिति में पहला धक्का खा कर ही 'स्व' उलट जाता है और सँभलने का मौका पाने के पहले ही भय दबोच लेता है। नये साहित्य में भय को ट्रेजेडी का यही कारण है। मनुष्य 'स्व' के अभिमान को ले कर प्रकृति से लडाई ठानता है! पहला धक्का नागासाकी में लगा और वह सँभले-सँभले कि 'भय' ('ऐंग्स्ट') ने आ कर दबोच लिया। आज के सूचीभेद्य अन्धकार में प्रणति और ध्यान-योग की, श्रद्धा और विश्वास की, मैं उपयोगितावादी दृष्टि से ही सही, महान् जरूरत मानता हूँ। ये मिथ्या सिद्ध हो चुके है तो सिद्ध होने दो। सौ फीसदी सत्य या सौ फीसदी असत्य का अस्तित्व ही नही होता है और हरेक सत्य यदि सापेक्ष सत्य है तो हरेक असत्य भी

सापेक्ष असत्य ही माना जाना चाहिए। अतः विष्णु या ईश्वर श्रद्धा और विश्वास सापेक्ष असत्य है, यानी सापेक्ष सत्य भी हैं। और साथ ही इन का अस्तित्व इस सूचीभेद्य अन्धकार में उपयोगी है। मैं इस तरह मन ही मन ईश्वर के पक्ष में उपयोगितावादी तर्क पेश करते हुए फिर "जले वाराह, थले वामनम्" का स्मरण करता हूँ।

"बडी प्रखर धार है!" ठाकुर ने कहा।

धार प्रखर है। लहरे है, पर अभी आवर्त नही हैं। डोंगी में हम तीन और चौथा मल्लाह—यही चार है। अगल-बगल हरी-हरी जल-कुम्भियो की सेना चल रही है। दुनिया की बदनाम और बेकार घासो में से एक यह जलकुम्भी भी हैं। पर महावाहु ब्रह्मपुत्र ने इसे अपनी भुजाओ का शृगार बनाया है। "लगता है कि ये लहरें नही हज़ारो कुजडे हैं जो सिर पर साग-भाजी का झावा लिये तैरते जा रहे हैं।" कोई कहता है और एक फूल लपक कर तोडना चाहता है कि नाव का सन्तुलन बिगडते-बिगडते बचता है। "ज़रा ठीक से रहो, बाबू", मॉझी की आवाज आती है, 'नाव मोटर से भी तेज़ चल रही है।" मन ही मन वाराह विष्णु का स्मरण करता हूँ। पृथ्वी के रसातल से उद्धार के बाद विष्णु ने उसे स्नेह से अपनी विराट् भुजा पर बैठा लिया। पृथ्वी उन दिनो अपवित्र रजस्वला अवस्था में थी। फलत आसुर भावापन्न नरकासुर पैदा हुआ। इसी प्राग्ज्योतिषपुर (गोहाटी) में विष्णु ने पुत्र को शासन-दण्ड देते हुए कामाख्या 'नायिका' की आराधना का मगलानुशासन दिया। अन्त में उस की आसुरी बुद्धि प्रबल हुई और कामाख्या पर ही रूप-मोहित हो गया। बाद में कृष्णावतार में विष्णु ने स्वय उस का सहार किया। पर शासन उसी के वशजो का काफी दिन तक चला। इसी से ग्यारहवी शताब्दी तक कामरूप के प्रत्येक नये राजवश के ताम्र-शासन पर महा-वाराह विष्णु की प्रशस्ति मगलाचरण के रूप में गायी गयी है।

आकाश का रग कुरंग हो रहा है। अब उस सुनहली धूप का पता

नहीं। यहाँ की भूमि में, यहाँ के मौसम में, हवा पानी में सर्वत्र महायोगिनी का सूक्ष्म निवास है। 'क्षणे रुष्टा क्षणे तुष्टा,' नाज़-नखरे वाली नायिका के 'मूड' बदलते रहते हैं। आकाश में वरसाऊ धूसर मेघों की सेना चारों दिशाओं से दौड़ रही है। लगता है कि ब्रह्मपुत्र की मध्यधारा में ही त्रिपुर भैरवी के आरभटी-रोष का दर्शन होगा।

'यार, इस मँझधार में ही तूफ़ान आयेगा।" सचमुच जो नाव लहरों के घोड़ों का मस्तक रौंदती हुई चल रही थी वह वली ब्रह्मपुत्र की भुजाओं पर चक्कर खा रही है। "आज नहीं आना चाहिए था!" यह भाव हम सब के मन में गोपन-गोपन उठा। पर कह कर कौन अपनेआप को कायर साबित करे? अगल-बगल तेज आवर्त से घरघराते पानी के चक्रोह, ऊँची उठती लहरें और लहरों के माथे पर फेन जो तट पर से देखने पर सुन्दर भले ही लगे इस समय साँप की तरह फुफकार रहा था। माँझी कुशल नाविक की तरह आवर्तों से बचा-बचा कर नाव ले चल रहा है।

"असली खतरनाक विन्दु अब आ रहा है। इसी के आस-पास दुर्घटनाएँ होती हैं।" इन्द्रदेव ने कहा। पतली डोंगी हिचकोले खा रही है। इतनी पतली है कि चौड़ाई में दो मर्द सट कर ठीक से बैठ नहीं सकते। यों हम कहने के लिए नाव में हैं। पर नाव का तल पानी से नीचा लगता है। अगल-बगल की लहरों के बीच लगता है कि हम लहरों में बैठ कर जादू के ज़ोर से जा रहे हैं। बिना हिले-डुले भावशून्य चेहरे से चुपचाप पर भीतर ही भीतर इस झड़ तूफान से गरजते आकाश के नीचे ब्रह्मपुत्र की धाराओं पर अपनेआप को धीर और स्थिरचित्त रखने की खूब कोशिश कर रहे हैं। धीरज धरो, महावाराह रक्षक हैं। "अह, नाव खराब पानी में फँसी!" माँझी ने कहा। उस का स्वर बदला हुआ था। "घबराना मत, बाबू!" वह सँभाल कर युद्ध के लिए सन्नद्ध हो रहा है। हमारे तन में बिजली दौड़ गयी। हम बोल नहीं सके, चुप रहे। धरती रहती तो कुछ

जौहर दिखाते। धरती जल की अपेक्षा अपने कितने नजदीक है। धरती माँ है। धरती अचल है। पर जल तो सात घाट बहने वाली नदी है। आज हमारी तो कल उस की। भस्माचल दूर नहीं है। चीनोचम्पा के पेड और बाँस के झाड हवा में झूमते साफ पहचाने जाते हैं। पर त्रिपुर भैरवी की इस आरभटी मुद्रा में सौन्दर्य निरखने का अवसर कहाँ। नाव घिर्नी की तरह एक ही जगह पर घूम रही है। ऊपर आसमान से पानी कम, पर हवा का क्रोध ज्यादा बरस रहा है। भस्माचल कितना नजदीक है। पर साथ ही कितना दूर। यह मृत्यु और जीवन के बीच वाले क्षण लघु क्षण की दूरी है, जो लघु होते हुए भी महाकाल के विस्तार से ज्यादा विस्तृत है।

यह एक अपूर्व क्षण है। एक क्षण के भीतर स्मृतियो और शकाओं के असख्य क्षण परत पर परत प्रस्फुटित हो रहे हैं। दिमाग बडी तेजी से काम कर रहा है। मन का पर्यंक-बद्ध आसन डोल उठा है। यह चरम क्षण है। मैं भूल जाता हूँ कि मैं औरो के साथ हूँ। मै बिलकुल अकेला हूँ। बिलकुल अकेला। मैं भय-कम्पित हृदय से अगल-बगल देख सकने की सज्ञा को कस कर पकडे रहना चाहता हूँ। मेरे शीश पर दो-दो हाथ ऊँची लहरें उठ रही है। और नाव जब हिचकोले खाती है और मेरा किनारा दबता है तो अपूर्व दृश्य बन जाता है। लहरे उठ कर मेरे सिर पर ठीक वैसे ही फण तान देती हैं, जैसे शेषशायी विष्णु की प्रतिमा पर शेषनाग का फण-छत्र तना रहता है। ये एक-एक गज ऊँची दस-बीस लहरें मेरे सिर के पीछे मृत्यु का छत्र तान रही हैं, गोया काल की नगरी मेरे बिना ही सूनी हो अत. मेरा स्वागत है। यह अनुभव आजन्म भूलने की चीज नहीं है। सहसा ऊपर बरसते मेघो से वज्र कडकता है। मेरा ध्यानयोग टूटता है। गोया वज्र आदेश दे गया 'धीरज और प्रणति, धीरज और प्रणति . आखिरी लडाई में जीवन ही जीतता है।' मैं पुन ठीक हो जाता हूँ। बाबा द्वारा रटाया "जले वाराहं थले वामनम्" वाला श्लोक स्मरण हो

जाता है।

सहसा एक बड़ा धक्का लगता है हम लोग उलटते-उलटते बचते हैं। प्रवाह का कोण कुछ इस ढंग से नाव को धक्का देता है कि नाव आवर्त से बाहर उछल कर आ जाती है : "अलखपुर बाबा की जय!" मांझी चीत्कार लगाता है। मन उस में योग देता है। विजय मनुष्य की हुई। प्रकृति हारी, पर मनुष्य ने प्रणति दिखायी और प्रकृति की जय का चीत्कार किया। प्रणति और वीरता ही सूचीभेद्य निराशा के भीतर रास्ता दिखाते हैं। लड़ाई कर्म है, परन्तु प्रणति धर्म है। क्योंकि प्रकृति किसी द्वेषवश हम से नहीं लड़ती, वह प्रकृति के नियमों के अनुसार धर्म पालन कर रही है। उस के धर्म और हमारे कार्य के बीच टकराहट अनिवार्य है, तो टकराहट होनी ही चाहिए। पर राग-द्वेष और अभिमान के लिए इस संघर्ष में जगह नहीं।

"ऐसे में बाबू धीरज न रहे, तो नाव मारी जाती है।" मांझी कहता है। हम धीरे-धीरे तट के पास आ रहे हैं। "बरसात के दिन में इधर आना ही ठीक नहीं," मांझी ने कहा। पर निरर्थक मन्तव्य है, जो इस स्थिति में अपना महत्त्व खो चुका है, जो मूल्यवान् और अपूर्व था, मृत्यु से साक्षात्कार का क्षण, उसे हम पा चुके हैं। वह क्षण क्या मिला, मोती मिल गया। हरेक अनुभव, जिसे हम अपने चरम अकेलेपन में करते हैं, मोती है। पर दूसरों के लिए उस का कोई मूल्य नहीं। दूसरों के लिए वह फालतू-फ़िज़ूल है, पर हमारे लिए उस का महत्त्व है, क्योंकि उस ने हमारे आत्मिक-जीवन में नया रंगीन धागा जोड़ा है। वह लघु क्षण देवता है। देवता का अस्तित्व औरों के लिए नहीं होता है, सिर्फ़ उसी के लिए होता है जो उसे अकेले-अकेले एकान्त में बुलाता है। हम ठोस अस्तित्ववान् शूकरों की अपेक्षा अनुभव के उन मोतियों को ज्यादा कीमती समझते हैं जिन का औरों की नज़र में कोई अस्तित्व नहीं। मुझे रेने शॉर की, जो अल्बेयर कामू के अनुसार इस शती का श्रेष्ठतम फ्रेंच कवि है, दो

पक्तियो वाली एक कविता याद आती है :

"तुम अपने शूकरो को मना करो,
जिन का अस्तित्व है।
मै उस देवता के प्रति समर्पित हूं,
जिस का कोई अस्तित्व नही।"

हम धीरे-धीरे चट्टानी द्वीप के नजदीक पहुँच रहे हैं। गगा के बीच जैसे रेती दीख पडती है, ठीक वैसे ही यह द्वीप भी देखने में लगता है। अपने गाँव का दियारा हो गगा की रेती है, पर गगा की रेती 'नदी का द्वीप' है यानी मातृका नदी द्वारा उस का जन्म और सस्कार हुआ है। जब कि यह भस्माचल की पहाडी जिस पर भैरव उमानन्द का निवास है धरती से निकली है। महाबाहु ब्रह्मपुत्र ने इस की रचना नही की है, पर वे इसे चारो ओर से अपनी भुजाओ में समेट कर बहते है। ब्रह्मपुत्र में नदी के भीतर दो द्वीप प्रसिद्ध है. एक तो 'माजुली' जो ब्रह्मपुत्र की दो धाराओ के बीच बीसो मील लम्बी पट्टी है, जिस में बस्ती, जगल और चार-चार वैष्णव 'सात्र' (केन्द्र) हैं, जिन का असम के सांस्कृतिक जीवन पर वही असर है, जो ब्रह्मपुत्र का उस के भौतिक-आर्थिक जीवन पर। इन्द्रदेव बताते है "यह ब्रह्मपुत्र गगा मे भी पुराना नद है। मानसरोवर के पास से निकलता है। मानसरोवर के आसपास से तीन नदियाँ निकलती है : सिन्धु, सतलज और ब्रह्मपुत्र। तिब्बत में जब तक ब्रह्मपुत्र बहता है, 'सांपो' कहलाता है। भारत में आ कर ब्रह्मपुत्र बन जाता है।"

नाव अब किनारे आ रही है। वही पेड और वही वेणु-वन क्षण-प्रति क्षण दूसरे होते जा रहे हैं, जैसे तेजी से कोई निकट आगे आ रहा हो। जैसे-जैसे नजदीक आते जाते है, एक-एक अग स्पष्ट होता जाता है। पर साथ ही अगो का कोण बदलता जाता है और लगता है कि ये बाँस, ये टहनियाँ, ये सफेद फूल, ये लम्बी डालें, ये दुमेपीन के पेड और है, पूर्ववर्ती क्षण के दृश्य से भिन्न नए और दूसरे है। अग एक ही होता है, पर उस

के रूप हज़ार होते हैं। अंग एक ही होता है, पर हर बार लगता है कि यह नया रूप है, यह नया सम्मोहन है और इस तरह 'अंग एक परन्तु रूप इतने, रूप अनेक' की माया में हम जनम हारते जाते हैं और नयन तृप्त नही होते। इसी से रूप को वैष्णवी शक्ति कहा गया है। इस का खिचाव दुर्निवार है। इस की ओर मन्त्रविद्ध नाग की तरह हम खिचते जाते हैं। हमारी नाव इतनी तेज़ी से किनारे पर झपटती हुई आ रही है कि मन के पास इतना भी अवकाश नहीं कि इन दृश्यो को ग्रहण कर के सचित कर सके। रूप की रील बड़ी तेज़ी से घूम रही है।

"देखो ये गुलेचीन के पेड किसी बूढे कनफ्यूसियस की तरह झुके-झुके हैं। गोया ब्रह्मपुत्र को सन्तुलन की शिक्षा दे रहे हो।" मैं कहता हूँ।

मन्दिर ज्यादा पुराना नहीं। ३०० वर्ष से कुछ कम ही इस की आयु है। अहोम राजाओ द्वारा बनाये मुख्य मन्दिर के अगल-बगल दो-तीन जीर्ण मन्दिर हैं। मन्दिर में सिर्फ एक ही स्मरण योग्य तथ्य ज्ञात होता है, वह है इस का शिखर। कामाख्या की तरह इस मन्दिर का शिखर भी बौद्ध 'पगोडे' और हिन्दू मन्दिर शिखर का अद्भुत मिश्रण है।

मन्दिर की चहारदीवारी और प्रवेश-द्वार अब भी पुराने हैं। द्वार तोरण पर सरस्वती की प्रतिमा भी पुरानी है। लक्ष्मी और पार्वती की प्रतिमाएँ तोरण के भीतरी ओर हैं। ये पूजन प्रतिमाएँ नही द्वार-सज्जा हैं। मन्दिर के उपगृह में लक्ष्मी नारायण की मूर्ति है तथा गर्भगृह में भी शालिग्राम स्थित है। इस प्रसिद्ध भैरव पीठ में शालिग्राम का प्रवेश देख-कर आश्चर्य हुआ। भारतीय धर्मसाधना की सहिष्णुता ही ऐसी है। गर्भगृह नीची भूमि पर है। सीढियो से उतरने पर दीपक के प्रकाश में ऊबड-खाबड एक लिंग है, जिस पर पीतल के पाँच मुख जडे गये हैं। यही मुख्य देवता है। एक हाथ ऊँचा लिंग और गज़ भर व्यास का 'अरघा'। पीछे पीतल की पंचमुखी शिव की तथा कामाख्या, लक्ष्मी और सरस्वती की प्रतिमाएँ हैं। प्रतिमाएँ एक फ़ुट से अधिक ऊँची नही। यह

सब असम की सत्तरहवी शती की कला के उत्तम नमूने है।

पुजारी ने बताया कि इन मूर्तियो को अहोम राजा विश्वसिंह ने बनवाया था।

मन्दिर में दर्शनीय कुछ नही मिला। मन्दिर में न मिले, पर चारों ओर दर्शनीय ही दर्शनीय है। 'योगिनी तन्त्र' कहता है कामरूप में आ कर प्रत्येक नारी ही कामाख्या हो जाती है। पर मैं तो इस से भी एक कदम आगे जाता हूँ। जहाँ कही रूप में छन्द हो, रग में गन्ध हो, वहाँ-वहाँ नारी है, वहाँ-वहाँ पार्वती है। नदी एक नारी है, चांद एक नारी है, चांदनी एक नारी है। छन्दों के पैटर्न में सजी यह फुहार, यह धूप की हँसी, ये मजरियाँ, ये टहनियाँ, छन्द में बहता हुआ गन्धवाही समीरण सभी नारी-मुद्राएँ है, पर जहाँ-जहाँ छन्द टूटता है, या छन्द स्थिर हो कर खडा हो जाता है, बहता नही, वहाँ-वहाँ पुरुष है। दोपहरी का सूरज, गरजते मेघ, महाबाहु ब्रह्मपुत्र, क्रुद्ध तूफान पुरुष है। चारो ओर दरख्तो की पचायत लगी है। बरगद बैठ कर सुरती मल रहा है। आम पुत्रवान् वैष्णव गृहस्थ है। कटहल पहलवान लँगोटा बांध कर बैठे है। पीपल मिरजई-साफा में वृद्ध ब्राह्मण की तरह खडा है। मुझे लगता है, चारो ओर वाल्मीकि रामायण बिखरी पडी है, पत्ते-पत्ते पर उस के श्लोक लिखे पडे है। मुझे महर्षि भारद्वाज द्वारा किये भरत के अद्भुत आतिथ्य का वर्णन याद आ जाता है। ऋषि ने ऋद्धियों, सिद्धियो, नक्षत्रो, चन्द्रमा और सूर्य आदि समस्त सृष्टि को ही आदेश द दिया 'भरत का आतिथ्य करो।' गोया ये सभी ऋषि के गुलाम हों। और भरत का आतिथ्य हुआ खूब। दूध और शहद की नदियाँ बह चली, जिन की कीचड 'पायस' की थी। बेला, चमेली, बकुल आदि गुल्म-लताओं ने नारी का रूप धारण कर लिया और कपित्थ, बेल, हर्रे, बहेडे आदि के पेड कुबडे, बौने और विदूषक बन गये तथा गन्धर्व वेश धारण कर के मृदग और मजीर बजाते उपस्थित हो गये।

जब कभी मैं किसी तीर्थ स्थान या पिकनिक में जाता हूँ तो लगता

है मैं ही भरत हूँ और किसी अदृश्य तेजस्वी ने सारी सृष्टि को आदेश दे दिया है कि मेरी सेवा में सारे रूप-रस-गन्ध उपस्थित हो जाये। मैं चुपचाप बिना किसी से बताये ही सारी मौज अकेले-अकेले लूटता हूँ। गोया विधाता ने मुझे ही सारी हरियाली चरने के लिए खुला सांड छोड दिया है। मौज के इस उल्लास का, रूप के इस आस्वादन का साझा नही हो सकता है। जिस तरह यातना के चरम बिन्दु पर हम अकेले है वैसे ही रस-भोग के चरम पर भी हम अकेले है, आस्वादन के आधार-आधेय से परे। कभी-कभी जब मैं निर्लज्जता की हद कर देता हूँ तो मित्र कहते है, "यार, बडे कमीने हो, उस चमेली के झाड पर ऐसे आँखें सेक रहे हो, गोया वह कोई लडकी हो!"

मेरा ध्यान भग होता है। पुजारी बता रहा है, "प्रति शिवरात्रि को यहाँ शिव को मास की बलि दी जाती है।" (पता नही यह कहाँ तक सही है।)

हम लोग प्रतिवाद करते है।

"अरे ये आप के विश्वेश्वर नही। ये तान्त्रिको के अघोर भैरव है। अतः मास बलि तो दी ही जायेगी, पर अब केवल शिवरात्रि को ही पाते है।"

हम पूछते है, "यदि यह भैरव पीठ है, तो शालिग्राम क्यो रखा हुआ है?"

"भेद बुद्धि से ऊपर उठो, बाबू! 'कालिका पुराण' पढो। यह कामरूप में दसवी शती में लिखा गया है। महा त्रिपुरसुन्दरी ने ही अपनी एक लीलामूर्ति विष्णु को दी और एक शिव को, लक्ष्मी और सती के रूप में। त्रिपुरसुन्दरी ही विष्णु की स्वामिनी, उन की प्रेमिका, उन की योगमाया हैं। विष्णु भी अघोर भैरव है, कामरूप में नृसिंह और बालगोपाल दोनो अघोर भैरव बन कर सूक्ष्म रूप से निवास करते है," पुजारी ने कहा।

अब नाव लौट रही है। दूसरे रास्ते से। भस्माचल से दाहिने हट कर एक दूसरा ही शिलापुज है, जिसे कर्मनाशा कहते हैं। नाव उस की आधी परिक्रमा करती हुई जायेगी—पानी का वहाव ही ऐसा है।

"पानी का बहाव ही ऐसा है कि आओ एक रास्ते, तो लौटो दूसरे रास्ते से। नदी का रास्ता तो नदी ही देती है, बाबू! यह आदमी के मन की बात नही। नदी में ब्रह्मपुत्र का हुक्म चलता है!" माँझी कुछ दार्शनिक की तरह बात कर रहा है। वह असमिया बोल रहा है, जिस का तात्पर्य कमोवेश यही होगा 'नदी में नदी ही कर्णधार है, नदी ही सारथि है, नदी ही मृत्यु है, नदी ही काल है, जल में नदी ही सब कुछ है।'

पर मैं मन में दोहराता हूँ 'जले वाराहं थले वामन!' नदी में नदी कुछ नही। वाराह पुरुष विष्णु ही कर्णधार है, सारथी है, मृत्यु है, काल है, साथ ही आशीर्वाद और जीवन भी है। यह नदी बेचारी क्या है? कुछ नही।

नाव तेजी से चल रही है, हम लोग ब्रह्मपुत्र की चर्चा कर रहे है

"ब्रह्मपुत्र पुल्लिग है। यह नद है। उत्तर भारत में शोणभद्र (सोन) और सिन्धु भी नद है।"

"तिब्बत में लोक-विश्वास है कि ब्रह्मपुत्र घोडे के मुँह से निकला है, सिन्धु व्याघ्र के और सतलज हाथी के मुँह से, तथा कर्णाली अर्थात् सरयू नदी मयूर के मुँह से निकली है। ये चारो नदियाँ मानसरोवर या उस के पास से निकली है।

"मानसरोवर अब अपना कहाँ रहा?"

"हिन्दुओ की चीज़ थी, इसी से 'सेक्यूलरिज़्म' में उस का मूल्य एक कौडी भी नही आँका गया!"

"लोहिया ने बताया था कि मानसरोवर के पास एक गाँव या इलाका है। जिस की मालगुजारी तिब्बत सरकार सन् १९४७ तक ब्रिटिश भारत को देती थी, क्योंकि दो राजाओ की अति प्राचीन मौखिक सन्धि के

फलस्वरूप वह गाँव परम्परा से भारत का गाँव माना जाता था।"

—आदि-आदि दुनिया भर की बातें पता नहीं, कौन बात किस ने कही : तीनों कह रहे थे, तीनो सुन रहे थे। नदी की धार में तीनो का व्यक्तित्व नयुक्त सा हो गया था।

नाव अब कर्मनाशा द्वीप की परिक्रमा कर रही है। 'कीर्त्तिनाशा काल-प्रवाहिनी' क्रोधी धाराएँ चट्टानों से अविराम द्वन्द्व में लगी हैं। सहसा अपूर्वदृश्य सम्मुख आता है। इस के लिए आँखे तैयार नहीं थी। आसमान से जैसे कोई आशीर्वाद बरस पड़ा हो। चट्टानो पर शिव-पार्वती की खडी मुद्रा में उरेही गयी प्रतिमाएँ अचानक सामने आती है। फिर बगल की चट्टान में गणेश-कार्तिकेय, फिर दूसरी अगली चट्टान में भी शिव-पार्वती उट्टंकित है। लगता है, प्रतिमाएँ हाथ उठा कर कुछ पूछ बैठेगी, "कब आये ?" "कैसे हो ?" ये शिव और पार्वती शताब्दियो से खुले आसमान में धूप-वर्षा के बीच मौज से खडे है। सच पूछिए तो खुले आकाश से छोटा मन्दिर शिव जैसे मनमौजी को पसन्द भी नही हो सकता। प्रतिमाओ के पास से अत्यन्त तेज गति से चक्कर काटती नाव निकल जाती है।

हम धीरे-धीरे उस पार पहुँचते है। घाट पर उतर कर बायी ओर कुछ दूर चल कर शुक्लेश्वर घाट पर जाते हैं। और वहाँ पर से अपने लघु और रोमाचक यात्रा-पथ पर नजर दौडाते हैं। अब आसमान साफ है। जल-कुम्भियो और फेनो की बडी-बडी बदसूरत ढेरियाँ उसी तरह तैर रही है।

शुक्लेश्वर घाट भी मूलत पहाडी ही है। हम लोग पक्की कटी सीढियो पर उतर कर जल के छप-छपाछप के पास बैठ गये। हमारे सिर के ऊपर पेडों की डालें झुकी है। पृष्ठभूमि में शताब्दियो पुरानी एक बडी सी चट्टान पर 'बुद्ध जनार्दन' विष्णु की विशाल प्रतिमा है।[1] मैं प्रतिमा

---

१ इस चतुर्भुज प्रतिमा को कुछ लोग शिव की प्रतिमा कहते हैं। ऊपर उठे दोनों हाथों में विष्णु के लाञ्छन शंखचक्र हैं। पर नीचे के दोनों हाथ योगासन स्थित बुद्ध का तरह हैं। इसी से लोग इसे 'बुद्ध जनार्दन' भी कहते हैं। काम रूप आगम-

के पार्श्व में खडा-खडा ब्रह्मपुत्र की धार की ओर, उमानन्द भैरव की ओर और दूसरी तरफ उस पार को अश्वक्लान्ता पहाडियों की ओर देख रहा हूँ। इन्द्रदेव कहते हैं, "भई, देखो पत्थर में भी फूल खिलता है।" मैं ने देखा, विष्णु की पाषाण जघा पर थोडा सा, एक तोले भर, गर्द-गुबार इकट्ठा हो गया है और उसी में एक नन्हा, जगली फूल का पौधा खुशी से लहरा रहा है। एक लाल-पीला मिश्रित रंगवाला फूल उस के मस्तक पर झूम रहा है। मुझे लगा कि पिता विष्णु के शान्ति निर्विकार मुख पर वात्सल्य की रेखाएँ खिच आयी हैं। इस नन्हे छोटे भाई के लिए मन में सहज ही प्यार उमड आया।

मेरी नजर फिर उस पार अश्वक्लान्ता की ओर जाती है। कृष्ण का अश्व यहीं क्लान्त हो गया था—उन के घोडे की टाप यही रुक गयी और उन्हें ठहर जाना पडा। उस समय वे प्राग्ज्योतिषेश्वर नरकासुर का विनाश करने आ रहे थे। कृष्ण ने नरकासुर का संहार कर के उस की वश परम्परा को आर्य मण्डल में अन्तर्भुक्त कर लिया। प्रागज्योतिषेश्वर भगदत्त की पुत्री कौरव सम्राट् दुर्योधन की पत्नी अर्थात् भारत की साम्राज्ञी थी। किरातादि जातियो के जिम्मे उन्होने पहाडी प्रदेश कर दिये। कुछ लोगों के अनुसार इन जातियो के वशज ही खासी, मिजो और नागा हैं, जिन का रग महाभारत के अग्निवर्ण किरातों की तरह आज भी सुनहला है। तो, यही आ कर कृष्ण का घोडा थक कर चूर हो गया। उस की गति रुक गयी। वह किरातारण्य के भीतर नही जा सका।

मैं सोचता हूँ कि कृष्ण का घोडा यहो नहीं आ कर थका है। वह भारत के गाँव-गाँव में थक गया है। हमारे गाँव के दक्षिण भाग में जहाँ डोमो की बस्तियाँ है, उस की टाप आ कर रुक गयी है। इन बस्तियों में पलने वाली डोम-बालिकाओ के गठे श्यामल बदन पर लोलुप नजर रखने

निगम और बौद्ध साधनाओं की समन्वयभूमि रहा है। अत प्रतिमा को 'बुद्ध जनार्दन' की सज्ञा देना ही मुझे युक्तिसगत लगता है।

वाला पुरोहित वर्ग इन्हें गाँव में औरों के साथ बसने का विधान नही देता। मेरे मन में रोष है। मैं सोचता हूँ कि कृष्ण के घोडे की चौथी टाँग मनु महाराज ने तोड दी है। मैं मन ही मन प्रार्थना करता हूँ, 'कृष्ण, कृष्ण, प्रभु, छोडो इस तीन टाँग वाले घोडे को और नयी दिग्विजय के लिए, मनुष्य को नयी जय-यात्रा के लिए, नवीन तुरग पर अवतरण करो।'

●

कजरी वन में जीवहस

उन्नीस सौ सत्तर का युवा वसन्त अभी कुछ दूर है, पर उस की नक्सल-पन्थी लौहमृदग की टकार सुन कर यह वर्ष यानी उनहत्तर का जर्जर-पाण्डुर बूटा हेमन्त और ठण्डा पड गया है। ऐसे मे दुबक कर किसी तरह से वक्त काट लेना चाहिए तो ये जवान लडके-लडकियाँ हठ कर रहे है कि मै उन के साथ कल पिकनिक चलूँ ही। इन के साथ 'सर' बन कर चलना कम जोखिम का काम नही। विशेषत. जब ये 'पिकनिक मूड' में हो। कहीं ये पुलिस वालो से झगडा न कर बैठे, कही रास्ते में किसी रेस्त्रां में कोई सक्रिय साम्यवादी धमकी न दे बैठें, कही कोई वारदात न हो जाये, कही किसी लोकापवाद या जनरव का सूत्रपात न हो जाये। ये सब तमाम दुनिया भर की बातें है। पर आखिर क्या किया जाये? इन्हें डोर में बांध कर तो सर आशुतोष या मालवीय जी के जमाने में भी पिकनिक के लिए नही ले जाया जाता था। और इस दुखी, कर्मफल-विद्ध, विरस-कुरस-अपरस दार्शनिकता की पुण्यभूमि भारतवर्ष में यदि कोई बेचारा या बेचारी किसी राह भूले मौज के क्षण को अचानक पा कर नही थोडा कुछ कर दे, यानी किसी को पीट दे, किसी को गाली दे दे, किसी को लूट ले, तो उस सनातन दुखी भारतीय के प्रति मुझे क्रोध नही आता, उल्टे सहानुभूति ही होती है। आह, बेचारा चौरासी लाख योनियो में भटकता रहा है, दुख का मारा है, इस बार मनुष्य-तनु पा कर भी 'दुख ही सत्य है' के विश्वासी इस देश में जन्म पाया है। चलो, क्षण भर के लिए तो उस के दुख की लौह प्राचीर मसकी, अभाव के अनुशासन व्यूह में कोई फांक या दरार

तो पैदा हुई।

इसी से राह भूले मौज के इस क्षण को मैं गैर-कनूनी नही मानता क्योंकि एकमात्र ऐसे ही क्षणों के मध्य तो नया भारतीय अपने मानवीय अस्तित्व को अनुभूति प्राप्त करता है। ये ही क्षण तो उस के अस्तित्व की प्रत्यभिज्ञा के दर्पण है। मैं नही चाहता कि नयी पीढी से ये दर्पण भी बिना बदले में कोई अन्य दर्पण थमाये छीन लिये जायें। शेष सारे दर्पण तो अन्य धृतराष्ट्रों की कैद में है। मेरी इस सहानुभूति का ज्ञान मेरे शिष्यो को भी है। वे प्राय. सीनियर अध्यापको, विप्रो-गोस्वामियो, ऋग्वेदों-सामवेदो को छोड कर ऐसे मौक़ो पर मुझे ही पकडते है। पर इस बार उन के आग्रह के खतरो को ध्यान में रखते हुए मैं ने साथ में एक अन्य वरिष्ठ अध्यापक को भी ले चलने का सुझाव दिया। और कुछ देर बाद जगत् बरुआ आ कर कह गया कि 'अमुक' अथर्ववेद तालुकदार भी साथ साथ चल रहे हैं। सुन कर मै ने निश्चिन्तता की साँस ली। चलो, अच्छा ही हुआ। कही कुछ घटित हुआ तो वरिष्ठता के पीढे पर बैठा कर सब की उच्छृंखलता के पाप का भस्म-तिलक इन के ही वय पूत ललाट पर अंकित किया जायेगा, इन की ही पकी बुद्धि सब कुछ सँभालेगी। बस, आते ही आते सर, यह बात... सर, वो बात .. वगैरह कह कर ऐसा वातावरण पैदा कर दूँगा कि सरगना का सिरपेंच-उष्णीश इन के पुरुषोत्तम श्वेत-कर्बुर शीश पर बिना किसी प्रस्ताव-समर्थन के अपनेआप बैठ जायेगा। सारा झमेला इन के सिर पर, और मैं कन्धा झाड कर मुक्त साँड जैसा यहाँ-वहाँ चरता-रौंदता फिरूँगा, जहाँ कही भी आनन्द की हरी घास उपट कर लगी होगी। मेरे मन में विद्यार्थी जीवन में बोले गये और सुने गये एक काक-शुक-सम्वाद की स्मृति उभर आयी। यद्यपि अब तो 'ते हि नो दिवसा गता'! फिर भी सम्वाद कुछ इस प्रकार से है

"जंगल में बेल पका है : जगल में बेल पका है!"

"तो पकने दो, कौए को इस से क्या?"

कौआ ठहरा मर्यादावादी रामायण का वक्ता, अत बेचारा चुप रहा। पर निरन्तर श्रीमद्भागवत पढने वाला तोता, लीला-शुक, क्यो चुप रहे ?

"क्यो नही, महाशय ? कम से कम हम चोच तो मारेंगे ! चोट तो खायेंगे !"

तो दूसरे दिन बिलकुल सवेरे एक लम्बी नीली बस धुन्ध को चीरती हुई, आगे बढी। उस समय सुबह का सूरज तुहिन-धूम के समुद्र में ऊभ-चूभ हो रहा था। भोर के आगमन के पूर्व रोज़ ही ऐसा होता है कि तम जब हारने लगता है, तो मोह-धूम की सृष्टि करता है, जिस में सक्रान्ति कालीन शब्दों के सही अर्थ की तरह, सूरज कुछ देर तक रास्ता भटकता रहता है। पर भोर के वन पखेरुओ के गान, अगल-बगल के बाँस वनो से आती झरझराती खड-खड ध्वनियाँ उसे रास्ते का आभास दे देती है। ऐसा तो कोई जनमा ही नही जो सारे वनपाँखियो का गला घोट दे, जो सूर्य को पी कर पचा जाये। रास्ते की टोह तो मिल ही जाती है।

ब्रह्मपुत्र का पुल पार करते-करते रोशनी छिटक पडी। यह प्राग्-ज्योतिप देश है, अत ठेठ हिन्दुस्तान से, अपने बनारस-गाजीपुर से यहाँ पर 'जवाकुसुमसकाश काश्यपेय' महाद्युतिम्' सूर्य सत्तरह मिनट पहले ही रोज़ पहुँच जाया करता है। हमारे बगल में अथर्ववेद महाशय टाई-कोट के ऊपर काली 'नेवी'-कट टोपी लगा कर अभी तक मौन चले आ रहे थे। पीछे से आती अविराम हास-परिहास ध्वनि और हुल्लड के बीच उन्होंने मुझ से कुछ कहा। मैं ने अभिनय किया कि बडी गम्भीरतापूर्वक सुन रहा हूँ। पर प्रत्युत्तर न दे कर खिडकी से प्रतिक्षण परिवर्तित हिरण्यवर्ण-महाद्युति सूर्य को देखने लगा।

गौहाटी में एकाध घण्टे रुकने की बात थी। अपने भीतर के वैश्वानर पुरुप को प्रात कुछ गरम-गरम आहुति दे देनी थी और छोटा-मोटा बाजार भी करना था, सवेरे-सवेरे सट्टी में चीजें ताज़ी जो मिलती हैं। पर इन लडके-लडकियो को फिर इकट्ठा करना ढाई सेर मेढक तौलने के समान

कठिन है। कौन किस गली में आँख बचा कर निकल गया। कौन किस रेस्त्राँ या कैण्टीन में घुसा, कौन किस बाज़ार में, किस के पास इस का लेखा-जोखा मौजूद है ? जैसे-जैसे देर हो रही थी, अथर्ववेद का भीतर ही भीतर खून खौल रहा था और मैं इधर इन के अनावश्यक क्रोध और उधर युवा वालखिल्यो की लापरवाही से दोहरा 'बोर' हो रहा था।

खैर, जैसे-तैसे, एक-दो, चार कर के सब इकट्ठे हुए। इस बीच में एक रिक्शे पर लद कर कुछ सामान भी आ गया। ताज़ा दही, नवनीत, कमला नीबू, केले, सन्देश, 'सद्यो मास' यानी ताज़ा 'मीट' और रोहित मछलियाँ। ब्रह्मपुत्र के रक्त अधर-रजतवर्ण ताजे पट्ठे रोहित का स्वाद तो अपूर्व होता ही है, इन के रूप को देख कर माया लगती है। पर मनुष्य सृष्टि का सब से बडा रूप-भक्षी श्वापद है। शेष श्वापदो को भक्ष्य ही चाहिए पर इसे रूप और भक्ष्य दोनो चाहिए। सुरुचि और सौन्दर्य-सस्कार के नाम पर।

ज्यो तो सारे सामान को मेस के चाकरो ने सहेजा। पुनः 'यात्रा होलो शुरू!' इस बार गाडी शिलाङ् रोड के वक्र-ऊर्ध्व मार्ग पर चल पडी। साथ में साक्षात् आर्यसमाज की तरह नीरस श्रीयुक्त अथर्ववेद चल रहे थे। अत अपने गले से जो करने का साहस छात्र-छात्रागण नही कर सके, उन्होंने उसे मशीन के गले से करने का आयोजन किया। एक लोकप्रिय अँगरेजी गान, एक 'ड्यूएट' (द्वन्द्व गान) का रिकार्ड लगाया और ताल दे कर सन्तोप करने लगे। इधर यान के चक्के फुरती से चक्कर काटते हुए आँके-बाँके सर्पवत् मार्ग पर आगे बढे जा रहे थे। बेंत-वन और बाँस-वन के झोंप पर झोप, आपाद मस्तक लतागुल्मो-ढँकी शिलाङ् पर्वत-माला दाहिनी ओर, तो हाथ-दोहाथ-चार हाथ के हाशिये के बाद सैकडो गज गहरी खाई या खड्ड बायी ओर; और, इन दोनो के मध्य अपना अविराम मुखरित यान। पर भय की कोई बात नही। चालू रास्ता है। प्रायः चालको को इस से हो कर आना-जाना पड़ता है, इंच-इंच जाना-पहचाना

है। यों शिलाङ्-पहाड़ियों की असली अपूर्व अप्सरा-छवि तो आगे मिलेगी, हमें इधर ही दूसरा रास्ता पकड़ लेना पड़ेगा। यह सब जो देख रहे हो, वह तो उस छविश्री की झाड़न है। छिछली-उथली, चुल्लू दो चुल्लू भर शोभा-जल वाली! इस में मन-अवगाहन क्या होगा! पर अवगाहन-प्रक्षालन भले ही न हो, जीने के लिए तो एक चुल्लू क्या एक बूँद, एक दाना और एक नजर काफी है। और मन के भीतर जा कर बूँद ही समुद्र में रूपान्तरित हो सकती है, तो क्या होगा बोरे भर कर और गांठ भर? मन आखिर गोदाम तो नहीं। चाहे तो एक बूँद ही माणिक मोती में ढाल सकता है। अत जी भर का निहार लो आदि सृष्टि की प्राग्ज्योतिषा धरित्री को, इस के वेणुकीचककुंजों को, इस की आरण्यक हरित मेखला को, इस के नील उत्तरीय को।

ये प्राग्ज्योतिषा पहाड़ियाँ, जिन्हें आज मेघालय कहा जाता है, आदिम काल में सृजन धुन्ध के धूम्राभ क्षणों में हिमालय के जन्म से बहुत पूर्व सृष्टि की अघोर गर्भगुहा से निकली थीं। भूगोल-वेत्ताओं का मत है कि ये मेघालय की पहाड़ियाँ, शिलाङ्-पर्वत-माला हिमालय से भी पुरानी है और ब्रह्मपुत्र नद गगा से भी पुराना है। इन का तुलना में हिमालय तो पट्ठा जवान है, जब कि ये स्वय आदि रुद्रों की विनाश लीला देख चुकी है, ये पच महाभूतों के साथ अपरा प्रकृति की आदिम मिथुन-लीला की साक्षी है, जिस के काम सीत्कार से कामाख्या की प्राग्ज्योतिषा धरती में प्रथम पुष्प फूटा होगा। और इस के बाद तो एक से एक रग-विरग कुटज-वनज-जलज फूल फूटते गये और आखिर में धरती के पता नहीं किस एकान्त कोने में सृष्टि का सर्वोच्च पुष्प, महा सौगन्धिक 'मनुष्य' प्रस्फुटित हुआ, जिस के चेहरे पर कभी ईश्वर की मुखाकृति झलकती थी।

देखते-देखते घण्टे-पौन घण्टे का माया-पथ पार हो गया। फिर रास्ता बदला। सीधा-सपाट मैदान आया और अपनी बस नवखोला को पार कर

के खासी पर्वत माला को 'सोना' पहाडियो ('सोनापुर हिल्स') को रास्ते में वग़ल में छोडती हुई आगे वढो । अव हम कामरूप पार कर के नवगाँव में प्रवेश कर रहे है । लम्बी यात्रा है ! पर असम में पिकनिक का अर्थ ही होता है, अस्सो मोल-सौ मील, जव कि काशी में इस की सोमा है राजा-तालाव, रामनगर या सारनाथ और हमारे गाँव में तो वस, खलिहान में वट-पीपल-पाकड की 'हर शंकरी'-तले या आँवला-तले । पर अथर्ववेद वडे चिन्तित से दिखाई दे रहे हैं। वार-वार कह रहे हैं : "गत वर्ष वडी हैरानी हुई थी। रास्ता पूछ कर चलो।" पर पीठ-पीछे नौजवान वालखिल्यगण अपने एक ग्वालपरिया लोकगीत में मग्न है । जगत् वरुआ वेंजो वजा रहा है। वेंजो नये हिन्दुस्तान की वशी है । मतसा गाँव के आवारो से ले कर महानगर के छैलों तक इस का प्रचार है । रास्ता पूछे तो कौन ? जगत वरुआ वेशर्मी से किसी काचन कन्या की रूप-कीर्ति गा रहा है और सव उसी में अपनी टीका-टिप्पणी को चिकोटी-गुदगुदी के साथ मस्त हैं—

काचन कन्या, काचन कन्या रे !
कोन वा देशेर नारी,
तोमार कपाल ते सिन्दूर नाँई, ओ !
कन्या, केमन तूमी नारी ?
ओ हाय मोर, हाय''' काचन कन्या रे !

इधर अथर्ववेद महाशय का खून खौल रहा है । तीर की तरह उन का स्वर सारे वातावरण को वेध देता है, "अरे ! पहले रास्ता पूछ लो—कही गत वर्ष की तरह भटकना न पडे ।"

यो वात सही है। ऐसी अनजान जगहो पर, जहाँ राहगीर भी मुश्किल से मिलते है, रास्ता न जानने पर वड़ी हैरानी होती है। गत वर्ष हम लोग सोनापुर को पहाडियो में पिकनिक के लिए गये थे, जहाँ नारगी के जगल अपनेआप उगे हैं । पर उस मनोरम नारंगी-वन को पाने

के लिए क्या घुमाव-चक्कर, आगे-पीछे, दाये-बायें भटकना पड़ा। गोया वह नारगी-वन न हो कर लोक-कथाओ का कजरीवन हो। श्रीयुत् अथर्ववेद के हुकारमय घनुप से छूटे तीर द्वारा जगत् वरुआ के भारत-वाङ्ला सीमान्त में उपजी वह हृदय-सम्भवा, वह मानसी काचन कन्या विद्ध हो चुकी थी। जगत् वरुआ का गाँव ग्वालपारा अचल में है। वय.सन्धि पर चढी काचनार सी कोमल-कच्ची देह वाली कन्या की रूप-कीर्ति वह वचपन से ही गाता आया है। गीत के मृगशावक को वाण-विद्ध देख कर सभी आहत हो गये।

जगत् वरुआ कहता है, "सर चालक को रास्ता ठीक से मालूम है।" पर जमा हुआ रस तो भग हो गया था और इस छन्द-पतन का यदि किसी को अफसोस नही था, तो वे ये तपोनिधि अथर्ववेद महाशय। वे और अधिक वादशाही गम्भीरता से बैठ गये। सव चुप-से हो गये थे। सव धीरे-धीरे वात कर रहे थे। कुछ खिडकी के वाहर निहारने लगे, वेमतलव का निहारना! मानो इसी वीच में कुछ अप्रत्याशित कुछ वहुत मर्मभेदी घटित हो गया हो। पर गाडी का चक्का अपने निश्चित धर्म-मार्ग पर अविराम, अप्रभावित, अनासक्त रूप से चल रहा था। भीतर के रथी-महारथी सुखी-दुखी-उदासीन होते रहें उस से कोई मतलव नही। गाडी के चक्के और चालक का हाथ, ये ईश्वर की तरह निरपेक्ष हो कर कर्म में लीन थे। अन्त में सडक के किनारे का वह प्रतीक्षित नाम-पट्टिका और निदेश-पट्ट भी मिल गया—'सीता जखला २ मील · ' इत्यादि। तीर के दिशा निर्देश को ध्यान में रख कर सघन कान्तार के मध्य एक चौडे रास्ते पर गाडी मत्तगयन्द-छन्द में चलने लगी।

ऊपर-नीचे, खाई-टीला, ऊवड-खावट, ढाल-सपाट के भीतर 'असमा-विपमा-सुपमा' की उक्ति अर्थवान् हो उठी। अन्त में आ गयी वह खुली हुई जगह जिस के वायीं ओर रगड कर एक पतली चचल धार नदी वहती है और दायी ओर मध्यम कद की तीन-चार ऊँची-ऊँची पहाडियाँ है,

जिन में मध्य पहाडी के आपाद मस्तक एक ढालुआँ, कठोर, सपाट शिला-मार्ग है और इस के शीश तथा दक्षिण वाम स्कन्धो पर जगली फूलो, गाछ-पात, लता-द्रुमो की अपूर्व वनानी का उत्तरीय पडा है। सम्भवत यह सपाट मार्ग 'वर्षाकाल में अविराम गिरती जलधारा के द्वारा बन गया है।

सभी उतरे। पहला काम, नयी जगह पर उतरने पर जो स्वभावतः किया जाता है, हम ने भी किया, आदिगन्त चक्राकार अवलोकन। पर धत्तेरे की! इस से अच्छी जगह तो नारिकेल कुजों से सजी कॉलेज की पुष्करिणी ही थी। होस्टल का लॉन क्या कम था इस से। इस से अच्छा था कि दो मील जा कर 'पगला दिया' नदी की रेती पर पिकनिक कर लौट आते, इसी लिए सौ मील दौडे आये, किस ने चुना है इस ठाँव को, आदि-आदि अनेक कण्ठो से मुखरित होने लगे। हाथ सब के सक्रिय हैं। तिरपाल बिछ रहा है, रेडियो सेट हो रहा है, स्लाइस पर मक्खन लग रहा है, 'रेफ्रेशमेण्ट पैकेट' तैयार है।

'पत्थर के तीन टुकड़े सजा कर बडी आसानी से चूल्हे तैयार हो जाते हैं। बस, अब एक पर चाय की केटली रख दो, दूसरे पर अण्डे उबाल लो।' श्रीयुत् अथर्ववेद ने मेस के चाकर को निर्देश दिया। उधर जगत् बरुआ के शीश पर धिक्कार के मेघ बरस रहे थे। अनवरत थू-थू, छी:-छी: की वर्षा से उस की अपकीर्ति का कम्बल भारी होता जा रहा था। जगह उसी के द्वारा चुनी गयी थी। उत्तर प्रदेश, बिहार के हिसाब से यह जगह कम सुन्दर नहीं थी। पर असम में तो ऐसी जगहें दर-दर हैं। मुझे लगा कि धिक्कार और पश्चात्ताप की नदी बह रही है और अपने प्रति हमारी तिरस्कार-भाषा सुन कर यह धरती भी हमारे चरण-तल के नीचे अति कातर, अति साश्रु हो उठी है।

देखते-देखते, हाथों में प्रातराश और देशीपत्ती की गाढी गरम चाय आ गयी। दस बजे हैं। प्राण विकल है। इन्हें आहुति दो। अन्यथा ये

और विकल हो जायेंगे। घूंट पर घूंट, आह जीवन ! मेरी तो आंखें नयी होने लगी। पहले 'रेटिना' (retina) जागी फिर पुतलियां जवान हुई, फिर दृश्य-स्नायु में प्राण-धारा बहने लगी, फिर मस्तिष्क के पृष्ठभाग और तब समस्त शीश-मण्डल में नये प्राण का सचार हुआ। चेतना घूंट पर घूंट अधिक धारदार और अधिक भास्वर होती गयी। मन साफ़ निरभ्र हो गया और लगा रूप का आतप अभी-अभी छिटका है, अभी-अभी सवेरा हुआ है, गो कि असलियत में दस बज रहे हैं। मैं ने देखा, दस कदम पर ही है नदी की झिरझिम धार, उस पार का खड़ा लम्बवत् कगार। कगार के माथे पर सघन हरी घास, यत्र-तत्र सरकण्डे के झोंपे, तथा हरीतिमा के ऊपर यहाँ से वहाँ तक खिची हुई पीत आभा की वक्ररेखा—पीत रंग नही, पीत आभा जो कगार के उस पार की ढाल पर उगे सरसों के फूलो की अग्रिम पांत की लुपलुपाती अर्धदृश्य पीत फुनगियो के द्वारा निर्मित होती है। जब कि शेष खेत दृष्टि से ओझल पीछे की ढाल भूमि पर स्थित हैं। दूसरी ओर नज़र घूमती है, शिला-सन्तानो की ओर, तो मिलती हैं एकान्त में उनचास मरुतो से परस्पर बाहु-युद्ध करती शिला क्वार्टज की पहाड़ियाँ जो हरीतिमा, फूलों और खगमृगो से भरपूर हैं। दोनो दृश्य, खण्डो के बीच हमारी खेमा-भूमि एक सुन्दर एकान्त की सृष्टि करती है। मैं ने औरों के चेहरे पर नज़र डाली। सब के चेहरे पर से धिक्कार-भाव हट रहा है। शायद भोजन-पान ने सब की दृष्टि का काया-कल्प कर दिया है। शायद, जगह अब सभी की नज़रों में कुछ-कुछ सुन्दर लगने लगी है। तृषित, क्षुधित, श्रमित, वृद्ध और असमर्थ को सृष्टि क्या सुन्दर लगेगी ? सृष्टि तभी तक सुन्दर है, जब तक देह में खून है, प्राण तृप्त हैं और शरीर आस्वादन-समर्थ है।

आस्वादन का अनुभव, चाहे भोजन हो या रतिक्रिया, प्राण स्तर पर ही होता है। क्षुधित और विकल प्राण क्या अस्वादन करेंगे ! मैं ने देखा, सब के चेहरे पर हास्य है और सब की आंखो में चमक आ गयी है। मैं

ने कोट-पैण्ट का वल्कल उतार फेंका। यह सारा पेशवाज-परिधान आत्मा पर भार सा लगता है। हलकी पोशाक से आत्मा भी हलकी मालूम हुई, लधिमा प्राप्त हुई और मैं ने देखा कि धरती जो अभी-अभी लाछित नतशीश थी, अब मुख उठा कर देख रही है, उस की आँखों में प्रोषित-पतिका का सत्र है। मेरे दृष्टिस्नायु अब विद्युत-सचारित हो गये हैं। 'रेटिना' (retina) जाग्रत् हैं, हृदय में कोई प्रतीति का दीपक रख गया है और अब पारस्परिक विश्वास की रोशनी में प्रियतमा का मुख देखना सम्भव है।

श्री अथर्ववेद पुरुष ने ही वार्तालाप प्रारम्भ किया। बातचीत असमिया भाषा में ही हुई।

"आपुनी की भावे ? जायगाय कोन रकम ?"[1]

मैं उत्तर देता हूँ—"खूब भाल, सर। मोर मते तो कीना मुर्गीर ठोट टाओ स्वीट।"[2]

जादू वह जो सिर चढे और बोले। स्वभाव से घोर नीरस श्री अथर्ववेद महाशय ने इस वाक्य पर ही मुझे अपने हृदय के इतना निकट हठात् अनुभव किये कि उम्र का मुखोश उतार कर टूटी-फूटी हिन्दी में अपने हृदय-गर्त से एक 'कप' हृदय मेरे सम्मुख उँडेल ही दिया, "आप ठीक कथा (बात) बोलता है, राय साहेब।" और फिर विशेष इगितमय ध्वनि में आगे बोले, "लोकटा तो 'कोना' (खरीदी) मुरगी का ठोर भी खूब मौज से चबाता है।"

वार्ता अत्यन्त धीमे स्वरों में हो रही थी। मै ने दो-चार इधर-उधर की बाते की, फिर उन के हाईब्लड-प्रेशर आदि की चर्चा करते हुए और पचासोत्तर जीवन में आराम की अनिवार्य जरूरत की बात करते हुए

---

१ आप क्या सोचते हैं ? जगह किस रकम की है।

२ सर, खूब अच्छी है। और मेरे मत से तो खरीदी मुर्गी की चोंच भी मीठी होती है।

एक प्रश्नवाचक प्रस्ताव किया, "सर, पहाड़ पर चलेंगे, या मैं. ."

"नहीं, आप जाइए। 'हाल' तो कई बार देखा है। उधर तो एकदा नागा मन्दिर खोजा आप किए नहीं।"

मैं तो यही चाहता था। मैं अकेले-अकेले अभिसार करने का पक्ष-पाती हूँ।

युद्ध, मारधाड़, खेलकूद और भोजन सामूहिक हो सकता है। पर शृंगार रस और करुण रस में साझा नहीं होता। अभिसार, रति-क्रिया और रुदन में समूह या समाजवाद का दखल नहीं। ऐसा दखल, दखलन्दाजी होगा। प्रेम और रुदन सामूहिक स्तर पर जाने पर दूसरा रूप ले लेते हैं। सामूहिक पुरुष-नारी प्रेम मुक्त व्यभिचार है और सामूहिक रुदन है क्रोध और आक्रोश। व्यक्ति का रुदन करुणा और लाचारी का प्रतीक है, पर समूह का रुदन शक्ति का आवाहन है। हजार-हजार आँखों से जब एक साथ आँसू निकलेंगे तो शक्ति की वन्या उमड़ पड़ेगी। यह रुदन और तरह की चीज हो जायेगा। इसी से मैं मानता हूँ कि शृंगार रस और करुण रस के लेखन में सामूहिक दृष्टिभंगी को या समाजवादी शिक्षा की बात करना निरर्थक है। समाजवाद और समूह-धर्म का क्षेत्र है राजनीति और अर्थ-नीति। जैसे राजनीति-अर्थनीति में धर्म-साधना की प्रवेश-चेष्टा अनर्थ है, वैसे ही साहित्य में, विशेषत शृंगार रस और करुण रस में, प्रेम और मृत्यु के सन्दर्भ में राजनीति की दखलन्दाजी सिर्फ जोर-जबर्दस्ती है।

साहित्यकार सामाजिक प्राणी है अत समाज-कल्याण के विरुद्ध उसे विशेषाधिकार नहीं। पर समाज के मैनेजरों का वह प्रचारयन्त्र भी नहीं। . ..अत. मैं ने निश्चय किया कि आज प्रकृति के साथ अभिसार करने अकेले-अकेले जाऊँगा। पर तुरत कैसे जाऊँ, गोया खूँटा तुड़ा कर भाग रहा होऊँ! दस मिनट और इधर-उधर की हो। तब तक छात्र-छात्राएँ भी अपने-अपने दल के साथ अपनी-अपनी राह, अपना-अपना वंशीवट ढूँढने निकल गये होंगे। निचाट अकेलापन ही अभिसार के लिए सर्वथा उपयुक्त

होता है। तव तक झूठमूठ कुछ बात करूँ।

"सर, यह नदी है, या सोता ?"

"नदी ही है। आजकल धारक्षीण है। पर वरसात में यही आ-दिगन्त वन्या वन जायेगी। नाम है 'किलिड।' 'किलिड' कम्पिली में मिलती है और दोनो की सम्मिलित धार को 'कलड' कहते हैं। ये सब अनार्य भाषाओ के शब्द है। पर असम की मैदानी नदियो के नाम बडे सुन्दर-सुन्दर हैं जैसे, लोहित (ब्रह्मपुत्र), सुवर्णश्री, धान्यश्री आदि। पर पहाडी नदियों के नाम उन की प्रतिवेशी अनार्य जातियो की भाषा में है।"

बाद में उन्होने 'कलड' के वारे में वताया कि "यह एक अद्भुत भौगोलिक घटना है। कलड महावाहु ब्रह्मपुत्र की सन्तान है। उसी से फूट कर नवगाँव जिले को वक्राकार घेरते हुए कम्पिली आदि अनेक नदियों से कर लेता हुआ लायक वेटे की तरह कामरूप में जा कर पुन पितृधारा, महानद ब्रह्मपुत्र से मिल जाता है। ब्रह्मपुत्र इस का पिता है, माता नही।"

"सो तो है ही। ब्रह्मपुत्र पुल्लिड नद है, जैसे विहार का शोणभद्र (सोन) और पजाव-सिन्धु का महानद सिन्धु।" मैं विहार का नाम जरा जोर दे कर कहता हूँ। वे आगे कहते हैं, "अजीब सी वात है न? यह नदी किलिड है। किलिड मिलती है कम्पिली में। इन दोनो की धारा को ग्रहण करता है 'कलड', और 'कलड' सब का पानी ले कर ब्रह्मपुत्र तक पहुँचा देता है।"

तव मैं जोडता हूँ, "सर, यह कथा आगे जाती है। महानद ब्रह्मपुत्र इन सब का जल पहुँचा देता है, वृहद् भारत की प्रतीक-नदी गंगा में, ग्वालन्दो के पास, जो अब वाड्लादेश में है। और वहाँ से पद्मारूपी गंगा सारा जल अनन्त समुद्र में विसर्जित कर देती है।. और समुद्र भी क्या कम दानी है, सर? वह भी इस जल को पुन वाष्पीकृत कर के मन्दाकिनीलोक में, आकाशलोक में मेघ-माला वन कर अवतरित होने के लिए भेज देता है। यह सारी कथा देवलोक तक जा कर पूर्ण होती है सर। कामरूप

से असम, असम से भारत, भारत से महासमुद्र और अन्त में देवलोक—इस कथा की तो अपूर्व शोभायात्रा है।"

अथर्ववेद महाशय भी जिन का हृदय कवियो का श्मशान घाट है, कुछ उत्फुल्ल-से नज़र आये और मेरे काव्य-सोपान की टाँग तोड़ते हुए उन्होंने कह डाला, "और वह मेघमाला फिर ज़मीन पर गिरती है 'भालो-मन्द', मलमूत्र, कीच-गलीच सब पर बरस जाती है। आखिरी आश्रय धरती ही है।"

ऐसे ही इधर-उधर की कुछ बातें हुई। बीस मिनट गुज़र गये। अन्त में मैं ने कहा, "तो सर, आप यही रहें। मैं ऊपर पहाडी पर से होता आऊँ।"

मैं जब पहाडी की ओर जाने लगा तो चलते-चलते मुझे एक आवाज़ सुनाई दी। एक आदेश भरा रोबीला स्वर—"ओ ठाकुर, कलेजी अलग से बनाना और एक गिलास चाय के साथ थोडी सी भेजना।" मैं जानता था कि श्री अथर्ववेद जालुकदार मेरी अनुपस्थिति द्वारा रचित शून्य को कभी तले हुए रोहित के मुण्ड, कभी कलेजी, कभी कुछ और से इसी प्रकार भरते रहेंगे।

अब मेरे पाँव शिलाखण्ड की कठोर भूमि पर थे। नंगे पाँव चलना है। सपाट, विशाल, कही साठ अंश, तो कही पैंतालीस अश का कोण बनाती खुरदुरो शिलाएँ है, उन पर ही अगल-बगल की उगी बनानी या नोकोले पत्थरो के सहारे ऊपर चढना है। रास्ता खुरदुरा है पर सपाट भी है। जूता फिसल जायेगा। अत. एक हाथ में जूता ले कर नगे पाँव ऊपर चढ रहा हूँ। पगथलियाँ अपनी स्थिति को अँगूठे और उँगलियो के सहारे ठीक कर लेती है। थाह, थाह कर चढना है। सचेत मन से चढना है। रास्ता अब भूमि से साठ अश का कोण बना रहा है। अत, सावधान रहो। सँभल-सँभल कर पग-चाप दो। पत्थरो की नोक चुभती है। चुभते ही रामायण याद आ जाती है। 'कठिन भूमि कोमल पद गामी।' वे कितने

कोमल, नवनीत-जैसे स्निग्ध सुकुमार चरण थे ! और वे ही चरण खर आतप-शीत में कठोर एवं कुश-कंटकित मार्ग को चौदह वर्ष तक लगातार पार करते गये । इस के बाद भी पुन वियोग, पुन करुण रस। इस बार रावण से भी प्रचण्ड शक्ति है लोकमत। अत इस बार राम भी नत मस्तक हैं । बेचारे प्रभु, बेचारे रामचन्द्र । राघव करुणो रस । ओह, पुट पाक प्रतीकाश रामस्य करुणोरस ।

उन की याद से मेरा मन भर जाता है । उन चरणो में दुख की बिवाइयाँ फटी होंगी । काटें धँसे होंगे । वे चरण ऐसे ही नोकीले पत्थरों पर लहूलुहान हुए होंगे । तप्त बालू में, और भूँभुर में चलते-चलते उन में झलझल फफोले उठे होंगे । पर शायद इन्ही सब कारणो से उन्हें हम आज सरोरुह जैसे सुन्दर और नवनीत जैसे कोमल मानते है । दुख ही राजमुकुट है । दुख ही वाल्मीकि का प्रायश्चित्त-काष्ठ है, जिस को कन्धे पर ले कर पुरुष व्याकुल-सन्तप्त-तृषित अपने ही आंसू पीता हुआ, अपने ही हृदय का स्वयं भक्षण करता हुआ पन्थ-पन्थ, कोने-कोने, तीनों भुवन घूमता फिरता है कि कभी तो इस मृतदारु से मुक्ति, क्षमा और विश्राम के टूसे फूटेंगे । मनुष्य जन्म धारण करने की सर्वोच्च सिद्धि ही है–कठिन भूमि कोमल पदगामी !

पांवो में पत्थर चुभते थे और मैं यही सब सोचता-सोचता ऊपर चढता जाता था । दुख काटने में साहित्य कितना सहायक होता है ! पीठ पीछे मैदान और आगे है शिलाखण्ड, और मैं उद्ग्रीव हो कर ऊपर चढता जाता हूँ । दो फर्लांग तो ऊँचा चढ गया । पर इसी में अनभ्यास के कारण दम भी बाहर आ गया । चोटी नजदीक है । अत मैं थोडा दम ले लूँ, तो कोई हर्ज नही । यह सोच कर मैं रास्ते से कुछ हट कर किनारे के एक शिलाखण्ड पर एक अनजानी कण्टकित शाखा के नीचे बैठ गया । दो क्षण बाद मैं ने जरा सांस ले कर आश्वस्ति से नदी की ओर नजर डाली, जो मार्गारोहण के समय पीठ-पीछे दृश्यातीत थी। पहली नजर में ही मैं मार खा गया । एकदम अभिभूत और स्तब्ध हो गया । वही मैदान और वही

नदी की धार। पर अब वे विराटता का अपूर्व पट बन चुके हैं। क्या जादू हो गया! मैं सम्मुख देख रहा हूँ अपूर्व दृश्य, अपूर्व क्षण, वधू के चेहरे पर प्रथम शुभ-दृष्टि का क्षण! और, दूसरे ही क्षण प्राण-समुद्र का आपाद मस्तक देह-तट को तोडते बाहर निकल आने का आवेश। मैं स्तब्ध हूँ, मेरी साँस रुक गयी है। मेरी यह छोटी सी श्याम पुतली इस छवि के समुद्र को कैसे समेटे? अपनी 'रेटिना' और दृश्य-स्नायु पर यह अविराम प्राण-विद्युत्-वर्षा मैं कैसे सहन करूँ? मुझे कभी का रटा हुआ भक्तिसूत्र याद आ गया· "स्तब्धो भवति, मत्तो भवति, प्रीतो भवति" और चरम पर पहुँच कर "आत्मारामो भवति!" और मैं चेष्टा करने लगा कि मैं मत्त न होऊँ, स्तब्ध न होऊँ, अचेत न होऊँ, अन्यथा प्रीति का रस तीता है या मीठा, कैसे जान पाऊँगा? अभी तो और बहुत कुछ बाकी है, बहुत कुछ शेष है। इस दृष्टि-अभिसार के बाद भी बहुत कुछ है, छवि का अशेष समुद्र है, अशेष स्वाद है, अशेष रतिक्रिया है। अत- इस स्तब्धता-मत्तता को काटते हुए प्रीति की ओर आगे बढो। अन्यथा आगे के अनुभवों, असमाप्त छवि, असमाप्त स्वाद, असमाप्त रति-क्रिया से वचित रह जाओगे। स्वाद-भोग में मत्तता बाधक है। उस के लिए द्वैत चाहिए, सचेतता चाहिए, प्रीति चाहिए और आंशिक तट-स्थता चाहिए। मेरे मस्तिष्क में विचारों का आर्केस्ट्रा बजने लगा। मैं हाँफ रहा था। मैं प्राणपण से सहज और धीर होने की चेष्टा कर रहा था। मेरी दृष्टि सामने के दृश्य-पारावार से निबद्ध थी—'आँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी।'

मैं ने देखा, नीचे सरसों के पुष्पित पीत खेत हैं, जो अविच्छिन्न आक्षितिज बन्यावत फैले हैं, शान्त, तीव्र और चटक पीत पारावर में सारी धरती डूब गयी है, यत्र-तत्र हरित कुंजों के झोंप-झुरमुट डूबे हुए गाँवों-से ज्ञात होते हैं, नदी की पतली धार हीरक खण्ड सी झलमला रही है, आसमान शुद्ध नीलवर्ण हो गया है और अगल-बगल धूसर-श्यामहरित

वनानी है, जो इन पहाडियों को आपाद-मस्तक ढँके हुए है। पर ये सब तो महाछवि के हाशिये को भरते थे, जिस की रचना फूली सरसों की आदिगन्त पीत वन्या कर रही थी। फूली सरसो का खेत तो गगा के कछार में जनम भर से देख रहा हूँ। पर कहाँ जमीन पर खडा हो कर किसान-खेतिहर की तरह देखना और कहाँ पर्वत-सानु पर खडे हो कर यक्ष-गन्धर्व जैसे छवि के वसन का कर्षण करते हुए रूप-मत्त हो कर देखना! ऐसे में तबीयत होती है कि इस सूर्य-स्नात तेज पीत सुरा को सारा का सारा पी जाऊँ। तब भी शायद ये लम्पट-लोलुप नयन तृप्त न हो। मैं ने देखा सामने उत्तर दिशा में सीमान्त तक फैला हुआ यह पीत-पारावार, यह नदी की चमकती रजत मेखला और अगल-बगल 'पूर्वापरी' सघन, चीड-हरित, शाल-श्यामल कान्तार तथा पीठ-पीछे श्वेत गुलाबी फूलो, आर्किडो, लताओं, रगबिरगे पंख-पखेरुओ और श्वापदो से भरा शैल-वैभव—चारो ओर रूप, चारो ओर प्राण, चारों ओर आवेग और इन तीनों को परस्पर बद्ध करता हुआ चारो ओर प्रशान्त घनीभूत एकान्त और दोपहर की स्तब्ध वेला जब कि शायद जगल के प्रेत भी आराम कर रहे होंगे। इतना अपूर्व-विराट्-गम्भीर दृश्य है, और तब भी हम ने कहा था, 'छि यहाँ क्यो आये,' यह धरती नयी वधू की तरह नत शीश सारा अपमान और तिरस्कार पी गयी थी। और अब?

ठीक इसी समय दौडते पैरो की छाप और अजाना स्वर कानो में पडा, "कादू! ओ कादू! एई दिके आय! एई दिके!"[1]

मेरा ध्यानयोग भग हुआ और मैं ने देखा कि ऊपर से आते रास्ते पर, एक सात-आठ वर्ष का बच्चा है जिस के कन्धे पर आँवले की दो-तीन सफल-सगुच्छ कंछियाँ हैं और उस के साथ एक पन्द्रह वर्ष की साँवली बालिका खडी है शाल-भजिका मुद्रा में। उतरते-उतरते वे दोनो ठमक गये और लडकी, लगा कि कुछ देर से मेरी ओर देख रही है। "आपुनी

---

१. ओ कादू, इसी ओर आ, इसी ओर।

तो मन्दिर जावो" (आप तो मन्दिर जायेंगे !) लडकी ने ऐसा कहा गोया पुराना परिचय हो।

"कौन मन्दिर ?" मैं ने पूछा।

"एई जे ऊपर आसे। सीतार मन्दिर कय। सव मानुसई तो जाय।"[1] और, विना उत्तर की प्रतीक्षा किये, 'चचल ग्रीवा भंगाभिराम.' के साथ "चलून, अलप घूरि आहा जाय।"[2] मैं उस की इस निश्शक आत्मीयता पर चकित था। ऐसा वाक्य, ऐसी-ऐसी आग्रहमय भगी में एक अपरिचिता आघा असमिया, आघा वँगला का मेल वोलने वाली वनकन्या के मुख से सुन कर मुझे सुखद विचित्रता का अनुभव हुआ। मैं ने अव उसे ध्यान से देखा। दुवली-पतली देहयष्टि—श्यामाभवर्ण, जिस पर यौवन ने फूटती कच्ची हरीतिमा जैसी लुनाई की आभा पोत दी थी। ढल-ढल सजल नयन-कोये, वकिम घनुपाकार भौंह और निर्भय, परिचय-स्निग्ध सा पार-दर्शक व्यवहार—यह सव देख कर लगा कि लडकी स्थानीयता की कुलीनता से मुक्त है। अपनी सकूनत, अपनी भूमि हमारे ऊपर एक मर्यादा-वोघ और कुलीनता का वोझ लाद देती है, भाषा और व्यवहार पर एक पिंगल शास्त्र आरोपित हो जाता है और हम निरन्तर चेष्टा में रहते हैं कि कही छन्द-पतन न हो जाये। पर जव हम वाहर चले जाते हैं तो एक खुलापन का अनुभव होता है। इस लडकी की दीन सज्जा के वावजूद मैं ने देखा, इस के केशो में तेल है और मुख में पान की आभा। अत बहुत सम्भव है कि यह लडकी पूरवी वगाल से सम्वन्घित हो, और इस के कानो में चाँदी की वालियाँ हैं, अत वहुत सम्भव है कि यह मुसलमान वालिका है, मैमनसिंह जिले के यायावर मुसलमानो की वंशजा, जो ब्रिटिश जमाने के सर शहीदुल्ला से ले कर अभी हाल तक, प्रति वर्ष असम में आते रहे

---

१ यही जो ऊपर है। सीता का मन्दिर कहते हैं। सभी लोग तो जाते हैं।
२ चलिए न। थोड़ा घूम आया जाए।

हैं और यत्र-तत्र वस्ती वांध कर असमिया वनते रहे है।

"चलो न, आओ।" लडकी की वोली से अधिक आग्रह और आदेश उस की नज़र में था, गोया वह हाथ पकड कर ले जायेगी। मैं और चकित तव हुआ जव छोरी 'आप' सम्वोधन का त्याग कर के समानता का सम्वोवन करने लगी। मैं जवान लडकियों-लडको के मुँह से निरन्तर 'आप' या 'सर' सुनता रहा हूँ। यह व्यवहार मुझे एक झटका तो दे गया पर मुझे एक मौज भी आ रही थी और मैं ने उत्सुकतावश आगे के अको-दृश्यो को देखने के लोभ में हथियार डाल दिया और उस छोरी का अनुसरण करने लगा। चल ले चल, जहाँ तवीयत हो। इस अयाचित आत्मीयता और भयहीन व्यवहार को एक ईश्वरीय दान के ही रूप में स्वीकार कर लेना अच्छा। मन में एक वार भी आगा-पीछा नही हुआ। शंका-सर्प पता नहीं, कहाँ पर सुप्त हो गया। मैं उस के साथ एक जाने पहचाने हमउम्र वन्धु सा चल रहा था। वह विना पूछे ही सव कुछ अपने परिवार, अपने गाँव और इस जंगल के वारे में वक-वक करती जा रही थी। लडकी ऐसी वातूनी निकली कि क्या कहूँ।

मैं ने पूछा : "पहाडी के उस तरफ तुम्हारा गांव है क्या ?"

हाँ, ओई, ओई दिके !" (उँगली निर्देश) "आर एई जे काद्दू, कादिर आसे न। एई आमार दीदीर छेले।"

लडकी ने ग्राम्य वंगला-असमिया की खिचडी भाषा में जो कुछ कहा, उस का अर्थ यही निकला कि मेरी धारणा के ही अनुसार वह मुसलमान कृषक वालिका है, कंजड या यायावर नही। गरीव वंगाली मुसलमान युवतियां भी तेल और पान की शौकीन होती हैं। लडकी का नाम है फ़ातिमा वीवी—यो पूरवी भारत में गाँव-गाँव में कई सकीना, सूफिया और फातिमा मिल जाती हैं। ये नाम इधर वडे ही लोकप्रिय हैं। घर वाले 'माजू' कह कर पुकारते हैं। 'माजू' माने मँझली। लडकी के माँ-वाप नही। वह अपनी दीदी 'शिउली' वेगम के यहाँ निर्वाह कर रही है।

ग़रीबी में भी लडकी का मन कुलीनता-सम्पृक्त जान पडा। वह 'बीबी' और 'बेगम' शब्दों पर बडा जोर दे कर कह रही थी।

मैमनसिंह बाङ्ला देश का एक जिला है। ये मैमनसिंहिया मुसलमान कहीं भी अच्छी मिट्टी वाली जमीन पा कर खेती करने लगते हैं। क़ानूनी या गैर-कानूनी दखल द्वारा लावारिस जमीन पर खरपात की एक बस्ती आनन-फानन में तैयार कर डालते है—फिर तीन-चार साल बाद या तो नदी में उक्त जमीन के कट कर गिर जाने से या सरकारी दफ्तर की नजर पड जाने से इन्हें वहाँ से हटना पडता है। पूरबी बगाल और असम में नदियो का पथ-परिवर्तन अकसर होता है और उस के साथ ही मिट्टी का कटना और साथ ही दूसरी ओर नयी जमीन का पडना। मैमनसिंह के ये मुसलमान ऐसी जमीन के सहारे कमाते-खाते है। शायद अन्य जिलो से भी ऐसे यायावर कृपकगण आते रहते हैं, पर सब के लिए 'मैमन-सिंहिया' शब्द रूढ हो चुका है। तीन वर्ष पूर्व मैं ने स्वय देखा था, तेजपुर नगर के उप अचल में ब्रह्मपुत्र-द्वारा डाली गयी नयी मिट्टी की जमीन इन्ही मुसलमानो के हाथ में थी। उन्होंने दो या तीन वर्ष के लिए इस का अस्थायी बन्दोबस्त करा लिया था। पर अगले साल यह जमीन रहेगी या नदी के पेट में चली जायेगी और इन का कोई ठीक नही। इसी से बन्दोबस्त सालाना या दो-साला या तीन-साला ही होता है।

असम में जो कई लाख अनुप्रवेशकारी आ गये है, उन में ज्यादा तादाद इन्हीं यायावर मुसलमान कृपको की ही है। ये फर्ज़ी नाम से या किसी स्थानीय मुसलमान के नाम से जमीन का बन्दोबस्त सरकारी दफ्तर से करा लेते हैं और कभी-कभी यों ही दखल कर के पाट, सनई, धान, कलाई, आलू और सरसो की फसल उगा लेते हैं। नयी मिट्टी के कारण फ़सल भी बडी जानदार होती है। इधर असम मन्त्रिमण्डल और सुरक्षा विभाग कुछ कडा पडा है तो ये धीरे-धीरे यही के बाशिन्दे हो रहे हैं और कभी इस राजनीतिक दल की मदद से तो कभी उस दल की मदद से

मतदातासूची में ला रहे हैं। भारतीय कम्युनिस्टो की भावना है कि कम्युनिज्म का प्रधान शत्रु है हिन्दूवाद, अतएव भावी लडाई में मुसलमान बडे काम की चीज साबित होगा। उधर काग्रेस के केन्द्रीय कर्णधारो की धारणा है कि कम्युनिज्म के खिलाफ मोरचा तभी जीता जा सकता है जब मुसलमान हाथ में रहें—हिन्दू तो वामपन्थी होता जा रहा है। पर साधारण मुसलमान किसी प्रतिबद्धता का कायल नही। वह अपनी लाभ-हानि ही देखता है और सम्प्रदाय की लाभ-हानि भी कुछ देखता है—इस के आगे और कुछ नही। चाहे जो हो, ये यायावर मुसलमान बडे ही परिश्रमी होते हैं। विशेषत. इन की औरते बहुत खटती हैं। एक-एक मुसलमान तीन-चार बीवियाँ रखता है, मौज से तम्बाकू पीता है, पान खाता है, केश सजाता और उन में जो नयी रहती है, उस के साथ सोता है—शेष को प्राचीनकाल के गुलामो की तरह खटना और खाना है। बिना दांत का अत्यन्त तेज धारदार हँसिया बाँस की नुकीली लाठी, चारखाने की लुंगी, लम्बे-लम्बे केश, हँसती दाढ़ी—यही इन का वेश है। ये निरन्तर चौकन्ने और निरन्तर प्रसन्न रहते हैं। फातिमा की दीदी का पति भी ऐसे ही यायावर परिवार से आता है जो अब इस नदी के किनारे दस-बारह साल से बस गये हैं। घर-द्वार बना कर स्थायी बाशिन्दे हो गये हैं। पुरानी जीवन-पद्धति को इन्होने छोड दिया है। 'किलिड' के आर-पार लगी सरसो की खेती इन्ही कृषक परिवारो की है। इस जमीन के ये ही खोरदार हैं।

मैं पूछता हूँ, "माजू, तोमार गाँथ तो अनेक बेशी बड।" (माजू, तुम्हारा गाँव तो बहुत ज्यादा बडा होगा।)

"हाँ, हाँ खूब बडो—अनेक बडो। बीशटा घर आसे।" (हाँ, हाँ, खूब बडा—बहुत बडा। बीस घर है।) वह बडे ही गर्व से कहती है। उस की दृष्टि में बीस घरो का गाँव बहुत बडा गाँव है। मैं पूछता हूँ, "माजू, एकटी कथा आसे। 'शिउली' तो एकटा हिन्दू नाम। तोमार बोनर नाम 'शिउली' केनो—गुलनाँई वा 'नरगिस' बेशी भालो होवो।"

(माजू, एक बात बता। 'शिउली' तो एक हिन्दू नाम है। तुम्हारी बहन का नाम 'शिउली' क्यों ?—गुल या नरगिस ज्यादा अच्छा होता।) यों मैं जानता था कि पूरबी बंगाल में सांस्कृतिक स्तर साम्प्रदायिकता उतनी उग्र नहीं है, जितनी उत्तर भारत में उर्दू की बदौलत हो गयी। उर्दू के लेखकों ने यदाकदा समन्वय की बात की तो या तो चालबाजी के रूप में की, या कम्युनिज्म के नाम पर। 'हिन्दुस्तान' उन की दृष्टि में कभी भी लक्ष्य के रूप में नहीं रहा। भारत के इतिहास में उर्दू का, एक अवदान भी है। वह है सांस्कृतिक विघटनवाद। पूरबी भारत में, विशेषतः बाङ्लादेश में शिउली अर्थात् शेफाली, झरना, चम्पा आदि नाम मुसलमान घरों में पहले से ही थे। पर मैं सुनना चाहता था कि यह अपढ़-गँवार बालिका क्या कहती है। और तभी फातिमा ने प्रति प्रश्न की शैली में अपना उत्तर प्रस्तुत किया।

"शिउली तो एकटी फूल। एई हिन्दू नाम केनो ?" (शिउली या शेफालिका तो एक फूल है। यह हिन्दूनाम क्यों ?)।

अब मैं कैसे बताऊँ क्यों ? बहुत पुराना मसला है। इस का जवाब सर सैयद अहमद खां, मौलाना आजाद और जाकिरहुसैन के भी पास नहीं। इस दशानन प्रश्न से आँख मिलाने की ताब महात्मा गान्धी में भी नहीं थी और महात्मा गान्धी तो जन्मत बनिया थे। 'जाति स्वभाव न छूटे' सही है। उन्होंने आजीवन ऐसे धारदार बर्छीनुमा प्रश्नों से पीठ दिखाई और वे सत्य के साथ सौदेबाजी करते रहे। सत्य भी क्या मोल-तोल और सौदेबाजी की चीज है ?

मैं चुप रहा। माजू अपनेआप बक रही थी, "दीदीर 'मनीस' दीदी के खूब मारे। दीदीर नूतन सतीन आसे तो। दीदी कांदे आर खाली कांदे।" (दीदी का आदमी दीदी को खूब मारता है। दीदी की नयी सौत आयी है तो। दीदी रोती है।) शेष वह जो न कह सकी, उस की उदास आकृति, उस के फटे मलिन वस्त्र, कादिर का कच्चे आमलक चबाना

आदि बिम्बों ने पूरा किया। मैं ने माजू के प्रति एक माया का अनुभव किया। फटे हाल दारिद्र्य के मध्य नीलोत्पल नयनों वाली इस विधर्मी कन्या के प्रति मेरे अन्दर एक ममता, एक माया जगी। मेरे मन में वह निकट से निकटतर आती गयी। तब तक हम लोग मन्दिर के भग्न द्वार पर पहुँच भी गये। मन्दिर क्या था, पुराने गढ़े पत्थरों के दो-चार टुकड़े थे, जिन पर कल्पवल्ली तथा श्रीकमल की आकृतियाँ गढ़ी गयी थीं। तीन टूटी हुई प्रतिमाएँ थीं। दो पुरुषाकृतियाँ तथा मध्य में नारी मूर्ति। दो के शीश ही ग़ायब थे। आजकल इन्हें राम-लक्ष्मण-सीता कहते हैं पर उन की मुद्रा और भंगिमा बोधिसत्त्वों की थी। रामत्व का कहीं भी लेश नहीं था—यहाँ तक कि प्रभु का सर्वदा सहचर रामायुध अर्थात् धनुषबाण का भी पता नहीं था। राममन्दिरों में किरीट और धनुष—ये ही दो मुख्य प्रतीक माने जाते हैं। मन्दिर नाम की कोई चीज़ नहीं थी। प्रवेशद्वार पर स्तम्भ तोरण का अवशेष अवश्य था। सफ़ेद फूलों वाले वृक्षों से घिरी एक चौड़ी खुली जगह थी। उसी में इस त्रिमूर्ति की स्थापना किसी ने कर दी थी। चारों ओर आँवले के पेड़ स्वाभाविक रूप में उगे थे। तथा तरह-तरह के गुल्मों-आर्किडों तथा फूलों-पत्तियों से घिरी जगह देखने में बड़ी मनोरम लगती थी। अन्यथा मन्दिर कहाँ था? और भारत में कौन ऐसी जगह है, जहाँ दो-चार टूटे पत्थर न हों। समूचे भारत में बाहर से टूटी समाज-व्यवस्था और टूटे पत्थर, यही तो नज़र आते हैं। भीतर भले ही ताल-पखावज पर बाल्मीकि के श्लोक बोल रहे हों।

चतुर्दिक् शान्ति, निझूम निचाट दुपहरिया और चारों ओर कुश-कण्टकित लता-गुल्म तथा छोटे-छोटे आँवलों का स्वाभाविक उगा हुआ आमलकी वन। छोटे होने की ही वजह से इन्हें आमलकी कहते हैं। मैं थक गया था। बैठने पर बड़ा आराम मिला। माजू बिना किसी बाधा के मेरे पास बैठ गयी और जंगल, नदी, तथा खगमृगों के बारे में मेरा ज्ञान विस्तृत करने लगी। यह बातूनी लड़की अब काफ़ी दिलचस्प लग रही थी। बड़ी-

वडी पानीदार आंखो से ताकती हुई कह रही थी कि वह निडर है, वह थकती नही, भय नही खाती, वडी ही वीर है, "एई जे आमार कादू, कादिर आसे न[1] एई जंगल के खूव भय करे। आमि तो गोट्टेई भय करी ना।"

मैं ने देखा, तव तक कादू कही चला गया है, वह शायद आमलक कुजो में आंवले वीन रहा है। लडकी ने प्रस्ताव किया कि मैं यदि चाहूँ तो वह आमलकी के पेडो पर चढ कर मेरे लिए फल तोड सकती है, मैं उन्हें घर ले जाऊँ। नमक, हल्दी, तेल, सरसो, मिर्च दे कर अचार डाल दूँ क्योकि आमलकी का अचार खाने में वडा स्वादिष्ट होता है, इत्यादि-इत्यादि। उस ने मुझे अनेक पेडो-लताओ के नाम वता दिये, जिन्हें मैं तत्काल भूलता गया, सिर्फ कपोत-फूल को छोड कर—कपोतफूल या 'कपोउ फूल' का उद्धरण अकसर असमिया गीतो में आता है। दरअसल यह एक पुष्प है, दूर से वैठे श्वेत कपोत जैसा लगता है। इस से असमिया कन्याएँ और युवतियाँ अपने जूडे का शृंगार करती हैं। मेरे लिए इस का ज्ञान एक उपलब्धि हुई। वह वकती जा रही है, "ओई कपोउ फूल! लागे ना कि आपना के? वउ के दी दीवो, खोपाते शुवावो।"[1]

उस समय मैं ने देखा कि छोरी की आँखें भी खेल रही हैं। इस जन-शून्य स्थान में वह मेरी गार्जियन और वान्धवी वन गयी है और जोर-जवरदस्ती मेरे व्यक्तिगत जीवन के वारे में सलाह दे रही है। इस घन-घोर एकान्त में, वय सन्धि की देहरी पर चढी किशोरी कन्या के मुख से आधे घण्टे से जो अकेले में आत्मीयता-सम्पृक्त वार्ता चल रही है, वह अव वतरस का रूप ले चुकी है। माया के चरण अव मेरे शीश पर हैं। मैं मोहमूढ होता जा रहा हूँ। वतरस मन के भीतर सुप्त भट्टी पर चढ कर नशीला उन्मादक वार्ता-मधु वनता जा रहा है और यह मदिरा भीतर-

---

1. यह है कपोत फूल! चाहिए क्या आप को? बहू को ला कर दे दीजिएगा, जूड़े में लगा लेगी।

भीतर अत्यन्त अजाने रूप में मेरे मस्तिष्क पर छाती जा रही है। अकेला-पन और एकान्त अत्यन्त भयावह और नशीले होते ही हैं। इस में अपनेआप से ही क्षण-प्रति-क्षण ताल ठोंक कर कुश्ती लडना पडता है। सिंह, सन्यासी, कवि, कामी और भुजंग इन पाँच को छोड कर, इस में छठे किसी का वास एक अनधिकार चेष्टा है। एकान्त में वास करने के लिए इन पाँच में से एक बनना ही पडेगा, उपाय नही। कोई अदृश्य सूत्राधार इस स्तब्ध-सुन्दर महामंच पर उतरते ही हम पर पाँचों में से एक की भूमिका जोर-जबरदस्ती आरोपित कर देता है। क्षण-प्रति-क्षण कौन सावधान रह सकता है? कही से न कहीं से एक बाण आता है और बीध जाता है। दर्द नही होता—पर खून टपकता है तो ज्ञात होता है, ओह, हम तो शरविद्ध हो गये!

मुझे क्या पता था कि इस एकान्त में कोई नि शब्द चुपचाप मेरे अन्दर-अन्दर एक मृगजल के स्वयंतृषित सरोवर की रचना कर रहा है। हमारे अन्दर चैतन्य के साथ-साथ एक 'मग्न चैतन्य'[1] है, जो अदृश्य डूबा हुआ, पर चैतन्य के नित्य सहचर के रूप में सदैव अस्तित्ववान् है। मेरी थकी देह अब धीरे-धीरे आराम में आ रही है और प्रति क्षण आराम के अनुभव के साथ-साथ मग्नचैतन्य भी अवचेतन के समुद्र से ऊपर उठता आ रहा है। अद्भुत है यह मग्नचैतन्य, मेरा प्रतिद्वन्द्वी, मेरा प्रतिरूप, मेरा द्वितीय स्वय, जिसे मैं सचेत नीति-बद्ध स्तर पर खड़ा-खडा आजीवन इनकार करता रहा हूँ और करता रहूँगा—चल हट, तू मेरा भाई नहीं। पर है वह मेरा जन्मजात सहोदर और कभी-कभी आ कर मुझे जता जाता है कि वह साथ-साथ है, कही गया नही है। आध घण्टे पूर्व, पहले जब

१. मेरी समझ से 'अचेतन' नाम की तो कोई चीज ही नहीं, यह तो अँगरेजी शब्द 'अनकाशस' का एक गुलाम अनुवाद है। इसी से इस का स्वतन्त्र अनुवाद मैं ने किया है 'मग्न चैतन्य'—वह चेतना, जो सचेतनता के सावधान स्तर के नीचे अतल में डूबी है।

इस छोरी के साथ चला था तो कौतुक ले कर चला था। फिर वह कौतुक एक आत्मीयता में बदल गया, तत्पश्चात् आत्मीयता एक सहानुभूति में, सहानुभूति एक माया में, एक मोह में। परन्तु अब यह कोमल मोह ऊपर ऊर्ध्व मनस की ओर न जा कर नीचे डूबे हुए 'मग्न चैतन्य' के भीतर प्रवेश कर रहा है। इस बात का अनुभव मुझे तब हुआ, जब मग्न चैतन्य के मध्य यह कोमल मोह रतनार जवाकुसुम सा चटक रग लेने लगा; मेरा भाई, मेरा द्वितीय मैं, मेरे भीतर का दशानन, मेरा अपना ही प्रतिरूप मेरे मोह के इन फूलो को अपने श्वापद-हाथों से सहलाने लगा।

यह निचाट एकान्त। यह झन्न-झन्न करती श्रान्त थकी हुई दोपहर। यह चारो ओर वनानी से घिरी हुई भूमि। इस में केवल हम दो। मैं और श्यामली छोरी, (पता नही, यह कादू कहाँ गया? लडकी रह-रह कर चिन्ता भी करती है, पर जैसे आश्वस्त है कि आसपास ही होगा।) यह सब कुछ हमें बदलते जा रहे हैं, उसे और मुझे अन्य 'कोई' बनाते जा रहे हैं। उस के बडे-बडे श्याम नयन अब मुझे असाधारण लग रहे हैं। उस की एक-एक अंग-रेखा, एक-एक देह-कोण को मैं किताब की तरह पढने की चेष्टा करता हूँ। अब यह छोरी मुझे चौदह-पन्द्रह की नही, सत्तरह-अठारह की लगने लगती है। उस की प्रत्येक अगरेखा मेरे लिए अर्थवान् हो उठती है। एक सहजिया वैष्णव का लिखा स्मरण हो आता है कि नारी की चौरासी अगुल की देह ही चौरासी क्रोश का व्रजमण्डल है और पाँच अगुल का 'अग विशेष' ही पाँच क्रोश के वृन्दावन का प्रतीक है। तान्त्रिको ने भी कहा है कि अघोर सिद्धि के लिए एक श्यामागी चाहिए और उस का अग विशेष 'अश्वत्थपत्रोपम' होना चाहिए। एकान्त में इस लडकी के अंग-विन्यास मेरी दृष्टि के बाणों से निरन्तर विद्ध हो रहे हैं। ओह, एकान्त कितनी नशीली शराब है। मैं अत्यन्त विकल हो उठता हूँ। क्षण-प्रति-क्षण विकल होता जा रहा हूँ। प्रकृति-पुरुष के महान् आकर्षण में मन्त्रबद्ध सा खिंचता जा

रहा हूँ, नीचे-अतिनीचे, गहरे-अतिगहरे। मेरे अंग-अग में श्वापद घूम रहे हैं। मेरी उँगलियों में वाघ-चीता के लक्षण प्रकट होने को है। मेरा दशानन अब किसी भी क्षण लक्ष्मण-रेखा पार कर जाने को उद्यत है। मैं विकल, अतिविकल हो उठता हूँ।

इसी समय मेरे किसी पूर्वार्जित पुण्य की तरह एक पंक्ति मेरे मन में उदित हुई, बिना बुलाये उदित हुई—"सोइ दशशीश श्वान की नाईं।" तीन बार अपनेआप पक्ति उदित हुई, फिर अस्त होती गयी।....श्वान की नाँई! धत्तेरे की! लगा कि 'मग्न चैतन्य' के भीतर कई स्तरो पर सम्वाद जैसा चल रहा हो, कोई यही उक्ति लगातार दोहरा रहा हो, (श्वान की नाँई!), धत्तेरे की! मैं कितना हीन और कितना छोटा होता जा रहा हूँ! (श्वान की नाँई!) मग्न चैतन्य के एक स्तर पर मारकन्या तृषा के वाम चरण पडे है। रति की बडी बहन तृषा है। मार की तीन कन्याएँ है—तृषा, रति और आर्ति। तृषा रति से भी सुन्दर है। (छि छि. श्वान की नाँई!) मग्न चैतन्य के अन्य स्तर पर एक और सम्वाद उठता है, सावधान, सावधान! फिसल मत जाना, साधो, फिसल मत जाना (.. श्वान की नाँई!)।

एक साथ ही विविध स्तरो पर चलने वाले ये सम्वाद मुझे रव-विद्ध पुरुरवा बना रहे है। मैं इस आगा-पीछा से और विकल हो उठता हूँ। तभी मुझे लगा कि मेरे भीतर अभ्यास द्वारा अर्जित वेदान्त जाग उठा और उस के सामने पढते ही वासना का दशानन वही ढह कर ढेर हो गया। सोई दसशीश श्वान की नाँई! चेतना के एक स्तर पर यह पंक्ति लगातार पृष्ठभूमि के संगीत सी अब वजती जा रही थी। मैं धक्का सँभाल गया था। साहित्य मुझे अभय दे गया। (सोई दशशीश श्वान की नाँई?) हाँ भाई, साहित्य सचमुच ही बहुत बड़ी सुरक्षा है। मैं धीरे-धीरे विकलता से मुक्त होने लगा। आत्मधिक्कार के इन कुछ क्षणों के बाद लगा कि सारी सृष्टि अपने स्वस्थ विन्दु पर लौट आयी है।

आकाश से पाप कट गया है, हवा का विष कोई खींच लिया है, एकान्त पुन विरज-पवित्र हो गया है, और चरम क्षण टल गया है। अब कोई बात नही। गन्दे मेघ छँट गये हैं। उस समय मुझे याद आ गया बचपन में देखा एक मटमैला मेघ-दिवस। बाबा के लगाये बाग को घनी तरुपांत के भीतर बहता, गन्दा, सडी पत्तियों से विकृत नाला। नाले में तिरता हुआ एक मटमैला गन्दा मेघ-दिवस, बादलो के मैले पैबन्द से छन कर आता हुआ हलकी-हलकी रोशनी वाला दुर्गन्धमय मेघ-दिवस, गन्दी रजाई ओटे मटमैला मेघ-दिवस, बाबा की लगाई सघन अमराई के चारो ओर बांस वन, बांस-वन से सटा हुआ नाला, नाले में प्रतिबिम्बित गन्दा मेघ-दिवस, ऊपर की धूसर शाखाओ की काली छाया और उन के मध्य बदरंग सफेद मेघ-दिवस। खाई के ऊपर भटबांस के जगल और उन के मध्य घूमता हुआ बारह-चौदह वर्ष का एक किशोर। पर डर से वह बांस वनो की ओर पांव नही बढाता है। उस में एक से एक विकराल सर्प होंगे। पचपच, कीच-गलीज, केंचुए और जोंक से भरे, गन्दी रजाई ओढे मेघ-दिवस की ओर देख-देख कर उस बालक का मन उदास हो जाता है। एक कुश्री मेघ-दिवस। पावस कितनी गन्दी ऋतु है। वह मन ही मन कहता है—क्या ही अच्छा होता कि कभी वर्षा नहीं होती, गन्दे मेघ नहीं घेरते और पैरों में कीचड नही लगती। पर उसी किशोर ने तीस वर्ष की अवस्था में पढा, वह भी एक आयुर्वेद ग्रन्थ में, कि पावस में जब-जब मेघ गर्जन करें तब-तब, रात हो या दिन, सम्भोग-काल है। वह किशोर खाई पर बडी सावधानी से घूम रहा है। बाबा ने कहा था, "तू बडा ही चुल-चुल है, उन भटबांस के जगलो की ओर कभी मत जाना। उस में सांप-बिच्छू का डर है।" किशोर गन्दे नाले की ओर देखता है और निरुद्देश्य उस से सटी हुई खाई के कगार पर टहल रहा है।.. इतने में, ओह, इतने में एक अद्भुत घटना घटती है। अचानक सूर्य का मेघ-आवरण हटता है। अचानक अवरुद्ध भास्कर की ज्योति चारों ओर छिटक पडती है। अचानक

उस गन्दे नाले के हृदय में महातेजा सूर्य का बिम्ब उदित होता है। हाथ, दो हाथ क्या, अगल-बगल का सारा जल श्वेत दगदग, तेजस्वी जाज्व-ल्यमान लरछो से, प्रकाश-सूत्रो से शोभित हो उठता है। पंकिलता का कही नाम ही नही मटमैलापन धुल कर धक-धक श्वेत चाँदी हो गया। उस दिन किशोर चकित हो कर देखता रहा। उसे बडा भला लगा था। पर बाद में कुछ वर्ष बाद वह इस घटना को भूल गया। भूला रहा। भूला रहा। भूला रहा, बीस वर्ष तक। आज न जाने किस प्रतीत्य समुत्पाद के द्वारा, किस कार्य-कारण-परम्परा के माध्यम से इतनी लम्बी अवधि के बाद घटना का स्मरण हो आया। उस समय जब कि कुछ क्षणों पूर्व ही मेरे भीतर के प्रचण्ड वेदान्ती ने मेरे वासना-रतनार नेत्रो में गरजते भैंसों की सीग अचानक पकड ली और उन की गरदन उमेठ कर काबू में कर लिया, और मेरे मन के बहते गन्दे नालों पर आज अचानक रोशनी की तीव्र वर्षा हुई तो पता नही क्यो उस घटना की स्मृति कौंध गयी। कुछ क्षण पहले जगली फूलो के ये झाड, ये सघन आमल-की के कुंज, चारों ओर से घिरी जगह और प्रगाढ एकान्त—ये किसी राजा के प्रमद वन से भी अधिक नशीले हो उठे थे। हवा ही कामनामयी हो उठी थी। मैं ने अब मन की सजग अवस्था में माजू की ओर देखा। छि, कभी-कभी मन को क्या हो जाता है। यह कितनी तुच्छ-दीन-दयनीय स्थिति है।

छि, कभी-कभी क्या हो जाता है कि सारी विद्या, सारे महावाक्य, सारे औचित्य-अनौचित्य, सुन्दर-असुन्दर सुरुचि की धुरियाँ टूट जाती हैं और रथ रास्ते की पटरी पर से भ्रष्ट हो कर उलट जाता है। वह तो आज भीतर पद्मासन पर बैठा सारथी सावधान था, नही तो मैं कितना दीन, तुच्छ, सस्ता और बाज़ारू व्यवहार कर बैठता और शेष सारा दिवस और सारा सप्ताह अपने को धिक्कारने में जाता, कितने बडे आत्म-क्षय से अभी-अभी उबर गया हूँ। भीतर के पद्मासन स्थित सारथी

ने कितनी बड़ी विगर्हणा, कितने को आत्म-धिक्कार में दबा लिया है।
वासना, रति-क्रिया और आस्वादन का मैं विरोधी नहीं, काम और मोक्ष, रति क्रिया और निर्विकल्प समाधि—दोनों को मैं समान पुरुषार्थ मानता हूँ, यह मेरी निर्लज्ज स्वीकारोक्ति है। परन्तु "कांकर आया ना तजै मोती मिलै तो जाय।" जो रतिक्रिया, जो धन-सम्पत्ति, जो गति मुक्ति आत्मा की रिक्तता को नहीं भरती, जो आत्मा के पूर्ण कुम्भ होने का अपने अस्तित्व के लबालब भरित-अरिक्त होने का अनुभव नहीं करा पाती, वह आत्मक्षय है, वह अस्तित्व के पूर्णकुम्भ को खाली करती है, उस में अनेक छिद्र कर डालती है, वह व्यर्थ परिश्रम तो मर्मान्तक होती है। ऐसा अनुभव या बोध मोती नहीं, कांकर है। जो मुक्ताभक्षी है, ताराभक्षी है, जो स्वभावत हंस है या सुपर्ण है, वह कांकर की ओर चोंच झुकाये तो इस से बढ कर आत्म-पराजय और क्या होगी ! अत. सर्वसाधारण-व्यवहार की लीक से हट कर मैं कांकर को अस्वीकृत कर रहा हूँ।

सर्वसाधारण-व्यवहार या नार्मल व्यवहार तो यही था कि मैं युवा, वह किशोरी, घनघोर नशीला एकान्त और मैं क्षुधित, अत. मेरे देह के भीतर का दशानन इस मृग-कन्या को व्याघ्र की तरह दबोच ले। यही जीव-धर्म, प्राण-धर्म, असुर-धर्म, स्वभाव-धर्म के नितान्त अनुकूल होता। साधारण नार्मल सहज व्यवहार तो यही होता। सौ में निन्यानवे तो यही करते। पर सर्वसाधारणता आत्मा की अत्यन्त दयनीय स्थिति है। यह अत्यन्त हीन अवस्था है। इस में न तो गौरव बोध है और न ग्लानि की ट्रेजडी। मैं इस 'सर्वसाधारणता, सभी जैसा' के घेरे को धक्का मार कर तोड देता हूँ—सर्वसाधारणता की लीक पर मुझे नही चलना है।

'माजू, बेशी देर होलो। अब जावा लागे" मैं कहता हूँ। माजू बात करते थक गयी थी, क्योंकि श्रोता बड़ा ही चुप्पा निकला। मैं ने पूछा—"माजू, तुम यहाँ अकसर आती हो क्या ?" उस ने बाद में बताया कि इस जंगल में वह या उस की ही तरह अन्य लड़के लडकियाँ इस जगल

से लकड़ी, कन्द, फल, मूल, आमलकी, तेजपात आदि तोड कर या उखाड कर ले जाते हैं। कुछ बाजारों में बिकती हैं, कुछ ये खाते हैं। साथ ही छोटे बच्चे किसी यात्री या पिकनिक पार्टी को यह मन्दिर भी दिखाते हैं, उन को तरह-तरह की वनलताएँ (जिन्हें हम लोग आर्किड कहते हैं) तोड कर देते हैं। 'कपोफूल' कपोत-फूल तोड कर देते हैं जिन्हें यात्री महिलाएँ पसन्द करती हैं, बदले में दो-चार आने इनाम पा जाते हैं। यदि मैं चाहूँ तो माजू ने कहा कुछ अद्भुत भूमिजा या वृक्षजा लताएँ ले जा सकता हूँ और माजू के गाँव के जमशेद महाजन की तरह अपने फाटक पर बाँस या लकड़ी के सहारे उन्हें आरोपित कर दूँ बड़ा ही उत्तम कार्य होगा। पर मैं बड़ा ही उत्साहहीन बुझा हुआ निकला और मैं कहता हूँ, "रहने दो, माजू! कभी और आयेंगे तो ले जायेंगे।" पर लगा कि माजू जैसे पछता रही है। मैं ने आमलकी नही लिया, भूमिजा-वृक्षजा लताएँ भी मुझे पसन्द नही और तो और, वहू के जूडे में खोसने के लिए दो-चार 'कपोत पुष्प' भी नही ले रहा हूँ, अत उस का सारा परिश्रम,आध घण्टे की सारी चापलूसी व्यर्थ जायेगी और उसे एक पैसे की भी प्राप्ति नही होगी। पर उसे ज्यादा देर तक शंका में न रख कर मैं ने बिना गिने ही एक मुट्ठी रेजगारी, दो तीन रुपये के करीब, उसे थमा दिया। उस का उल्लसित मुख-मण्डल इस बात का द्योतक था कि यह प्राप्ति आशा से कही अधिक थी। मैं ने कहा, "अच्छा माजू तू अब जा। मैं अकेले-अकेले ही उतर जाऊँगा।" जाते-जाते यह दीन-अनाथ बालिका बड़ी ही अनुपम और बडी ही पवित्र लगी। मैं अपनेआप को खूब भार-मुक्त, हलका और निर्मल अनुभव कर रहा था। मुझे बडा अच्छा लग रहा था। मैं बडा प्रसन्न था।

धीरे-धीरे नीचे उतरा। उतरते देर नही लगी पर मैं मेघो, खुले आसमान और सरसो के पीत पारावार को घमण्डपूर्वक देखता, धीरे-धीरे उतर रहा था। एक विराट् अनुभव के बाद, एक द्वन्द्व युद्ध के बाद मैं

मन-अश्व की लगाम पकड़ कर, उसे धीरे-धीरे टहलाते हुए उतर रहा था। मुझे अनुभव हुआ, मैं भी कुछ हूँ—औरों से भिन्न, अनुपम, अद्वितीय नहीं तो अनोखा अवश्य ही हूँ। ऐसा अनुभव तभी होता है जब हम लोक से, सर्वसाधारणता के मार्ग से हट कर अस्वीकृति का वरण करते हैं। बुद्ध ने पुत्र राहुल, यशोधरा को, अष्टम् एडवर्ड ने राज्य सिंहासन को और सार्त्र ने नोबुल पुरस्कार को अस्वीकार किया और अस्वीकृति के मध्य अपने अस्तित्व की सार्थक अनुभूति स्वयं को और गैरों को उपलब्ध करायी।

लोक से हट कर लीक को अस्वीकार कर देना विद्रोह है। तब लीक साँप की तरह, प्रश्न-चिह्न की तरह फण काढ़ कर फुफकारती खड़ी हो जाती है और अद्भुत दृश्य उपस्थित हो जाता है। एक ओर मैं अस्वीकृति का कर्त्ता, विद्रोही और दूसरी ओर धरती से आकाश तक फण काढ़े खड़ी है लीक या सर्व-साधारण की परिपाटी, जो कुछ पहले निर्जीव पड़ी पथ-रेखा मात्र थी। असाधारण युद्ध ठन जाता है। और इस प्रक्रिया में जो तुच्छ था, जो एक मामूली व्यक्ति था, महज एक इकाई था वही एक से दो, दो से चार, चार से आठ, आठ से सोलह, इस भाँति शतयोजन तक तन-विस्तार करता चला जाता है। अस्वीकृति एक महान् महिमामयी सिद्धि है। मैं पहाड़ी से उतर रहा था, शिलाखण्डों पर सँभल-सँभल कर चल रहा था, तो भी लगता था कि मैं महिमा-सम्पन्न हो कर उतर रहा हूँ। इस छोटी सी अस्वीकृति ने मुझे अतुलनीय महिमा से सम्पन्न बना दिया है, मुझे भीतर-भीतर अति समृद्ध, अति पूर्ण बना दिया है। यदि मैं पराजित हो जाता, यदि मेरे नेत्रों में झाँकते वासना के महिप तृप्त हो जाते तो सारा मद उतर जाने पर मैं अपनेआप को इतना दीन, नीच और तुच्छ अनुभव करता, गोया मैं एक चूहा या घृण्य लिजलिजा सरीसृप होऊँ।

सवाल अनैतिकता और पाप का नहीं। ये सब तो निरर्थक शब्द हैं। सवाल है अपनी आत्म हीनता, आत्म-पराजय और आत्म-क्षय का। क्या

हुआ है, यह तो कोई भी जान नही पाता। तो भी भीतर-भीतर इतनी आत्महीनता का अनुभव होता कि छात्र-छात्राओं के चेहरे की ओर ठीक से देख नही पाता। आँखों में एक अदृश्य चोर आ बैठता और सारी सृष्टि के सम्मुख खड़ा होने में एक झेंप आती। मैं उस समय भीतर ही भीतर अपनेआप को कितना रिक्त, कितना दीन और घृण्य मानता! 'कुमारसम्भव' में शिव ने काम-दहन किया है, पर काम को मनोविकार या पाप मान कर नहीं, एक प्रतिद्वन्द्वी मान कर। जिस ने क्षण मात्र के लिए ही सही, उस विराट् सत्ता को पराजित, दीन, कामार्त्त अत सर्व-साधारण और मामूली की स्थिति में ला पटका था। शिव-जैसी विराट् सत्ता, 'कामार्त्ता., प्रकृति कृपणा.', की कोटि में चली जाये, यह पाप-ग्लानि की बात नहीं, आत्म-क्षय और आत्म-पराजय की बात है। 'पाप' एक निर्जीव शब्द है। उस का क्या मतलब होता है, हम नहीं जानते! आज सर्वसाधारण की दृष्टि में लीक पर चलना 'पुण्य' है और लीक से हटना 'पाप' क्योंकि लीक मनु महाराज ने खींची है। यदि पाप यह है, तो हमें पाप के वरण में कोई एतराज नही। पर आत्म-क्षय और आत्म-पराजय को अवश्य हम गर्हित मानते है। मैं प्रसन्न था कि मेरे भीतर के पद्मासन स्थित सारथि ने आज एक बडी आत्म-पराजय और एक गर्हित आत्म-क्षय से मेरी रक्षा की है। आज मैं डूबते-डूबते उबर गया।

सभी लोग मेरी ही प्रतीक्षा कर रहे थे। पाँत बैठ गयी। पात पडने लगा। अर्धवृत्ताकार पाँत के बीच सुमेरु मणि की तरह बडी खातिर से सब लोगो ने मुझे बैठाया। ठाकुरों[1] ने सारा कला-कौशल लगा कर भोजन बनाया था और दूसरी ओर सब के उदर में क्षुधा ईहा-मृग सी विकल थी। सभी खूब खा रहे थे, सभी खूब सराह रहे थे, चारो ओर

---

1. असम-बंगाल-उडीसा में 'ठाकुर' शब्द ब्राह्मण के लिए आता है, पर ठेठ हिन्दुस्तान में इस का अर्थ होता है क्षत्रिय।

हँसी-खुशी का वातावरण था। पर मैं ? मैं तो प्रथम कुछ अनुभव ही नहीं कर पाया कि क्या खा रहा हूँ। मन उक्त अन्तर्युद्ध के महाअनुभव से एकदम सम्पृक्त था। पर धीरे-धीरे स्वाद और सुगन्धि का अनुभव हुआ, अन्नक्षुधा लौटी और मैं भोजन के माध्यम से क्रमशः सहजता की धरती पर उतर आया। मुझे लगा कि मैं पुलाव-दही, सब्जी, मिष्टान्न आदि सब कुछ मिला कर एक किलो से ज्यादा भक्षण कर गया हूँ। मैं अपने इस अप्रत्याशित दीर्घ भोजन पर चकित था। क्या मेरे भीतर का वेदान्ती पुरुष, पद्मासन स्थित सारथि भी आज मेरे साथ भक्षण कर रहा है ? क्या देहरूपी पिप्पल की शाखा पर बैठे 'द्वौ सुपर्णौ' का दूसरा सुपर्ण भी आज अपनी आदत छोड कर सहभोज का आस्वादन कर रहा है ? पता नही। पर मैं अपने दीर्घ भोजन पर आश्चर्य-आहत हो गया था।

धीरे-धीरे सन्ध्या हो चली। हेमन्त की साँझ में नील श्यामल धुएँ के भूत वन के ऊपर उतरने लगे। तब तक 'मेस' के चाकरो ने नदी में बरतन-वासन साफ कर लिया था। बहुत सा खाना बचा था। आस-पास के गाँवों के पचासो बच्चों का झुण्ड जुटा था, उन्हें ही पंक्ति में, बैठा कर परोस दिया गया। वे कुछ खाये, कुछ बाँध कर घर ले गये। अच्छा ही हुआ। हम भी खाये, वे भी खाये, साथ यह जो कुछ उच्छिष्ट बचा है, उसे स्यार-कुत्ते-पख-पखेरू पायेंगे। इसे मैं राष्ट्रीय क्षति नही मानता। यह भोज, यह उत्सव, यह मेला ही यदि राष्ट्रीय क्षति है, फुजूलखर्ची है, तो इस लॉजिक की चरम परिणति यही होगी कि हम पचास-बावन करोड भारतीयो का जीवन-धारण ही फुजूलखर्ची है। जीवन का लक्ष्य कर्म नही। कर्म तो साधन है। लक्ष्य है लीला अर्थात् मौज-रगबाजी। यही तो वैष्णवता है।

हमारे सिर के ऊपर से 'कॉक् कॉक्' करते हुए वन पाँखियो का एक झुण्ड अभी-अभी गुजर गया है। पँचो, वन-कपोतों, हारिलो और सुग्गो के जाने-पहचाने झुण्डों के अतिरिक्त अनेक अनजाने अन-चीन्हे वन-

पखेरुओं के झुण्ड पर झुण्ड लौट रहे हैं। रैन-बसेरा जो चाहिए।

यह असम देश ही नानावर्ण श्वापदों, पखेरुओं, जड़ी-बूटियों, पेड़-पौधों और वन-जातियों का गन्धर्व-किन्नर लोक है। चारों ओर चिड़ियों का शोर सुनाई पड़ रहा है। सारी पहाड़ी, नदी का कगार और आस-पास के खेत—सभी मुखरित हो उठे हैं। पर शीघ्र ही सारा शोरगुल शान्त हो जायेगा। धुएँ के प्रेत सारे स्वरों को पी जायेंगे। वे मोहाच्छन्न रात्रि के नागपाश में इन कोमल वन-पाँखियों को बाँध कर रात भर के लिए इन का गला घोंट देंगे और तब निविड़-निस्तब्धता के भीतर इन भूतों के आरण्यक साथी श्वापद-गण खुल कर शिकार करेंगे, खून पीयेंगे, दाँतों-नखों को वृक्ष-मूलों पर रगड़ कर शान चढ़ायेंगे और बत्ती जैसी टमटमाती आँखों और लोलुप जिह्वा के साथ अराजक भाव से सारे जंगल में विचरण करेंगे। इस निस्तब्धता के मध्य हेमन्ती धूम्र की यह चादर पाप के कम्बल की तरह और अधिक भीगती जायेगी। यह प्रेताचार रात भर चलता रहेगा। सवेरे सात रंगों का पिता सूर्य आ कर पशु-पक्षियों, मनुष्यों और वनस्पतियों को जगा कर उन्हें धर्माचार के दिवस-पथ पर हाँक कर चला देगा।

दिन की रोशनी का खग्रास होते-होते हमारा सामान लद गया। बस का हार्न बजने लगा। साथी, अब बस चल देना है। सारी मोह-माया त्याग कर! 'निझूम सन्ध्या!' एक आधुनिक गान का रेकार्ड-संगीत सन्ध्या के प्रति विदा का नमस्कार देता है। समवेत कण्ठ से उठता है, तीन-चार बार 'दी चीयर्स फॉर कॉलिज पिकनिक पार्टी।' और फिर उलटारथ का राजमार्ग और साथ ही नृत्याचार्य विष्णु राभा के गान की रेकार्ड-आवृत्ति। मैं परम आश्चर्य से मन ही मन गुनता हूँ, यह गान इतने सही और सटीक सन्दर्भ में कैसे इसी क्षण बज उठा। मेरे मन के भीतर मेरी मृदंगवादिनी गद्यभाषा इस गान के ताल पर संवाद-मुखर हो उठी—

'नाहर फूले नू शुवाई ?
तगर फूल शुवाय ।
तगर फूले न शुवाई ?
कपो फूल शुवाय ।
कपो फूल न शुवाई ?
यदि हिया सो ताते मोर
हिया फूल पारी दिम
गूजि खोपाते मनोहर !"

(ओ मेरी पर्वतवासिनी प्रिया !) यदि तू नाहर फूल (अपने केश में) नही सजाती हो तो तगर फूल सजा ले। यदि तगर फूल नही सजाती हो तो कपोत फूल सजा ले। ओ प्रिया, यदि कपोत फूल पसन्द नही और तू मेरा हृदय चाहती है, तो हृदय-पुष्प ही तेरे मनोहर जूडे में मैं स्वय सजा दूँगा।

विष्णु राभा के इस गान का तीसरा पद बस के स्टार्ट होने की भीम घरघराहट में डूब कर समाप्त हो गया और साथ ही मेरे मन में फूटते कपोत पुष्प भी कही खो गये। उलटा रथ का प्रत्यावर्तन-घोष मुखर हो उठा। उस समय वन के भूत शायद पेड़ो के शिखर-शिखर पर खडे हो कर इस प्रत्यावर्तन को देख रहे थे। और हरी घास, नदी की धार सरसों के पीले-पीले खेत तथा पहाडी के घने लता-कुज बार-बार हाथ उठा कर कह रहे थे—तुम आना ! तुम फिर आना ! ओ भाई, ओ भागिनेय, ओ पाहुन, तुम बार-बार आना। तुम जन्म प्रति जन्म आना !

●

अनुचिन्तन

आधुनिकता : नयी और पुरानी

आधुनिकता कोई फैशन या मौज-शौक नही है। नौकरशाही सस्कृति के गलित रूप को आधुनिकता मान कर ग्रहण करना या सस्कारो का अमेरिकीकरण करना, चाहे वे जीवन के सस्कार हो या साहित्य के, तथा परम्परा अस्वीकार करने के नशे में 'हिन्दुस्तान' को ही अस्वीकार कर देना आदि आधुनिकता नही। ये सब सामाजिक और बौद्धिक फैशन हो सकते हैं। आधुनिकता फैशन से कही अधिक सूक्ष्म और गहरी चीज है। यह एक दृष्टिक्रम है, एक बोध-प्रक्रिया है, एक संस्कार-प्रवाह है या सीधी शब्दावली में 'एक खास तरह का स्वभाव' है जिस की उपलब्धि अपनी अस्मिता के माध्यम से होती है और इस 'स्वभाव' की उपलब्धि के लिए आत्मान्वेषण की यन्त्रणा भोगनी पडती है। गम्भीर और आत्मसम्पृक्त अध्ययन के माध्यम से भी इस स्वभाव को उपलब्ध किया जा सकता है। आत्मान्वेषण की यन्त्रणा और आत्मसम्पृक्त अध्ययन-मनन—दोनों रास्ते सही और परस्पर पूरक हैं। दोनों में कोई नकली नही। हाँ, सर्जनात्मक मन के लिए पहले रास्ते की आशिक अनिवार्यता स्वीकार करनी ही पडेगी। पर विशाल उपभोक्ता समाज के लिए दूसरा रास्ता ही अपेक्षित और सुरक्षित है। इस खास स्वभाव की रचना जिन सस्कारों से हुई है वे बडे ही उलझे हुए हैं और इस उलझी सस्कार-प्रक्रिया में ये संस्कार मुख्य रूप से उपस्थित पाये जाते हैं : प्रश्नाकुलता, संशयशीलता, जीवन के आस्वादन में विश्वास, मात्र तात्कालिक या शुद्ध ऐन्द्रिक अनुभूति में ही विश्वास, अतिमा या परम्परा से निरपेक्ष हो कर नये मूल्यों का अन्वेषण,

इस अन्वेषण की तीव्र यन्त्रणा का बोध, चरम क्षणों (यथा जन्म के समय का क्षण या मृत्यु के समय का क्षण जब हम नितान्त अकेले रहते हैं) को पकड़ने और उन के माध्यम से जिज्ञासा और सिसृक्षा को तुष्ट करने का प्रयास आदि। इन सारे संस्कारों से सम्पृक्त मन को आधुनिक मन कहते हैं। 'आधुनिकता' को आज हम इसी रूढ़ अर्थ में ग्रहण करते हैं। यद्यपि मैं स्पष्टता के लिहाज से इसे 'आधुनिकता' ही न कह कर 'नयी आधुनिकता' कहना चाहूँगा।

हिन्दी में 'असली' और 'नकली' आधुनिकता के प्रश्न को ले कर काफी बहस हुई है और भविष्य में भी होगी। पर मैं समझता हूँ कि मूल प्रश्न असली और नकली का नही, 'नयी आधुनिकता' और 'पुरानी 'आधुनिकता' का है और अपनी-अपनी जगह पर दोनों ठीक हैं। कम से कम हिन्दुस्तान में दोनों का सार्थक अस्तित्व दिखाई पड़ रहा है। 'पुरानी आधुनिकता' एक परस्पर-विरोधी अभिव्यक्ति जैसा भले ही लगे, पर है यह तथ्य। इस से हमारा तात्पर्य उन्नीसवीं शती के उदारवादी और मानववादी संस्कारों से है जिन के प्रचार का प्रारम्भ राजा राममोहन राय से हुआ और दयानन्द तथा महात्मा गान्धी ने इस कार्य को आगे बढ़ाया। आज के हिन्दुस्तान में जहाँ हरिजन-समस्या, नारी-मुक्ति, वैज्ञानिक दृष्टि, वर्गहीन समाज, और जाति-भेद आदि अब भी ज्वलन्त समस्याएँ है, जहाँ अब भी गुरुद्वारों और मसजिदों को चुनाव-प्रचार का मजबूत केन्द्र माना जाता है और गोवध-विरोधी आन्दोलन हो सकता है, तो कैसे कहा जाये कि उन्नीसवीं शती के मानवीय मूल्य समता, न्याय, धर्म-निरपेक्षता, वर्ण-निरपेक्षता, वैज्ञानिक दृष्टिकोण आदि के लिए जागरूक रहना 'आधुनिकता' नही, और हरिजनोद्धार तथा महिला-शिक्षा-आन्दोलन की चर्चा 'आधुनिकता' नही। सच तो यह है कि इस देश में समूहगत जीवन में यह पुरानी उन्नीसवीं शती वाली आधुनिकता ही सार्थक आधुनिकता है। मेरी समझ से यह अब भी 'बासी' नही, ऐतिहासिक कालक्रम के अनुसार 'पुरानी'

भले ही कहा जाये। इसी से इसे मैं 'पुरानी आधुनिकता' कह कर स्वीकारता हूँ।

दूसरी ओर बीसवीं शती की आधुनिकता है। उन्नीसवीं शती की आधुनिकता अर्थात्, पुरानी आधुनिकता के संस्कारों का जन्म मूल्यों के द्वारा होता है और वे स्वत. भी नये मूल्यों के जनक हैं। पर इस बीसवीं शती की आधुनिकता का जन्म ही सब प्रकार के मूल्यों के प्रति मोह-भंग से हुआ है। इस के मोह-भंग के दर्शन की कसौटी पर पुरानी आधुनिकता खोखली और बासी ज्ञात होती है, जब कि पुरानी वास्तविकता के समर्थकों को अपनी आदर्शवादी कसौटी पर यह नयी आधुनिकता नकली और स्वांगपूर्ण लगती है। पुरानी आधुनिकता का दर्शन है मानवीय आदर्शवाद तो नयी आधुनिकता का आधार है मोह-मुक्त (डिसइल्यूजन्ड) यथार्थवाद।

नयी आधुनिकता का जन्म जिन मानवीय परिस्थितियों से हुआ है वे भी कम सत्य नहीं हैं। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मार्क्सवाद के 'मुखौश'-नुमा मूल्यों का रहस्योद्घाटन, महायुद्ध और भावी अणुयुद्ध का आतंक तथा मनुष्य की नितान्त लाचार स्थिति, राष्ट्रीय स्तर पर अर्ध सत्यों के सृजन और प्रसारण में होड़, बढती हुई दीनता और भूख, नौकरशाही के बढते हुए जाल और उन में दिन पर दिन खोया जाता हुआ मनुष्य, अस्थिर राजनीतिक आदर्श तथा मूल्यगत सौदेबाज़ी, संशय और आतंक का वातावरण—आदि मानवीय स्थितियाँ नितान्त सत्य हैं और इन के बीच जन्म लेने वाले नयी आधुनिकता के संस्कार नितान्त आरोपित और स्वांग-पूर्ण नहीं। परन्तु जहाँ पुरानी आधुनिकता समूह-सत्यों को ले कर चलती है, नयी आधुनिकता समूह-सत्यों से निरपेक्ष व्यक्ति-सत्यों पर ही आधारित है। नयी आधुनिकता की कमो-बेश यह अनिवार्य नियति है कि सदैव संवेदनशील 'अल्पमत' बुद्धिजीवी-वर्ग से ही वह संयुक्त रहेगी। जिस प्रकार वैष्णवता में या समाजवाद में बुद्धिजीवी-वर्ग को समूहगत स्तर पर

अपना दर्शन स्थापित करने की सुविधा है, वह सुविधा नयी आधुनिकता से सम्पृक्त बुद्धिजीवी को नही। यही उस की सीमा है, उस की कमजोरी है। परन्तु उक्त मानवीय स्थितियों को, जिन से इस का जन्म होता है, यथार्थ स्वीकार लेने पर इसे भी सही और यथार्थ मानना ही पडता है। इस की भूमिका के बारे में मतभेद हो सकता है, पर उस की सचाई और सत्ता के बारे में नही। यह 'अल्पमत संस्कृति' की उपज है और इस के पास कोई समूहगत यूटोपिया नही। यह सही है कि इस में एक असली नायक है तो सैकडो स्वांगपूर्ण अभिनेता। परन्तु यही बात तो पुरानी आधुनिकता के लिए भी है। आज हरेक कमीना अपना उल्लू सीधा करने के लिए पचशील और समाजवाद की क़सम खाता है, खादी पहनता है और झण्डे बदलता है तिरगे से एकरंगा और एकरगे से तिरगा। ऊपर से लाल, भीतर से हरा। नयी आधुनिकता में विदूपक ज्यादा है तो पुरानी आधुनिकता में पाखण्डी। और पाखण्डी निश्चय ही विदूपक से ज्यादा अवाछनीय और खतरनाक होता है।

आधुनिकता के सम्बन्ध में एक विशिष्ट प्रश्न उठाया जा सकता है. 'क्या आधुनिकता स्वत कोई तथ्य या मूल्य है ?'

मेरी समझ से आधुनिकता निज में कोई मूल्य या तथ्य नही बल्कि एक स्वभाव है, एक सस्कार-प्रवाह है, एक बोध-प्रक्रिया है। चाहे जो इसे मानें पर गुण-धर्म के हिसाब से 'स्वभाव', बोध-प्रक्रिया, सस्कार-प्रवाह आदि एक ही बातें हैं। इसे तथ्य या मूल्य मानने का भ्रम तभी होता है जब लोग सस्कार को ही मूल्य मान बैठते हैं, यथा प्रश्नाकुलता, आस्वादन में विश्वास, या यायावरवृत्ति आदि जो सस्कार हैं या स्वभाव के अग हैं, चिन्तन की असावधान अवस्था में मूल्य मान कर लोग आधुनिकता की मूल्य के तौर पर चर्चा करने लगते हैं। पर यदि उन से बात आगे बढायी जाये तो घुमा-फिरा कर यही जवाब मिलेगा 'मूल्यहीनता ही आधुनिकता का मूल्य है।' पर यह भी कोई बात हुई! अत शाब्दिक द्रविड प्राणा-

याम को छोड़ कर हमें मान लेना चाहिए कि आधुनिकता मूल्य या तथ्य नहीं, स्वभाव या संस्कार-प्रवाह है। हां, इतना माना जा सकता है कि इस के जनक कुछ मूल्य हों या इस के द्वारा या इस के माध्यम से कुछ मूल्यों का जन्म हो, जैसे उन्नीसवीं शती की 'पुरानी आधुनिकता' के विषय में; परन्तु स्वतः यह संस्कार-प्रवाह है, मूल्य नही। जहां तक 'नयी आधुनिकता' का प्रश्न है, यह कोई मूल्य नही सृजन करती है और इस का जन्म मूल्यों के प्रति मोह-भंग से हुआ है। अत. इस के मूल्य होने का सवाल ही नहीं उठता। आधुनिकता को समझने के लिए 'सस्कार' और 'मूल्य' का भेद मन में खूब साफ रहना चाहिए। समता, स्वतन्त्रता, सौन्दर्योपासना, रसभोग, आनन्द, आवारागर्दी, गुण्डई, श्रेय, प्रेय आदि मूल्य हैं। परन्तु, कोमलता, क्रोध, शोक, रस-लुब्धकता, बेचैना, कामुकता, उदात्तता, मोह-भंग, विकर्षण, निराशा, संशय, प्रश्नाकुलता आदि सस्कार हैं। मूल्य—यानी उद्देश्य-बिन्दु या पुरुषार्थ। सस्कार—यानी मानसिक वृत्ति। इसी प्रकार सस्कारों को 'तथ्य' (फ़ैक्ट) नही माना जा सकता है। मूल्य, तथ्य और संस्कार परस्पर एक दूसरे को प्रभावित और सशोधित करते हैं, पर वे एक ही नहीं। कोई नहीं कह सकता . अमुक-अमुक तथ्यों या मूल्यों की चर्चा करो तो आधुनिक कविता या कहानी हो जायेगी। सही इसलाह यह होगी : अध्ययन-मनन या आत्मयन्त्रणा के माध्यम से पूर्वोक्त विशेप संस्कारों को पहचानो और अर्जित करो, उन संस्कारों के प्रवाह के भीतर आ कर कोई तथ्य या कोई घटना आधुनिकता का रग कर लेगी। उस में किसी गहरी सवेदना का समावेश हो जायेगा, उन सस्कारो के स्पर्श के कारण। यहां एक उदाहरण देना ठीक होगा। श्रीमती महादेवी वर्मा की अति परिचित कविता "मधुर-मधुर मेरे दीपक जल, प्रियतम का पथ आलोकित कर ..." इत्यादि में मूल्य है 'अहं से मुक्ति', और तथ्य है दीपक का समर्पण। ठीक इसी मूल्य और इसी तथ्य पर आधारित 'अज्ञेय' की भी एक कविता है :

"यह दीप अकेला, गर्व भरा मदमाता इस को भी पंक्ति को दे दो ।
यह जन है गाता गीत जिन्हें फिर कौन गायेगा ?
पनडुब्बा . ये सच्चे मोती फिर कौन कृती लायेगा ?
यह समिधा ऐसी आग हठीला कौन सुलगायेगा ?
यह अद्वितीय, यह मेरा
यह मैं स्वयं विसर्जित
यह दीप अकेला, स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता
इस को भी पंक्ति को दे दो ।"

मूल्य और तथ्य की एकता होते हुए भी आत्मिक प्रक्रिया रूमानी और आधुनिक संस्कारो के मौलिक स्वभावगत भिन्नता के कारण भिन्न हो गयी है । अज्ञेय में आत्मिक प्रक्रिया का बोध गहरा हो उठा है, जब कि महादेवी में यह भावात्मक स्तर पर समर्पण की बात कह कर समाप्त हो जाता है । यह अहं 'अद्वितीय' है पर साथ ही 'स्वयं-विसर्जित' । और यह तीन भूमिकाओ में आता है जो एक के बाद एक गम्भीर से गम्भीरतर बोध को छूती गयी है । पहले यह 'जन' मात्र है जो 'अद्वितीय' गायक है । फिर यह अद्वितीय गोताखोर है, जो अतल तक पैठ जाता है, दृढ समाधि के वायुबद्ध तह पर तह छेदता हुआ अतल से 'सही' बोध और 'सही' शब्द ढूँढ लाता है । फिर अन्त में यह 'अद्वितीय' समिधा है, जो आत्ममेध के द्वारा अपने अस्तित्व को आग में बदल कर पूर्णत 'मुक्त', अपने अस्तित्व से भी मुक्त हो जाता है । यह पूर्ण 'मुक्ति' कलाकार की अनिवार्यता है । वैष्णव आत्मसमर्पण को आत्ममेध की शाक्त प्रक्रिया के भीतर विकसित करने का प्रयत्न यहाँ एक गहरी आत्मिक प्रक्रिया को जन्म देता है जो महादेवी की पंक्तियो में अनुपस्थित है । अत तथ्य और मूल्य एक होते हुए भी आधुनिक संस्कारो के सन्दर्भ में पड कर 'समर्पण' के तथ्य का समूचा बोध ही बदल गया ।

कुछ लोगों का खयाल है कि जो कुछ भी ऊट-पटाग, गडवड-सडवड, सुनने में औघड़-पन्थी, अश्लील और कुरूप हो वह आधुनिक हो जाता है। इस भ्रम के शिकार 'अकविता और विद्रोही पीढ़ी' वाले तथा 'मुद्राराक्षस' जैसे 'जीव' ज्यादा हैं। गोया अश्लीलता और कुरूपता ही आधुनिकता हो। यह सही है कि श्लीलता और सुरूपता के पुराने मापदण्डों को आधुनिकता ने त्याग दिया है। परन्तु अश्लीलता-रस या कुरूपता-रस की साधना के लिए नही, बल्कि सर्जक की आत्मिक आवश्यकता के कारण। कुरूपता, गद्यात्मकता, या अभिव्यक्ति-रुक्षता से आधुनिकता का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध नहीं। रूमानी सौन्दर्यबोध को अस्वीकृत करने का अर्थ फूहड़ और भद्दापन का वरण नहीं। यहाँ पर लगता है कि कभी-कभी बड़े कवि, यहाँ तक कि अज्ञेय भी, अनगढता के इस आकर्षण को चपेट में आ गये हैं, उक्ति चमत्कार के फेर में पड कर या 'शॉक' देने के लिए। परन्तु यह आधुनिकता का खास लक्षण या राजमार्ग नही माना जाना चाहिए। यहाँ पर दो उद्धरण अंगरेजी से, इसी विन्दु पर दिये जा रहे हैं। एक है जार्जियन कवि रूपर्ट ब्रुक का और दूसरा है आधुनिक कवि एलियट का। विषय (यानी 'तथ्य') एक ही है। पर एलियट की अभिव्यक्ति में आधुनिकता है रूपर्ट ब्रुक में नही।

(१)

"एण्ड यू दैट लव्ह यंग लाइफ एण्ड क्लीन मस्टैंड
ए फ्राउल सिक फ्रमब्लिंग ड्रिब्लिंग बडी एंड ओल्ड
ह्वेन हिज रेअर लिप्स हैंग फ्लैबी एंड काट होल्ड
स्लोबर, एंड यू आर इनडचोरिंग दैट वर्स्ट थिंग
सेनिलिटीज क्वीज़ी फ़्रटिव लवमेकिंग
एण्ड सचिंग दोज़ डियर आइज़ फॉर ह्यूमन मीनिंग
ग्रोपिंग द वॉल्ड एंड हेल्पलेस हेड एंड क्लीनिंग
ए स्क्रप दैट लाइफ हैज फ्लग वाई।"—रूपर्ट ब्रुक

(२)

"एड दो आइ हैव वेप्ट एंड फ़ास्टेड, वेप्ट एड प्रेड
दो आइ हैव सीन माई हेड
(ग्रोन स्लाइटली बॉल्ड)
ब्रॉट इन अपॉन ए प्लैटर
आइ एम नो प्रौफेट एड देअर इज
नो ग्रेट मैटर ।"

—एलियट

दोनों में विषय एक ही है . आते हुए बुढ़ापे का अहसास, प्यार की अक्षमता और उस से उत्पन्न ईर्ष्या-भाव तथा रूमानी प्यार के प्रति मोह-भंग (डिसइल्यूजनमेंट) । माथे के गंजेपन का उल्लेख दोनों में है । परन्तु एलियट की अभिव्यक्ति में कहीं भी कुरूप या अनगढ़ वाक्य या बिम्ब नहीं, जब कि ब्रुक ने 'लटकते थुल-थुल मासल होंठ' तथा 'गलितम् पलितम् मुण्डम्' के अनगढ़ बिम्ब पेश किये हैं । एलियट की भाषा सादी और सहज है । फिर भी एलियट में 'आत्मिक संकेत' (स्पिरिचुअल सिगनिफ़िकेंस) है, जब कि रूपर्ट ब्रुक में रूमानी हताशा । एलियट के प्रूफ़ाक के अन्दर 'प्रायश्चित्त' का भाव जो जुड़ा है वह उस की ईर्ष्या को गहरा आध्यात्मिक संवेदन देता है । "वह रोता है, प्रायश्चित्त करता है, वह प्रायश्चित्त करता है, प्रार्थना करता है और उसे अहसास होता है कि उस के माथे के बाल गिर रहे हैं ।" यह सादा कथन 'प्यार' के अ-रूमानी असमर्थता और मोह-भंग की मानसिक पृष्ठभूमि को गहरे आत्मिक स्तर पर रखता है, जब कि अपनी अनगढ़ता-कुरूपता के बावजूद वैसे गहरे रूमानियत मोह-भंग को ब्रुक नहीं दे पाता है ।

इधर हिन्दी के अनेक 'विद्रोही' कवियों ने अकविता की शैली में 'अहं-प्रदर्शन' को ही आधुनिकता मान कर यौवन, मोह भंग एवं शारीरिक 'आदमों' के 'नग्न'-उद्घाटन आदि पर अनेक कविताएं लिखीं

है। परन्तु इन की प्रामाणिकता को उन्होंने गहरे आत्मिक स्तर पर नही लिया है। अतः वे आधुनिकता का गहरा और शुद्ध निर्विकार बोध पकड नहीं पाये हैं, जब कि मुक्तिबोध की अनेक कविताओं में इन्ही तथ्यों की, शुद्ध बोध और गहरी प्रामाणिकता के साथ, अभिव्यक्ति की गयी है। संस्कारों का आत्मिक संघात (स्पिरिचुअल इंटर एक्शन) मौजूद न होने से आधुनिकता का फ़ैशन प्राप्त होता है, आधुनिकता नही।

हम ऊपर कह आये हैं कि आधुनिकता मूल्य या तथ्य नही, संस्कार-प्रवाह या स्वभाव है। नयी आधुनिकता यानी बीसवीं शती की आधुनिकता के बारे में यह और ज़ोर दे कर कहा जा सकता है। यह सही है कि हरेक आधुनिकतावादी अस्तित्ववादी (एकेडेमिक अर्थ में, अर्थात् सार्त्र-कामूवादी) नही, पर वह भी मूलतः 'अस्तित्व' को ही पहले पकडता है। धारणा (कनसेप्ट) और प्रत्यय (आइडिया) से उस का प्राथमिक सम्बन्ध नहीं। अन्ततः आधुनिकता-बोध से उत्पन्न समूचा साहित्य ही कम या वेश, जिस दर्शन का सब से नजदीकी रिश्तेदार ठहरता है वह है : 'अस्तित्ववाद।' यह अस्तित्ववाद स्वय मार्क्सवाद या वेदान्त की तरह कोई सगठित 'मूल्य-पद्धति' (सिस्टम) नहीं। प्रत्येक अस्तित्व-वादी के विषय और उपलब्ध फल अलग-अलग है। वे 'अस्तित्ववादी' इस लिए नही कहलाते कि उन के द्वारा खोजे गये फलों या सिद्धान्तों में समानता है। बल्कि उन को अस्तित्ववादी की संज्ञा सामूहिक रूप से इसी कारण मिली है कि उन का दार्शनिक 'स्वभाव' एक है अर्थात् उन की चिन्तन-प्रक्रिया एक है, उन का प्रस्थान-बिन्दु (अस्तित्व) एक है और वे मात्र नकारात्मक स्थितियों में एक दूसरे से सहमत है। ऐसे दर्शन से जैविक रूप से सम्बन्धित 'आधुनिकता' में मूल्य या तथ्य कहाँ से आयेगा ? यही कारण है कि यह भी एक सस्कार-प्रवाह या एक विशेष 'स्वभाव' है। कोई मूल्य-पद्धति (सिस्टम ऑव वैल्यूज) नही। जब इस की पृष्ठभूमि में कोई 'मूल्य-पद्धति' वाला दर्शन ही नही, तो यह कैसे मूल्य-

पद्धति हो जायेगी या किसी मूल्य-पद्धति की रचना करेगी ?

क्या आधुनिकता की कोई परिभाषा हो सकती है ? अपने विशेष या रूढ अर्थ में जिसे मैं ने 'नयी आधुनिकता' कहा है, यह इतनी उलझी प्रक्रिया है कि इस की परिभाषा नही दी जा सकती—बल्कि इस के सस्कारो के माध्यम से जिन का जिक्र प्रारम्भ में किया गया है, इसे पहचाना जा सकता है। 'रूमान' और 'क्लासिसिज्म' की तरह इस को भी बिलकुल सटीक परिभाषा देना कठिन है। नयी आधुनिकता का दर्शन ही है—'शब्दो' के द्वारा नही अस्तित्वगत अनुभूति के द्वारा पहचानने और उपलब्ध करने का प्रयत्न। अत स्वत इस को भी शब्दों के माध्यम से नही इस के अस्तित्व को पहचान कर इसे उपलब्ध करना चाहिए।

पर आधुनिकता के सामान्य अर्थ में इस की एक परिभाषा दी जा सकती है जो कम या बेश सब प्रकार की आधुनिकता पर (पुनर्जागरण-युगीन, या उन्नीसवी शती की या आज की) लागू हो सकती है। वह है . "सक्रान्ति कालीन 'मिज़ाज' (मूड) या प्रश्नगर्भी सक्रान्ति के प्रति सचेतता को आधुनिकता कहते है।" मैं यह नही कहता कि यह सर्वथा पूर्ण परिभाषा है। पर यह काफी दूर तक काम-चलाऊ है। यह सचेतता क्रान्ति, सुधार (जैसे 'पुरानी आधुनिकता' के सन्दर्भ में) या साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। उदाहरण के लिए गत महायुद्ध के बाद सक्रान्ति की (वैचारिक क्षेत्र में) तीन मुख्य दिशाएँ है (१) त्रास और भविष्य का आतक, (२) पुराने मूल्यो के प्रति सम्पूर्णत मोह-भग, (३) आत्माभिज्ञान ('आयडेंटिटी') के लिए छटपटाहट। जो मानस इन के प्रति सचेत और इन से सम्पृक्त है वह आधुनिक है।

विश्व-इतिहास में आधुनिकता के अनेक दौर आये है और दी गयी परिभाषा प्रत्येक दौर को दृष्टिगत रख कर उपस्थित की गयी है। पर हरेक दौर की समूहगत और व्यक्तिगत स्थितियाँ भिन्न थी और उस से उत्पन्न आधुनिकता बोध भी भिन्न रहा। हम भारतीय चिन्ता की विकास-

धारा के माध्यम से भी देख सकते हैं कि जिस प्रकार परम्पराप्रियता मनुष्य के मन की स्थायी और सामान्य वृत्ति है वैसे ही आधुनिकता भी। कभी एक प्रबल पड़ती है तो कभी दूसरी।

भारतीय चिन्ता में उक्त परिभाषा द्वारा समर्थित आधुनिकता हमें ईसा पूर्व छठी शती में पहली बार मिलती है। इस समय वैदिक धर्म विकृत अवस्था में था और एक ओर उपनिषदों में वैदिक संहिताओं के संशयात्मक स्थलों को पुनः संस्कार मिल रहा था तो दूसरी ओर आधुनिकता भौतिकवाद के चेहरे से बोल रही थी। संक्रान्तिकालीन प्रश्नों के प्रति सजगता का स्पष्ट उदाहरण हमें पुराण कश्यप, अजित केशकम्बली, पकुध काच्चायन, संजय बेलट्ठिपुत्र, मक्खलि गोशाल और चार्वाक के विद्रोही एवं संशयशील स्वरों में मिलता है। इन्हीं संशयशील स्वरों से सांख्य, बौद्ध और जैन-दर्शनों को उगने और बढ़ने की जमीन मिली। यह सही है कि इन का निकाला हुआ हल मान्य नहीं हुआ, परन्तु इन्होंने अवरुद्ध स्थिति को समाप्त किया, एक स्थितिशील जड़ स्थिति को समाप्त कर के प्रवाह और गति के लिए गुंजायश पैदा की। इन की प्रतिक्रिया में तीन तरह के हल सामने आये : अनेकान्तवाद (जैन), अनात्मवाद (बौद्ध) और आत्मवाद (वेदान्त, शैव और वैष्णव)।

पूराण कश्यप ने स्पष्ट कहा है कि गुण और अवगुण का, पाप और पुण्य का भेद झूठा है। मक्खलि गोशाल का सिद्धान्त है कि बिना हेतु के अकारण, जीवों का जन्म, अधःपतन या त्राण होता है; प्राणियों की अवनति और दुख का कोई कारण नहीं। जो कुछ घटित होता है वह आज की भाषा में विसंगत, ऊल-जलूल 'अब्सर्ड' है; वह किसी कारण (लॉजिक)-वश घटित नहीं होता है। यह स्थापना आज की भाषा में यों कही जायेगी : "जो कुछ घटित होता है वह 'युक्ति युक्तहीन' (इर्रैशनल) है।" मक्खलि गोशाल ने आगे बढ़ कर कहा है : "तुम्हारे दुष्कर्मों, सत्कर्मों का नियति पर कोई प्रभाव नहीं।" नियति का विधान

बिना किसी नियम के चल रहा है। "तुम्हारे कर्मों से वह निरपेक्ष है। अत. मानव-पुरुषार्थ की बात करना ही बेवकूफी है।" मक्खलि गोशाल द्वारा स्थापित यह स्थिति गत महायुद्ध के बाद की विकसित विसगतिपूर्ण मानवीय स्थिति के काफ़ी निकट है। संजय बेलट्ठिपुत्र सन्देहवादी है। पकुध कात्यायन का डायलेक्टिस अजीब है: "चूँकि आत्मा शाश्वत है, अत उस को कोई मार नही सकता, अत जीवहत्या जैसे कोई पाप का अस्तित्व ही नहीं। इस लिए किसी की जान मारने में कोई दोष नही।" इन के अतिरिक्त 'सुखमेव पुरुषार्थम्' की घोषणा करने वाला जीवन के आस्वादन में विश्वासी, तात्कालिक अनुभूति (प्रत्यक्ष प्रमाण) को प्रमाण मानने वाला चार्वाक का दर्शन तो आधुनिक है ही। ये सारे स्वर ईसापूर्व छठी शती के आसपास निर्जीव-जड वैदिक कर्म-काण्ड पद्धति की उपस्थित के कारण उत्पन्न वैचारिक सक्रान्ति तथा प्रश्नाकुलता को व्यक्त करते है। यह 'प्रश्नगर्भी सक्रान्ति के प्रति सचेतता' (यानी आधुनिकता) का प्रथम उदाहरण है। यह सचेतता न केवल इन जडवादियो में बल्कि मूल्य-सापेक्ष दर्शनों—यथा बौद्धो, जैनो और वैष्णवो में भी—कुछ न कुछ आ गयी है। बौद्धों का अनात्म, जैनों द्वारा सत्य के अनेक पहलू स्वीकार करना (स्याद्वाद) तथा वैष्णवो द्वारा कर्मकाण्ड और कामनाप्रधान यज्ञ का विरोध इसी सजगता के सबूत है। परन्तु यह आंशिक सजगता है। पूर्ण सजगता उक्त संशयवादी जडवादियो में ही है।

दूसरी वैचारिक सक्रान्ति उपस्थित होती है इसलाम के आगमन पर। ऐतिहासिक कारणों से आधुनिकता जनमी अवश्य, पर अवरुद्ध सी रह गयी। यह अवरुद्ध आधुनिकता सन्तो और गोरख-कबीर इत्यादि में व्यक्त हुई। कबीर अपने ज़माने के विद्रोही और 'क्रुद्ध तरुण' (ऐंग्री यंगमैन) थे। उन के विचार प्रखर आधुनिकता से सम्पृक्त हैं। सुनने में आया है कि हिन्दी के कुछ विद्रोही युवा कवि 'कबीर पीढी' के नाम से आगे आ रहे है।

वैचारिक संक्रान्ति और आधुनिकता का तीसरा दौर आता है : यंग बंगाल, डिरोजियो और कुछ संयत रूप में राजा राम मोहनराय के माध्यम से। इस का जीवन-दर्शन था उन्नीसवीं शती का वैज्ञानिक मानववाद और उदारवाद। इसे ही प्रारम्भ में मैं ने 'पुरानी आधुनिकता' कहा है। राममोहन राय से राममनोहर लोहिया तक यह परम्परा चालू हालत में है और भारतीय समूह-जीवन के सन्दर्भ में बासी नहीं हुई है।

आधुनिकता का चौथा दौर महायुद्ध-पूर्व सन् '३० के कवियों-लेखकों के माध्यम से मोह-भंग के दर्शन को ले कर आया। महायुद्ध के बाद की मानवीय स्थिति ने विश्व-स्तर पर तथा देश में बढ़ती यान्त्रिकता एवं भ्रष्टाचार ने राष्ट्रीय स्तर पर इस की सजगता और बोध को प्रखर और प्रगाढ़ किया है। इसे ही हम ने नयी आधुनिकता कहा है। यह सही है कि सन् '५० के बाद की, या सन् '६० के बाद की नयी कहानी और नयी कविता का स्वभाव सन् '३० या सन् '४० की नयी कविता और नयी कहानी से कई अर्थों में अलग है। परन्तु प्रस्थान-बिन्दु सन् '३० के कवि ही हैं। मोह-भंग की प्रक्रिया जो अज्ञेय और मुक्तिबोध में प्रारम्भ हुई, वही आज तक चल रही है। पर आयाम और रंग बदलते रहे हैं। यदि आधुनिकता एक जानदार और गतिशील स्वभाव या संस्कार-प्रवाह है तो ऐसा होना स्वाभाविक ही है।

गत छायावादी युग का रूमानी बोध जटायु था जो एक आदर्श ले कर जूझा। राष्ट्रीयता और क्रान्ति-चेतना रोमैंटिक युग का एक विशेष आयाम थी। सन् '३० का आधुनिकता-बोध सम्पाती है, जो प्रखर सत्य से साक्षात्कार करने की प्रक्रिया में अपने मूल्यों के पंख गँवा बैठा और उसे पता चला कि वह अकेले हिन्द महासागर तट पर अजनबी सा जीने के लिए प्रतिबद्ध या विवश है—तो, सन् '५०-'६० में यह पता चला कि वह सम्पाती न केवल 'अकेले' है बल्कि सुलगती डाल पर बैठा है और इस असाधारण अणुयुगीन आतंकपूर्ण स्थिति में उस के पास पंख नहीं, कोई

मुक्ति देने वाला मूल्य नहीं, कि वह आकाश में उड़ कर अपनी रक्षा कर सके। 'मुद्राराक्षस' के शब्दों में

"और कब तक, सुलगती डाल पर
बैठा रहूँ असहाय
मुझे पंख दो।"

●

आधुनिकता : अकर्म से कर्म की ओर

भारत में गलतफहमीवश आधुनिकता पर नकली या दिखावटी होने का आक्षेप लगाया जाता है। इस गलतफहमी के कई मजबूत कारण है। सब से बडा कारण है . आधुनिकता के नाम पर नयी पीढी में फैलता हुआ स्वैराचार, जिस का आधुनिकता से कोई तथ्यत सम्बन्ध ही नही है। 'स्वैराचार' एक विलास या मौज-शौक है, जब कि आधुनिकता एक यन्त्रणा है, एक ऐसा स्वभाव है जिस में अस्मिता निरन्तर प्रश्न के दर्द को भोग रही है। नयी पीढी में काफी लोगो ने आधुनिकता को एक सुविधा के रूप में ग्रहण कर लिया है, जब कि आधुनिकता को एक अभिशप्त लाचारी, एक नियति के रूप में ग्रहण करना ही सही वरण है। असली यायावर के पीछे सुविधावादी नकली यायावरों के कारण आधुनिकता बदनाम हो गयी है। दूसरा कारण कुछ और गहरा है। नयी आधुनिकता जो महायुद्धो के द्वारा उत्पन्न मूल्य-तिरस्कार या मोह-भग से जन्म लेती है, मूल्यो के प्रति तटस्थता और कभी-कभी अस्वीकृति का दर्शन है। अत पुराने आधुनिको को जो विगत सुधारवादी मूल्यो को—जैसे वर्णभेदनाश, नारी-मुक्ति, समाजवाद आदि को—जीवन-दर्शन बना कर चलते हैं, यह अस्वीकृतिप्रधान नयी आधुनिकता शत्रुवत् खलती है। खलना भी स्वाभाविक ही है, क्योकि सामूहिक सन्दर्भ में इस के पास कोई पॉजिटिव (स्वीकारात्मक) विश्वदृष्टि नही, यह शुद्ध व्यक्तिनिष्ठ चिन्तन है—अलग-अलग, विलग-विलग, खडे प्रमथ्युओ की जिज्ञासा, यन्त्रणा और विद्रोह भर है। ऐसी हालत में इसे नकली और दिखावटी कह कर

दण्डित किया जाता है। यदि इस नयी आधुनिकता को कोई अधूरी कहे तो मुझे कोई एतराज़ नही। यह 'अधूरी' और 'सीमित' दृष्टि है ही। परन्तु यह नकली नही—अपने प्रामाणिक रूप में जहाँ यह मिली है वहाँ इस की सचाई साबित हो गयी है।

आधुनिकता जिसे मैं एक बोध-प्रक्रिया, एक स्वभाव या सस्कार-प्रवाह मानता हूँ, किन कारणो से सम्पूर्ण नही, क्यो 'सीमित' है, या अधिक स्थूल भाषा में 'अधूरी' है, एव उस की सीमाएँ क्या है—यहाँ इन तथ्यों पर हम एक विहगम दृष्टिपात करेंगे।

भारतीय परिवेश में आधुनिकता कमज़ोर और सीमित इस लिए लगती है कि इस का बहुत अशो में 'अकाल-प्रसव' के रूप में जन्म हुआ है और दूसरी बात यह कि इस के जन्म के बाद भी इसे बौद्धिक, वैचारिक और सास्कृतिक पृष्ठभूमि देने की चेष्टा नहीं हुई है, फलत यह सम्पूर्ण गुम्फ के रूप में प्रकट न हो कर सीमित सर्जनात्मक विधाओ के खास अगो में यथा नयी कविता और नयी कहानी में ही समाप्त हो जाती है। जब हम कहते है कि यह अकाल प्रसव जैसी लगती है (भले ही न हो, पर लगती वैसी ही है,) तो हमारा क्या तात्पर्य है ? विकास की तीन धुरियाँ है—औद्योगिक, यान्त्रिक (टेक्नोलॉजिकल) और वैज्ञानिक। यूरोप में जब आधुनिकता का जन्म हुआ तो ये विकास-धुरियाँ अपनी चरम सम्पृक्त अवस्था में थी। बिना इन की चरम सम्पृक्ति के आधुनिकता का पुष्ट और नॉर्मल जन्म सम्भव नही। परन्तु भारत में आधुनिकता इन के चरम सम्पृक्त स्तर पर नही, प्राथमिक स्तर पर ही जन्म लेती है। फलत सामूहिक स्तर पर इस के वरण और आस्वादन के लिए जो सस्कार चाहिए वे अभी यहाँ पर विकसित ही नही हो पाये है—वे विकसित होंगे तब, जब यहाँ पर भी औद्योगिक, यान्त्रिक और वैज्ञानिक धुरियो में चरम विकास का सम्पृक्त क्षण उपस्थित हो जायेगा। फलत. यहाँ पर बहुमत को आधुनिकता कोई बोध देने में असमर्थ है, अभी वह 'शॉक' ही मारती है।

'बोध' का सम्प्रेषण 'शॉक' (मानसिक धक्का) के बाद वाला चरण है। इस के लिए साहित्यकार और उपभोक्ता दोनो को 'मुक्त' होना चाहिए—एकतरफ़ा मुक्ति से सम्प्रेषण नही होता है—'शॉक' भर मिलता है। अखिल भारतीय लेखक सम्मेलन ('६५), उद्योगमण्डल (केरल) में अज्ञेय ने कहा था, "भारतीय साहित्यकार देश के मुक्त होने से पूर्व ही 'मुक्त' हो गया था।" हाँ, यह मुक्ति, अर्थात् पूर्वग्रहो, विधि-निषेधो, अतीतपरक मूल्यों से मुक्ति और मोहभंग नकली नही। पर यह अकाल प्रसव जैसा है। फिर भी यह नकली नही, क्योंकि ऐसा होना भारतीय सन्दर्भों के हिसाब से भले ही अकाल प्रसव हो, पर विश्वगत सन्दर्भों के हिसाब से एक नॉर्मल घटना है। स्मरण रहे कि आज का बुद्धिजीवी दोहरी ज़िन्दगी जी रहा है। उस के जीवन के दो समकेन्द्रिक सन्दर्भ वृत्त हैं। एक तो है भारतीय सन्दर्भ और दूसरा है विश्वगत सन्दर्भ। एक किसान के लिए यह दूसरा सन्दर्भ कोई अर्थ नही रखता, पर आज के शिक्षित बुद्धिजीवी के लिए इस का भी प्राणवान् और जैविक महत्त्व है। उस के संस्कारो में विश्वचिन्तन के तन्तु जैविक रूप से सक्रिय हैं। इसे अस्वीकार नही किया जा सकता—अन्यथा वह नीग्रो-समस्या, वियतनाम और सार्त्र को ले कर कलकत्ता-दिल्ली ही नही, ग़ाज़ीपुर में बैठ कर भी चिन्तित क्यों होता? आज का बुद्धिजीवी विश्वगत सघातों से अपनेआप को मुक्त नही रख सकता। और यदि ऐसी बात है तो ठीक ही हुआ है कि विश्व के अन्य बुद्धिजीवियों की तरह हिन्दी, बांग्ला, मराठी का बुद्धिजीवी भी सन् '३० के ठीक बाद वाले वर्षों में ही 'मुक्त' हो गया जब कि उस से आस-पास का सन्दर्भ उस मुक्ति-वरण के लिए तब सर्वथा अक्षम था और आज भी अंशत· है। अत. विश्वगत सन्दर्भों के परिप्रेक्ष्य में यह 'मुक्ति' और इस का विकासमान रूप 'आधुनिकता' एक नॉर्मल घटना है। यानी यह नक़ली नही। यह उस की सीमा है या उस की बदकिस्मती है या नियति है कि निकट

भारतीय परिवेश के हिसाब से वह अकाल प्रसव सी लगती है। हरेक सत्य सापेक्ष होता है, और अपने खास सन्दर्भ में ही ठीक होता है। विश्वगत सन्दर्भ में भारतीय साहित्यकार की मुक्ति और आधुनिकता स्वाभाविक घटना है, पर भारतीय सन्दर्भ में 'अकाल वसन्त' है। अकाल प्रसव या 'अकाल वसन्त' को भारतीय मन धूमकेतु सा अशुभ का प्रतीक मानता आया है। यही प्रतिक्रिया आधुनिकता के बारे में भी हुई है।

आधुनिकता-बोध के भारतीय सन्दर्भ में एक और बडी कमी यह रही कि इस का सम्बन्ध रचनात्मक साहित्य से ही रहा। इस के लिए वातावरण और पृष्ठभूमि तैयार करने के लिए इस देश की दार्शनिक चिन्ता आगे नही बढी। दरअसल इस देश में दार्शनिक चिन्ता नाम की वस्तु वैष्णव आचार्यों के बाद लुप्त ही हो गयी है। दार्शनिक अध्ययन-अध्यापन बाक़ी रहा, पर दार्शनिक चिन्तन खत्म हो गया। यहाँ तक कि विवेकानन्द अरविन्द और राधाकृष्णन् भी चिन्तन का आभास मात्र प्रस्तुत करते है या बहुत हुआ तो पुनर्व्याख्या प्रस्तुत करते है—पर 'अस्तित्व' और 'स्वयं' के सम्बन्ध में नये प्रश्न और नये सिरे से प्रश्न उन के द्वारा उठाये नही गये। ये एकाडेमिक हिन्दू दार्शनिक ही रहे—स्वतन्त्र हिन्दू-दर्शन या अन्य स्वतन्त्र दर्शन का इन के द्वारा जन्म नही हो सका। मै यह नही कहता कि यह काम घटिया या कम महत्त्वपूर्ण है। यह महत्त्वपूर्ण है और हमारे जातीय अस्तित्व के लिए सदैव महत्त्वपूर्ण रहेगा। पर यह विकासमान जीवन-प्रक्रिया से तभी संयुक्त हो सकेगा जब कि इस की लीक से हट कर कोई चैलेंज या कोई नया स्वतन्त्र आदर्श आये। कहने का तात्पर्य यह कि जो प्रश्नाकुलता यूरोप के साहित्यिक आधुनिकता-बोध में है, वही दार्शनिक बोध में भी, बल्कि उस के प्रखर रूप में, वहाँ विद्यमान है। यूरोप ने न केवल बॉदलेअर, एलियट और सार्त्र तथा कामू को पैदा किया बल्कि 'स्व' और 'अस्तित्व' के प्रश्न पर चिन्तित अनेक दार्शनिको को भी साथ-साथ उपस्थित किया। कीर्केगार्द, सार्त्र, कार्ल यास्पर्स, बूबर, पाल टिलिच, हसरेल, हीडेग्गर आदि

ईसाई, ग़ैर-ईसाई, आस्तिक-नास्तिक विचारकों का जत्था सर्जनात्मक साहित्य के साथ उभरता है। 'मार्क्स बनाम धर्म' के प्रश्न पर (जो मूलत 'अधिनायक बनाम मानवीय आत्मा' का प्रश्न है) बहुत कुछ सोचा विचारा गया। 'समाज और व्यक्ति', 'मनुष्य और इतिहास' आदि युग्मों के आधार पर भी दार्शनिक चिन्ता ने 'अस्तित्व' का प्रश्न सामने रखा और उस की व्याख्या की। ऐसी दार्शनिक हलचल और ऐसा वातावरण भारत में नहीं दिखाई देता। कहीं-कहीं एकाध फुटकर आवाज़ (यथा, आचार्य रजनीश) इधर-उधर से भले आवे। इस तरह भारत के सर्जनात्मक साहित्य में अभिव्यक्ति आधुनिकता को दार्शनिक चिन्ता के श्मशान में उगना पड़ा, श्मशान में उगी हुई खूबसूरत चम्पा की तरह— भौंरे जा नहीं पाते और खूबसूरती के बावजूद साधारण प्रेमी हिचकता है कि यह श्मशान में उगी है। इसे अन्त में यायावर और औघड़ ही प्यार करेंगे।

यूरोप में आधुनिकता सम्पूर्ण गुम्फ के साथ उपस्थित होती है। नैतिक, दार्शनिक, सामाजिक और ऐतिहासिक चिन्तन साहित्य के साथ-साथ समानान्तर या पृष्ठभूमि में चलता है, इसी से उस का बोध खण्डित या आभासमात्र नहीं होता जब कि भारत में यह खण्डित बोध ही रहता है क्योंकि इस के अन्य आयाम अनुपस्थित हैं। आधुनिकता के सम्बन्ध में थोड़ा-बहुत चिन्तन सर्जनात्मक लेखकों द्वारा ही उपस्थित किया गया है। सम्पूर्ण जीवन को अर्थवान् बनाने वाले आत्ममन्थन का यहाँ भी अभाव लगता है। आधुनिकता के सन्दर्भ में सम्पूर्ण जीवन को वरण न कर के, उस की वर्तमान परत से ही अपनेआप को संयुक्त कर के अनेक लेखकों और कवियों ने नमूना पेश किया है, वह दोहरे रूप में खण्डित बोध को देता है। पहले तो इसे दार्शनिक, समाज-शास्त्री और साधक नहीं मिले, केवल कवि और कहानीकार ही मिले, और दूसरी बात यह कि ये कवि और कहानीकार भी वर्तमान की ऊपरी परत को सम्पूर्ण जीवन

मान कर अपना आधुनिक बोध पेश करते रहे—फलत जो चीज हाथ लगी उस में दोहरा अभाव, दोहरी कमजोरी रही—पृष्ठभूमिगत और स्वयंगत। नतीजा यह हुआ कि आधुनिकता-बोध कोई 'बोध' न हो कर 'शॉक' बना रहा—'ज्ञान' नही, महज एक 'मानसिक धक्का।'

हम कह चुके हैं कि आधुनिकता एक स्वभाव है, संस्कार-प्रक्रिया है या दृष्टिभंगी है। इस के भीतर सही आत्मान्वेषण तब होगा जब 'सम्पूर्ण जीवन' को इस के भीतर रख कर समझा जाये—सम्पूर्ण जीवन में वर्तमान की ऊपरी परत ही नहीं, अतीत भी रहता है। अत. 'अतीत की पुनर्व्याख्या आधुनिकता-बोध के माध्यम से'—यह सर्जनात्मक साहित्य का महत्त्वपूर्ण विषय होना चाहिए। परन्तु केवल डॉ धर्मवीर भारती का 'अन्धा युग' एक अस्तिपक्ष का सबूत है। इस में मैथिलीशरण गुप्त की तरह 'स्वर्ण पुरातन' का मोह नही, अतीत को आधुनिकता-बोध के माध्यम से समझने का प्रयत्न है, और इस प्रयत्न का उद्देश्य है—वर्तमान की पकड को और गहरी और अर्थगर्भी बनाना। पर ऐसी कृतियाँ भारतीय साहित्य में कितनी हैं? 'अन्धा युग' का महत्त्व इसी में है कि इस में अतीत के माध्यम से आधुनिकता का सही बोध प्रस्तुत किया गया है। इस का महत्त्व इस सन्दर्भ में वही है जो छायावादी सन्दर्भ में 'कामायनी' का, उत्तर छायावादी मानववाद के सन्दर्भ में 'कुरुक्षेत्र' का है। 'कामायनी', 'कुरुक्षेत्र', 'उर्वशी' और 'अन्धा युग' प्रयोग की दृष्टि से और अतीत की पुनर्व्याख्या की दृष्टि से समान महत्त्व के हैं। परन्तु क्या 'अन्धा युग' पर ही सन्तोष कर लेना ठीक होगा? यह तो एक उदाहरण भर है। 'महाभारत' की थीम ही ऐसी है कि वह नये अस्तित्व बोध का उपर्युक्त मिथक बन सकती है और कोई सशक्त उपन्यासकार युधिष्ठिर को नायक बना कर, या दुर्योधन को नायक बना कर वह सब कुछ कह सकता है, व्यक्त कर सकता है, जिसे सारे आधुनिकतापन्थी दर्शन व्यक्त कर रहे हैं। आधुनिकता-बोध की यन्त्रणा और महाभारत में व्यक्त मानवीय अस्तित्व को

यन्त्रणा में बहुत कुछ साम्य है। आत्मान्वेषण, आत्मसंघर्ष, आस्वादन के तात्कालिक बोधदर्शन, कुण्ठा, निराशा, अकेलापन, अभिशप्त स्थिति, मूल्यों की पराजय, क्रोध, विद्रोह आदि के लिए इस की 'थीम' में अपार अवसर पड़ा है।

यूरोप के आधुनिकता-बोध की एक मुख्य भाव-भूमि है: 'आत्मा' (या 'मूल मानवीय प्रकृति' या 'स्वयं'—चाहे जिस नाम से पुकारें) और 'आत्मिक गिरावट' या 'आत्मिक मूल्य-विकार'। अर्थात् 'मनुष्य की भीतरी मूल प्रकृति एवं उस की आत्मिक नस्ल खराब हुई है और आत्मा कट-कट कर गिर रही है मानो इसे गैंग्रीन हो गया है'—इस भाव की अभिव्यक्ति यूरोप के आधुनिकता-बोध से उत्पन्न सर्जनात्मक साहित्य में प्रचुर रूप में हुई है। भारतीय साहित्य के सन्दर्भ में इस 'आत्मिक ह्रास' या आत्मिक गिरावट (स्पिरिचुअल डिके) का अहसास आधुनिकता-बोध प्राप्त साहित्यकारों ने बहुत कम या नहीं के बराबर किया है। इस का भी एक बड़ा ही विचित्र कारण है।

यूरोप में आधुनिकता भौतिक समृद्धि और भौतिक शक्ति-सम्पन्नता से उत्पन्न होती है। भौतिक सम्पन्नता के लिए मानवीय और आध्यात्मिक मूल्यों की बलि देनी पड़ी। फलत. भौतिक सम्पन्नता का लक्ष्य रखने वाले जन-समूह को मानवीय मूल्य खोखले और निरर्थक लगे। उन्होंने उन का तिरस्कार कर दिया। इस प्रकार वहाँ के, उसी जन-समूह के अल्पमत यानी संवेदनशील साहित्यकार-वर्ग को लगा वे ऐसे युग में जी रहे हैं जिस में 'भौतिक सम्पन्नता अर्थात् आत्मिक हानि' का समीकरण ही सही है। यूरोप कवि और लेखक को लगा कि यह सौदा घाटे का रहा, या उसे लगा 'आत्मा का सिपाही' होने के नाते वह आत्मिक हानि के खिलाफ लड़ाई छेड़े। फलत वह भौतिक सम्पन्नता को शंका की दृष्टि से देखने लगा (—वर्ड्सवर्थ, रस्किन, कार्लाइल, गेटे, टॉल्स्टाय और एलियट) और यह भौतिक समृद्धि के प्रति शंका विकसित हो कर 'कर्म' के प्रति

शका बन गयी। सारा यूरोप घोर 'कर्म' के नशे मे मत्त था, उस समय कीर्कगार्द अकेले सोच रहा था। बाद में इस अकेलापन की सार्थकता महसूस हुई और यही कारण है कि यूरोप के अनेक कवि-लेखक 'अकर्म' प्रधान बौद्ध-दर्शन की ओर, 'योग' की ओर 'जेन' की ओर मुडे। इस ज्वरग्रस्त कर्मशीलता के बीच में स्थिर शान्त बिन्दु की खोज जारी हुई। 'कर्म' के प्रति शका और अनास्था का चित्र एलियट और डब्ल्यु एच. आडेन के अनेक पद्य-नाटकों में (यथा 'कॉकटेल पार्टी' और 'एसेंट ऑफ़ एफ-६') मिलता है। सारे अस्तित्ववादी साहित्य में 'अकर्म' का दर्शन कही न कही गौण रूप से ही सही, विद्यमान है।

पर 'कर्म' के प्रति ऐसी शका करने का अवसर भारतीय आधुनिकतावादी को नही मिल सकता है। यूरोप की आधुनिकता का जन्म भौतिक सम्पन्नता से होता है, तो भारत में मोहभग, विद्रोह, अनास्था आदि आधुनिकता के संस्कार भौतिक विपन्नता और अभावग्रस्तता से उपजते हैं। वे धनी हैं इस लिए आधुनिक हैं, और हम ग़रीब हैं इस लिए आधुनिक हैं। यह परिवेशगत मौलिक अन्तर आधुनिकता-बोध और मोहभग के दर्शन को बहुत दूर तक प्रभावित करता है। हम देखते हैं कि मनुष्य भूखो मर रहा है और गैरिकवसन और 'गान्धी-टोपी' मौज मार रहे हैं और वे सारे मूल्य जो गैरिकवसन और गान्धी-टोपी से जुडे हैं, हमें कमीने और लुच्चे ज्ञात हुए। इस प्रकार सारे मूल्यों (आध्यात्मिक और राष्ट्रीय आदर्शों) के प्रति हमारा मोहभंग हुआ। अत यहां पर आत्मचिन्तन, आत्मयन्त्रणा नही क्रोध और परम्परा-भंजन के लिए ही उपयुक्त अवसर मिला। यूरोप में यह मोह भंग हुआ—क्रोध नहीं, स्वय पर पश्चात्ताप के रूप से। महायुद्धो में मानवीय मूल्यों की पराजय दिखी— समाज में तथाकथित महापुरुषों का पाखण्डपूर्ण चरित्र सामने आया—'इन सब के लिए दोषी कौन ? स्वयं हम, जो यह सब विश्व-बाजार को दखल करने के लिए या अधिक से अधिक भोग के लिए कर रहे हैं।'

यूरोप को लगा कि उन ने अपनी आत्मा भौतिकता के शैतान के हाथों बेच दी है—ऊपर भरे भोग के लिए। इस प्रकार मोहभंग को पश्चात्ताप और आत्मचिन्तन को जमीन मिली। इस जमीन पर क्रोध से अधिक आत्मयन्त्रणा का अवसर था। इस प्रकार दोनो स्थितियो का मौलिक अन्तर मोहभंग और आधुनिकता-बोध (जिस का एक अश मोहभंग भी है) को प्रभावित करता रहा।

भारतीय सन्दर्भ में 'कर्म' या 'अतिकर्म' को शका की नजरो से देखने का सवाल ही नही उठता है। यहाँ पर तो हम 'कर्म' के अभाव मे पल रहे हैं। जो कुछ हमारा कर्म है, वह हमें एक मुट्ठी अन्न देने में भी समर्थ नहीं—यह 'अकर्म' से भी बदतर है। इस 'कर्म' और 'अकर्म' के बीच निर्जीव जीवन को यत्र तत्र नयी कविता और नयी कहानी में सकेत रूप से यहाँ व्यक्त किया है। पर यह यूरोप की आत्मिक स्थिति से बिलकुल अलग स्वभाव की आत्मिक स्थिति ज्ञात होती है।

यहाँ न केवल आत्मिक स्तर पर, बल्कि सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर भी 'कर्म' और 'अकर्म' के बीच की स्थिति भयानक प्रश्न-चिह्न है। 'कर्म' और 'अकर्म' के बीच जीने वाला कोई जानदार भारतीय युवक जब 'अकर्म' के घेरे को तोडता है, तो वह राजनीति में प्रवेश करता है। पर जैसा कि कहा जा चुका है कि भारतीय राजनीति की ट्रेजेडी यह है कि यह 'शब्द'गत है यथार्थगत या 'अस्तित्व'गत नही। अस्तित्व से इस का कोई ताल्लुक ही नही। पहले यह दोष महज्ञ वामपन्थी चिन्तन का था जिस में 'वाम,' दक्षिण,' 'वर्ग,' 'बूर्जुआ,' 'इतिहास,' 'जनता,' 'समाजवाद' आदि शब्दो का कोई निश्चित अर्थ नही और न वे यथार्थ स्थिति को व्यक्त करते है। वे अवसरानुकूल पार्टी या डिक्टेटर की 'झक' या 'आकाक्षा' को व्यक्त करते है—यथार्थ क्या है, यह व्यर्थ का झमेला है। ठीक यही बात आज 'धर्म-निरपेक्षता', 'प्रगति', 'राजनीति', 'समाजवाद', 'जनता', 'देश', 'मानववाद' आदि शब्दो को ले कर काग्रेस,

सोशलिस्ट, स्वतन्त्र, जनसघ आदि राजनीतिक दल कर रहे हैं। इन का चिन्तन सगुण स्वीकारात्मक और अस्तित्वपरक नही, यथार्थ नही—सब कुछ आँकडो और शब्दो का खेल है। जब भारतीय युवक 'अकर्म' को तोड कर 'कर्म' के नाम विद्रोह करता है, बगावत-दगा-फसाद करता है, जुलूस निकाल कर गोली खाता है तो यह महज अराजकता और अस्तित्व-निरपेक्ष विद्रोह भर हो कर रह जाता है। 'कर्म' की जगह पर 'केआस' की स्थापना होती है। और इस के अप्रत्यक्ष प्रभाव के फलस्वरूप साहित्य में दो चीजें आती हैं—खीझ और अवसाद। आधुनिकता-बोध ले-दे कर इसी खीझ और अवसाद पर चुक जाता है।

तीन अवस्थाएँ होती हैं सृष्टि, स्थिति और प्रलय। 'अकर्म' स्थिति है, तो दिशाहीन-नियमहीन 'विद्रोह' प्रलय। दोनो का अन्त अवसाद और खीझ में होता है। क्या आधुनिकता-बोध का उद्देश्य अवसाद और खीझ ही है? क्या सृष्टि के क्षेत्र में इस की कोई भूमिका नही हो सकती? इस 'अकर्म' को टूटना है। इसे 'कर्म' की ओर उन्मुख होना है। क्या इस दिशा में आधुनिकता की कोई भूमिका हो सकती है? यह बडा ही हठीला सवाल है, जो शरारतवश बार-बार तग करता है, क्या इस दिशाहीन, नियमहीन, विद्रोह और खीझ तथा अवसाद के बीच एक स्वीकारात्मक दर्शन, एक दृष्टिकोण, या एक वेल्तानशाउग (विश्व-दृष्टि) विकसित करने का अवसर मिल सकता है जो 'अकर्म' के घेरे को तोडे और साथ ही सही कर्म की प्रेरणा दे सके?

अकर्म से कर्म की ओर प्रस्थान करने की दो दिशाएँ है . 'ध्यान' और 'विद्रोह'! उक्त प्रश्न का उत्तर ध्यान और विद्रोह के भीतर ढूँढना होगा।

अकर्म को तोडने के लिए 'ध्यान' या 'विद्रोह' को—और आदर्श स्थिति तो होगी 'ध्यान' और 'विद्रोह' को परस्पर पूरक रूप में—अगीकार करना होगा।

इस समाधान पर कुछ विस्तार से सोचने की जरूरत है। छिछले, एकांगी शिक्षित (अशिक्षित कहने में संकोच होता है) या अर्धशिक्षित बुद्धिजीवी जो 'देह ही आत्मा है' में विश्वास करते हैं, भले ही ध्यान को कर्म न मानें, पर 'ध्यान' भी निश्चय ही कर्म है। यदि 'मनुष्य=शरीर' ही नहीं, 'मनुष्य=शरीर+मन+मनातीत (आत्मा)' है तो ध्यान भी निश्चय ही कर्म है। यदि 'मनातीत' को छोड़ कर 'मन' पर भी विश्वास करें तो भी ध्यान एक कर्म है। यदि कविता लिखना एक कर्म है, कहानी का प्लॉट सोचना एक कर्म है, तो ध्यान भी एक कर्म है। यह कर्म की मानसिक और आत्मिक शैली है। विद्रोह शारीरिक, मानसिक और आत्मिक—तीनों शैलियों में व्यक्त होता है, जब कि ध्यान के लिए शारीरिक का अवसर नहीं। विद्रोह भी अपने भागवत पहलू में ध्यान है। कहने का तात्पर्य यह कि भारतीय सन्दर्भ में आधुनिकता को अस्तित्ववाद का अकर्म-प्रधान दर्शन अस्वीकार कर के कर्म-प्रधान दर्शन की खोज (क्वेस्ट) करनी होगी। और यदि कर्म का सतही वरण हुआ तो फिर वही पराजय और दिशाहीनता उत्पन्न होगी जिस के खिलाफ़ कर्म का वरण किया गया है। कर्म का वरण गहरे में उतर कर करना होगा। अर्जुन ने युद्ध का, हत्या का वरण किया पर मन की उस गहराई में उतर कर जहाँ पाप और कुण्ठा का विष नहीं—अनासक्ति है। यहाँ पर भी कर्म का, 'विद्रोह' का, वरण गहराई में, ध्यान में, उतर कर करना होगा, तभी सही कर्म की प्रेरणा मिलेगी। अन्यथा कर्म 'अतिकर्म' या 'अपकर्म' में या निरर्थक कर्म में भटक जायेगा और फिर यह प्रयोग भी उसी भांति असफल होगा जैसे मार्क्सवादी मानववाद द्वारा लायी गयी वर्ग-क्रान्ति। इस से भी मनुष्य का उदय न हो कर नया मोहभंग, नया पाश एवं नयी कैद की सृष्टि होगी। इसी लिए विद्रोह के साथ-साथ 'ध्यान' की भी जरूरत महसूस होती है। ध्यान ही ऐसा कर्म है जिस के द्वारा हम गहराई प्राप्त कर सकते हैं—विद्रोह का वरण सतह पर न कर के मूल

के गर्भ में उतर कर कर सकते हैं। अर्जुन का ध्यान स्थूल भाषा में 'गीता' की संज्ञा से पुकारते हैं और उस ध्यान से जो बोध मिला वह है अनासक्ति और उस से जिस कर्म का वरण उन्होंने किया वह है युद्ध। हमारे कर्म के बारे में तो हमारा आइडिया साफ़ है: विद्रोह। पर वह किस 'बोध' के सहारे हो और कौन सा 'ध्यान' उस बोध को जनम दे सकता है—यही है हमारे लिए 'क्वेस्ट' या 'खोज' की 'थीम,' हमारी अनुसन्धान-यात्रा की मंज़िल यह अकर्मप्रधान अस्तित्ववाद के आगे का चरण होगा। तथ्य तो यह है कि अस्तित्ववाद ने भी कामू के माध्यम से अपनी अकर्म की स्थिति को तोड़ कर विद्रोह का दर्शन वरण कर लिया है।

यहीं पर 'यायावर बनाम संन्यासी' का प्रश्न आता है। यहीं पर 'गैरिक वसना' वाणी का महत्त्व ज्ञात होता है। आधुनिकता यायावर को, रस के आखेटक को, रस के 'लोफ़र' को भी, स्वीकृत करने को तैयार है—बल्कि ये ही उस की सभा के राजगन्धर्व हैं, परन्तु संन्यासी को देख कर वह हिचकती है। सबूत है 'आँगन के पार द्वार' का आधुनिकता-पन्थी आलोचकों के द्वारा तिरस्कारपूर्ण स्वागत। परन्तु मुझे लगता है कि यह तिरस्कार बहुत सही दृष्टिकोण नहीं। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो यायावर और संन्यासी शैली के हिसाब से दोनों एक ही हैं। ये दोनों ही नील आकाश-तले विचरते हैं, गिरती वर्षा, बरसती धूप का पान करते हैं; मुक्त और स्वच्छन्द रहते हैं; भीख लेते हैं। लोफ़र से यायावर, यायावर से संन्यासी, यह तो शुभ का आरोहण है, एक विकास है, अवरोहण या दुर्गति नहीं। हाँ देखना यह है यह संन्यासी-भाव ईमानदार है या आरोपित। अर्थात् वह लोफ़र और यायावर के दोषों की आत्मिक यन्त्रणा से हो कर फूटता है या नहीं, वह 'स्व' के द्वारा भोगा गया फ़र्स्ट हैण्ड है या बाहर से लिया हुआ आरोपित सेकेण्ड हैण्ड है। इस बात की जानकारी के लिए कोई कसौटी नहीं, पाठक या आस्वादक की अनुभव-क्षमता

के अतिरिक्त। संन्यासी-भाव आधुनिकता का ही एक आयाम है। संन्यासी-भाव के सारे संस्कार गहरे आत्मिक बोध (डीप स्पिरिचुअल एक्सपीरियंस) के रूप में आते हैं। यहाँ 'आत्मिक' (स्पिरिचुअल) को हम धार्मिक या आध्यात्मिक घेरे के बाहर 'मनातीत' (शरीर और मन के प्रवाहों के आगे) के तटस्थ अर्थ में लेते हैं 'आत्मा' शब्द पुराना होने से सदैव धर्म या अध्यात्म की ओर संकेत देता है। पर और कोई शब्द भी नहीं है जो 'मनातीत' को व्यक्त कर सके। यह कठिनाई है। . धार्मिक अनुभूति भी मनातीत आत्मिक है और वह आधुनिकता-बोध में अपने शुद्ध निर्विकार रूप में (जैसा 'फोर क्वार्ट्रट्स' में व्यक्त है) उसी तरह स्वीकृत है जिस तरह अन्य तटस्थ (न्यूट्रल) मनातीत अनुभूतियाँ। उदाहरण के लिए अनासक्ति एक ऐसी 'मनातीत' मन स्थिति है जो धार्मिक हो भी सकती है, नहीं भी। अपने शुद्ध रूप में यह तटस्थ ही रहेंगी।

लोफर-मन उस अवस्था में जाग्रत् रहता है जिस में चरम लक्ष्य है—ऐहिक आस्वादन, नैतिकता-निरपेक्ष ऐहिक आस्वादन। 'आस्वादन' ही उस का लक्ष्य है। यायावर अवस्था में आस्वादन लक्ष्य नहीं साधन है। आस्वादन के माध्यम से वह शेष मूल्यों से 'मुक्ति' खोजता है। सन्यासी-अवस्था में इस आस्वादन से भी वह मुक्त है। आस्वादन से मुक्ति का अर्थ होता है—अपने से भी मुक्ति। यायावर-अवस्था में वह रस-प्रवाह के आवर्त चक्र पर घूर्मित है—पर सन्यासी-भाव-बोध की अवस्था में वह आवर्त-चक्र के छल्लों पर घूमते-घूमते केन्द्र-विन्दु पर पहुँच गया है जहाँ एक ही विन्दु पर वह घूमता है और वह शान्त पर गतिहीन विन्दु है। यहाँ वह क्वेस्ट या खोज का बोध प्राप्त कर लेता है। एलियट के 'फोर क्वार्ट्रट्स' की अन्तिम कविता में यही विन्दु व्यक्त है। अतः यह ध्यान-योग नयी कविता में वहिष्कृत नहीं। वहिष्कृत है वह बोध जो महज पुरानी शैली का आरोपण है। जिस बोध के पीछे कोई नयी आत्मिक यन्त्रणा, प्रश्न का दर्द और दर्द से उद्भूत शान्त केन्द्र की

अनुभूति हो—जिस में आत्माभिमान का दर्द और दर्द का आत्मदान में निर्वाण हो, यह आधुनिक बोध है। 'तेरे घर के द्वार बहुत हैं किस से हो कर आऊँ मैं' (गुप्त जी) आधुनिक-बोध नहीं, पुराने टैगोरी-बोध का आरोपण है। परन्तु यह 'दीप अकेला गर्व भरा मदमाता . .', 'आज तुम शब्द न दो, न दो ' या 'मतिमाता सागर लहराया ...' आदि में स्वयं 'स्वय' से मुक्ति, 'अहं' के मारना तथा अस्तित्व' का समर्पण आदि अपने पीछे उलझी अर्थगर्भी प्रक्रिया की परत पर परत समेटे चलते हैं। संकेत इतने समृद्ध हैं कि इन की पृष्ठभूमि में गहरी आत्म-यन्त्रणा की अनिवार्य उपस्थिति का स्पष्ट भान हो जाता है। इन्हें कोई नहीं कहेगा कि ये आधुनिक नहीं। 'आँगन के पार द्वार' की टाइटिल-कविता तथा शब्द, मौन और अस्तित्व को ले कर लिखी गयी कविताएँ समृद्ध आत्मिक प्रक्रिया की उपज हैं। 'असाध्य वीणा' का आधुनिकता बोध कमजोर लगता है। पर इस का कारण बहुत कुछ इतिवृत्तात्मक कथावस्तु है। यदि ध्यान के माध्यम से सिर्फ यही बोध होता है कि मै वामन हूँ, यतीम हूँ, इस 'अस्तित्व' के क्रूर चक्र के नीचे चूहे जैसा दुबका हूँ तो दरअसल यह एकहरा बोध है। ध्यान के माध्यम से सम्पूर्ण बोध वही है जो ऊपर के बोध के साथ-साथ एक पूरक बोध भी दे कि मैं वामन के साथ-साथ विराट् भी हूँ—मौक़ा पडने पर मेरे अन्दर का त्रिविक्रम पुरुष भी सामने आ सकता है, चूहा तो नॉर्मल अवस्था में हूँ पर चरम स्थिति में विनायक भी हूँ। ऐसे बोध वाला ध्यान निश्चय ही 'कर्म' है—कर्म का सही और गहरे में वरण है। ऐसा बोध जो ध्यान प्रदान करे वही श्रेयस्कर है, क्योंकि यह बोध हमें कर्म के मोरचे पर ला कर खडा कर देता है।

जिस तरह सही युद्ध अनासक्ति से लडा जाता है, वैसे ही सही विद्रोह ध्यान से संयुक्त होता है। यह ध्यान सारे जनसाधारण के अन्दर भी प्रस्फुटित हो, ऐसा मानना व्यावहारिक नही होगा। महाभारत की लडाई में प्रत्येक सिपाही अर्जुन वाली अनासक्ति से लड रहा था, ऐसा मानना

आधारहीन तथ्य होगा। विद्रोह तो जनसाधारण के द्वारा चालू होगा ही—जैसे लडाई अकेले सेनापति द्वारा नही—सम्पूर्ण सेना द्वारा ही लडी जा सकती है। परन्तु वह बुद्धिजीवी अल्पमत, जो विद्रोह का नियमन या वातावरण का सर्जन करेगा, यदि विद्रोह के मूल्यो की गहरी पहचान से सम्पृक्त रहेगा तो विद्रोह के लक्ष्य पर (वह लक्ष्य और कुछ नही मनुष्य है) पहुँच पावेगा अन्यथा नही। मूल्यो की इस गहरी पहचान के लिए आरोपित किताबी थ्योरियाँ, यूटोपिया नही, ध्यान का माध्यम ग्रहण करना होगा। 'ध्यान' का अर्थ यहाँ पर बिलकुल ही तटस्थ किस्म का है। 'ध्यान' का सीधा-सादा अर्थ है—'स्व' के और अगल-बगल के सम्पूर्ण 'अस्तित्व'-बोध (यथार्थ मानवीय स्थिति का बोध) से सम्पृक्त मन द्वारा मूल्यों की निजी खोज (क्वेस्ट) और निजी उपलब्धि। सम्पूर्ण अस्तित्व-बोध के अन्दर अतीत और वर्तमान तथा भविष्य तीनो आ जाते है। वर्तमान के हरेक क्षण में अतीत 'स्मृति' के रूप में तथा भविष्य 'सम्भावना' के रूप में रहता है। अत स्मृति, वर्तमान अस्तित्व और सम्भावना—तीनो के गुम्फ को सम्पूर्ण अस्तित्व कहते है। 'निजी खोज' से मेरा तात्पर्य है—पूर्व आरोपित थ्योरियो से निरपेक्ष और भिन्न ढंग से आत्मचिन्तन। ऐसे ध्यान के द्वारा सम्पृक्त मन यदि कर्म (जो विद्रोह हो या युद्ध हो) में प्रवृत्त होता है, यदि कर्म वातावरण-सृजन और नियमन करता है तो वह कर्म कभी भी 'अपकर्म' नही बनेगा।

विद्रोह को सदैव सगुण रूप में देखना चाहिए। यह मनुष्य की आत्मा का प्रधान गुण है। पर आज तक लोग विद्रोह और क्रान्ति में भेद नही करते है। परन्तु दोनो में सूक्ष्म भेद है जिसे कामू ने अपने विद्रोह-दर्शन में व्यक्त किया है। क्रान्ति थ्योरियो, निर्गुण (ऐब्स्ट्रैक्ट) सिद्धान्तो और अस्तित्व (तात्कालिक मानवीय स्थिति) से निरपेक्ष निर्गुण शब्दो पर आश्रित रहती है। इस क्षण-क्षण परिवर्तित देश-काल के परिवेश में, जब कि यह जानना मुश्किल है कि अगले क्षण का 'अस्तित्व' कैसा होगा,

एक सार्वकालिक यूटोपिया और सार्वकालिक मूल्य-पद्धति का दावा पेश करना और उस दावे के आधार पर क्रान्ति लाना अन्त में जा कर आत्म-प्रवचना ही सिद्ध होता है। सबूत हैं इतिहास में आयी हुई क्रान्तियाँ, जिन का उपसंहार मोह-भंग के रूप में हुआ है। अत हमें इस निर्गुण विधा को छोड कर विद्रोह की सगुण और तात्कालिक विधा को अपनाना होगा तब मोहभंग या निराशा को कम अवसर मिलेगा। विद्रोह सगुण और तात्कालिक समस्या पर ध्यान देता है तो क्रान्ति भविष्य की निर्गुण यूटोपिया पर। दोनों की कार्य-प्रणाली में इसी से भेद हो जाता है। अन्न के ठीक से वितरण की समस्या, भूमि-समस्या, वेतन और बोनस की समस्या, गोली-काण्ड पर जांच को समस्या आदि सगुण और तात्कालिक समस्याएँ हैं—इन्हें ले कर 'विद्रोह' किया जाये तो अधिक कामयाबी होगी और इस में मोह-भंग का अवसर नहीं। यही कारण है कि समाजवादी आन्दोलन के इतिहास में मजदूर-वर्ग के लिए जन-क्रान्तियों से अधिक लाभदायक हुआ है ट्रेड-यूनियन-मूवमेंट। क्योंकि ट्रेड-यूनियन-मूवमेंट की समस्याएं सगुण और तात्कालिक रहती हैं। पर इस का तात्पर्य यह नही कि विद्रोह-दर्शन में जन-क्रान्ति को स्थान नहीं। जन-क्रान्ति यदि सगुण और यथार्थ स्थितियों को दृष्टिगत रख कर हो तो भी वह वृहत्तर विद्रोह ही है। परन्तु जन-क्रान्ति का आधार सात समुद्र पार उन्नीसवी शती में लिखी गयी कोई किताब हो तो वह जन-क्रान्ति नही, वह धोखे की टट्टी का शिकार है। यह ऊपर से आरोपित क्रान्ति होगी, क्योंकि इस के जन्म की भूमि सगुण और यथार्थ 'अस्तित्व' नही। इस लिए यह सफल-असफल दोनों हालतों में जोर-जबरदस्ती और अत्याचार पर ही निर्भर रहेगी। चीन में ऐसा ही हुआ है। इधर भारत में कुछ छोटे-छोटे 'विद्रोह' हुए हैं। परन्तु खेद है कि उन में अराजकता की भी मिलावट हो गयी थी। विद्रोह और अराजकता में भी अन्तर होता है। अराजकता महज ध्वंस, रस-लोभ के लिए की

जाती है, परन्तु विद्रोह 'कुछ' या 'किसी' सगुण तथ्य के लिए ही हो सकता है। यह महज मौज-शौक के लिए, व्यसन के लिए नही होता।

वर्तमान विद्रोही राजनीतिज्ञो में डॉ राममनोहर लोहिया का विद्रोह-दर्शन बहुत-कुछ सगुण और तात्कालिक स्थितियो पर आश्रित है जैसे—रेलवे का तीसरा-क्लास, अँगरेजी बनाम हिन्दी, सस्ता खाद्य, गरीबी, वग़ैरह-वग़ैरह। उन की आंकडा-परस्ती सगुण है, यथार्थ स्थितियों के भीतर आंकडों का मूल्यांकन करती है। इसी से मैं उन के चिन्तन को 'अस्तित्व'-परक मानता हूँ शब्दपरक नही। परन्तु जितना ही यह सन्तोष की बात है, उतना ही खेद की बात है कि उन के दल में विद्रोह और अराजकता का भेद समझने वाले बहुत कम हैं। और कभी-कभी तो व्यवहार में उन का दल ठीक उस का उलटा करता है जो डॉ लोहिया कहते है। डॉ लोहिया जातिवाद के घोर शत्रु हैं, जैसा कि आज का कोई ईमानदार बुद्धिजीवी होगा, पर ज़िला-स्तर की राजनीति में उन के शिष्य-प्रशिष्य भी इस जाति-भाव का उतना ही उपयोग करते हैं, जितना और लोग। सिद्धान्त के लिए जिस गहरे बोध और ध्यान-योग की जरूरत है उस की ट्रेनिंग गान्धी जी ने अपने शिष्यो को दी थी। इसी से कहा जाता है कि उन्होंने मिट्टी से जानदार आदमी पैदा किया। गान्धी जी ने व्यक्ति दर व्यक्ति सम्पर्क द्वारा अपने 'बोध' का वितरण किया; महज वचन का ही नहीं 'बोध' का भी! यह वितरण डॉ लोहिया या आज का कोई विद्रोही विचारक नही कर पा रहा है। 'वचन' का वितरण चल रहा है, पर 'बोध' का वितरण 'ध्यान' की ट्रेनिंग, जिस के लिए शायद आज के घोर ज्वरग्रस्त क्षुब्ध राजनीतिक वातावरण में समयाभाव भी है, आज का कोई राजनीतिज्ञ नही कर पा रहा है। यह हमारे 'स्थापित' और 'विद्रोही' दोनों चिन्तन-पक्षो की कमजोरी है।

मैं कुण्ठाहीन भाव से स्वीकारता हूँ कि मैं हिन्दू हूँ। मेरी धारणा है कि अपनी पैदाइश को, अपने बाप को, वही इनकार करता है जिस के मन

में चोर छिपा होता है, जो भीतर ही भीतर किसी हीनता ग्रन्थि से पीड़ित होता है। हिन्दी साहित्य और भारतीय साहित्य में ऐसे लोग काफ़ी हैं और मैं उन की नाराजगी की परवा भी नहीं करता हूँ। पर सवाल उठता है . क्या हिन्दू रहते हुए भी कोई आधुनिक हो सकता है? मेरा हठ नहीं है कि मुझे आधुनिक माना जाये, पर इस सवाल का मुझे जवाब देना होगा तो कहूँगा · "हाँ, निश्चयपूर्वक हाँ।" यदि ऑडेन, एलियट ईसाई होते हुए भी साथ ही साथ आधुनिकता बोध-सम्पन्न हो सकते हैं तो फिर मैं हिन्दू होते हुए भी क्यों नहीं कोई आधुनिकता-बोध अर्जित कर सकता? हाँ, हिन्दू से मेरा तात्पर्य मनुस्मृति के आचार्यों का चमरौधा जूता ढोने वाला हिन्दू नहीं, मेरा तात्पर्य 'नये हिन्दू' से है। राममोहन राय पहले 'नये हिन्दू' थे।

आधुनिकता-बोध की प्रधान शर्त है—'स्व' की एकान्त और निर्विकार स्वीकृति। 'स्व' मनुष्य के आन्तरिक, मानसिक और मनातीत संस्कार-प्रवाहों का समवाय है। इसे हम कामचलाऊ ढंग से 'आत्मा' भी कह सकते हैं। यह स्वीकृति निर्विकार यानी लाभ-हानि आदि स्वार्थपूर्ण चिन्तन से निरपेक्ष होती है। अन्यथा यह स्वीकृति ध्यान और विद्रोह की सहायक न हो कर 'लेसे-फेअर' बन जायेगी। 'स्व' की गरिमा को ही राजनीति की भाषा में व्यक्ति की गरिमा कहते हैं, जो प्रजातन्त्र की आधारशिला है और अधिनायकवाद या निर्गुण यूटोपिया-आश्रित क्रान्ति इसी गरिमा का हनन करना चाहती है। विद्रोह-दर्शन इसी गरिमा को स्वीकृत करने के लिए ध्यान का सहयोग वरण करता है। कोई भी ऐसी व्यवस्था, कोई ऐसा बोध, कोई भी ऐसा सिद्धान्त जो 'स्व' के इस निर्विकार रूप को अस्वीकृत करता है, अत्याचार और अमानुषिकता की भूमिका तैयार करता है। 'अस्तित्व' को (सगुण मानवीय स्थिति को) समझने के लिए भी यही 'स्व' का माध्यम आवश्यक है। . जहाँ तक हिन्दू जीवन-दर्शन का सवाल है इस 'स्व' को वह नये-पुराने किसी भी जीवन-दर्शन से

व्यापक गहरे में स्वीकृत करता है। उदाहरण के लिए, हिन्दू जीवन-दर्शन
में विद्रोह को त्याग की शैली में व्यक्त किया गया है क्योंकि त्याग
भोग की परिपाटी से विद्रोह है. अत. त्याग भी एक तरह का विद्रोह ही
हुआ। और इस त्याग-दर्शन को एक सामाजिक दायित्व के रूप में
'महाभारत' (१,११५,३६) के एक श्लोक में बडी ही सटीक अभिव्यक्ति
दी गयी है.

"त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुल त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवी त्यजेत्।"

"परिवार के लिए एक व्यक्ति का त्याग कर देना चाहिए, उसी
भाँति ग्राम के लिए परिवार और जनपद के लिए ग्राम का—परन्तु
आत्मा के लिए सम्पूर्ण पृथ्वी का त्याग कर देना उचित है।"

यहाँ 'आत्मार्थे पृथिवी त्यजेत्' में 'स्व' गरिमा और अस्तित्व की
गहरी स्वीकृति है। 'आत्मा के लिए पृथिवी का त्याग कर दो' का अर्थ
यह नही कि व्यक्ति के क्षुद्र स्वार्थों के लिए दुनिया के स्वार्थों का वलिदान
कर देना चाहिए। यदि इस का यह अर्थ निकाला जाये तो श्लोक के शेप
अंशो में खप नही पायेगा। श्लोक के चारो चरणो में महान् के लिए लघु
का त्याग करना वताया गया है। 'एक से वडा है परिवार, परिवार से
वडा है ग्राम, ग्राम से वडा है जनपद, परन्तु आत्मा पृथिवी से भी महान्
है।' यह आत्मा विकारग्रस्त व्यक्ति नही। वल्कि यह व्यक्ति के अन्दर
निहित वह 'स्व' है जो उस के लाभ-हानि वाले पहलू से परे स्थित है, जो
उस की आन्तरिक, मानसिक और मनातीत शक्तियो और संस्कारो का
समवाय या समाहार है, जिस के माध्यम से वह दया-माया, प्रेम और
सौन्दर्य-वोध को अनुभूत करता है। मैं यह मानने के लिए तैयार नही कि
हम मन के जिस स्तर पर वैंक वैलेंस या वोनस-वेतन का चिन्तन करते
हैं, लोभ-लालच का आस्वादन करते है, उसी स्तर पर हम शील,
सौजन्य, करुणा आदि का भी वोध करते हैं। ऐसा सोचना असंगत है।

'आत्मा' का यहाँ पर सीधा-सादा अर्थ यही हुआ—व्यक्ति के अन्दर का वह 'स्व' जो उदात्त भावो के परिवेश में ही सक्रिय होता है, जो दर्शन-कला और साहित्य का सृजन तथा उपभोग करने की क्षमता रखता है, जो निर्विकार है। यह 'आत्मा' बिलकुल अकेले रहती है। यह अकेलापन निर्वासन नही। यह नित्य अकेलापन है जो कवि या दार्शनिक के बोध की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। हिन्दू जीवन-दर्शन इस अकेलेपन को निर्वासन के शाप के रूप में न स्वीकृत कर के 'स्व' की नित्य अवस्था या आत्मा के स्वभाव के रूप में स्वीकृत करता है। इसी से वह अकुण्ठित भाव से 'आत्मार्थे पृथिवी त्यजेत्' का आदर्श उपस्थित करता है। इस आदर्श के परिवेश में जीने वाले आदमी को आधुनिकता-बोध के अर्जन में इस आदर्श से सहायता ही मिलेगी, कठिनाई नही होगी। साथ ही साथ वह घोर क्षुद्र व्यक्तिवाद ('लैसे फेअर') का भी शिकार नही होगा। उक्त श्लोक के मर्म को मैं ने इसी रूप में समझा है। मुझे लगता है, ठीक से हिन्दू होना आधुनिक होने में सहायक है, बाधक नही।

शिशु-वेद

किसी-किसी रविवार को देहात घूमने निकल जाता हूँ। आँखे तो सुख
पाती ही है, इस निरन्तर उत्तेजित मन को भी आराम मिलता है और
तव यह विक्षिप्त-प्राण-सरपट की जगह बडी मौज से कदम-ताल चलता
है। गत रविवार को भी हवा और हरीतिमा के चाक्षुष-यज्ञ का दृष्टि-स्वाद
लेने के लिए ही मैं निकला था। परन्तु प्रारम्भ से ही कुछ मिजाज ऐसा
रहा कि सारा पथ मैं चिन्तालग्न ही रह गया। मुक्तमन से भर नजर कही
भी दृष्टि-सुख नही ले पाया। मन को जरा भी फुरसत नही मिली। मै
चिन्ता करता जा रहा था कि हमारे दशक में या हमारी अर्ध शताब्दी में
विश्व का पुनर्जन्म हो रहा है, धरती पुन शिशुता की ओर लौट रही है।
विविध सामूहिक आन्दोलन और नयी राजनीति इस तथ्य का साक्ष्य दे रहे
हैं। प्राय· नये साहित्य में पुराने के प्रति मोहभंग (और इस पुराने में
क्लासिकल मार्क्सवाद भी आता है) और साथ ही शिशुता-सम्पृक्त उद्दा-
मता और उच्छृंखलता, कभी-कभी सहजता की भी प्रवृत्तियाँ मिलती हैं।
नव-मनोविश्लेषण पर आधारित शिशु-सुलभ भय और कौतुक के काव्य-
बिम्ब एवं आकृत्रिम शिशुवृत्तियो पर आधारित पॉल वालेरी या अतिवास्तव-
वादी (सुररियालिस्ट) चित्रकारो की कृतियाँ तथा सभ्यता के शिशु-स्तर
पर स्थित लोकधर्मी गीतनाट्य और कथा-परम्पराओ पर आधारित ब्रेख्त
के नाटक इस बात के प्रमाण हैं कि धरती रोमैंटिक कैशोर्य और बुद्धि-
वादी प्रौढता से समान रूप में ऊब गयी हैं और पुन. उस का मन बचपन
के लिए लालायित है। हाँ, कभी-कभी ऐसे भी उदाहरण सामने आते हैं

जिन में शिशुओं की तरह निस्संकोच मलमूत्र-त्याग के समकक्ष की चीजें भी मौजूद हैं, जहां फूहड़ता के प्रति एक रूमानी आग्रह का भी सन्देह होता है। और तभी मन में सन्देह होता है कि यह शिशुधर्मी व्यवहार असल नहीं है। यह युग के किसी मनोविकार का प्रतीक है। क्या यह सचमुच सम्भव है कि इतनी दूर आ कर भी सभ्यता एकाएक आदिम और शिशुधर्मी बन जाये ? क्या ऐसी स्थिति-स्थापकता या रबर वृत्ति सम्भव है ? एक ओर तो यह शताब्दी गृध्र जैसी शिकार-निबद्ध अपलक दृष्टि से देख रही है, इस का पलक-पात होता ही नहीं। दूसरी ओर आंखें मूंद कर शिशुओं जैसा बाल-स्वप्न देखने के लिए भी लालायित है। यह कैसे सम्भव है कि शताब्दी की एक आंख तो अपलक चक्षु और क्रूर रहेगी और दूसरी ओर रहेगी निर्मल निष्पाप और स्वच्छ। यह द्वैत स्वभाव एक ही साथ कैसे सम्भव है ? दोनों आंखों में एक पुरानी पीढ़ी की दृष्टि और दूसरी को नयी पीढ़ी को मान लेना एक सीधा परन्तु भ्रामक और पक्षपातपूर्ण समाधान है। शताब्दी की पुरानी और नयी दोनों पीढ़ियों में यह द्वैत स्वभाव समान रूप से विद्यमान है। बालखिल्यों और नव्य-मार्क्सवादियों के चेहरे पर भी ये दो आंखें साथ-साथ मौजूद हैं। नव्य-मार्क्सवाद एक विकृत फैंटेसी है। फर्क यही है कि क्लासिकल मार्क्सवादी या शेली का मुक्त प्रमथ्यु तो नव्य-मार्क्सवाद सीधे-सीधे बायरन का डॉन जुआन है। पर ये दोनों रूमानी आवेग मात्र हैं। ये दोनों समान रूप से लोभ-प्रवण तथा स्वार्थी हैं। और लगता है कि इन की सारी बातें यथा नवजन्म, नया मन्वन्तर, सभ्यता का पुनरारम्भ आदि की घोषणाएं पुरानी धप्पाबाजी और अवसरवाद के ही बहुरूपी चेहरे हैं। इस तरह ऐसी बहुत सी आंकी-बांकी, आड़ी-खड़ी बातें मन में आती रहीं और यह क्रिया तब तक चलती रही जब तक मैं एक बस्ती के प्रतिवेश में नहीं पहुँच गया। और तब मुझे देख कर भैंसे रंभाती हुई भाग खड़ी हुईं, दो कुत्ते अचानक भूंकने लगे, एक बूढ़ा टकरा गया और मेरी आंखों को

लक्ष्य कर अग्निदृष्टि से ताकता हुआ कहता चला गया और मैं ने सावधान हो कर देखा कि अब एक बुढ़िया से भी टकराने हो वाला हूँ और शायद टकराता तो सात पुश्तों का सन्दर्भ दे कर उच्चारित की गयी एक दुर्गा-सप्तशती सुनने को मिलती जिसे मैं आज से बीस वर्ष पहले पीछे से कंकड फेंक कर किसी वृद्धा के मुख से अकसर सुनता था। उस श्रवण-सुख को पाये तो बहुत दिन हो गये। अब तो 'तेहि नो दिवसा गता'। महिषासुर की दो-तीन बेटियाँ कुछ दूरी पर ऊर्ध्वग्रीव हो खडी-खडी मेरी तरफ आरक्त चक्षु से देख रही थी, कुत्ते लगातार भूँके जा रहे थे, बूढा स्वस्ति-वाचन कर ही चुका था। अत' मैं ने सोचा कि अब आगे जाना ठीक नही है और यही इस पीपल के नीचे खडा हो जाऊँ और कबड्डी खेलते बच्चो की ओर देखूँ जिस से विकराल सीग वाली दानव पुत्रियाँ एव क्रुद्ध श्वानों को भी तसल्ली हो जाये कि मैं बुरा आदमी गुप्तचर या पचमागी नही हूँ बल्कि उन का अपना आदमी ही हूँ और मैं चोर की तरह खड़ा नही हो रहा हूँ, बल्कि बेपरवाह, मस्त, 'सांच को आँच क्या' वगैरह की शैली में उन के गाँव के बाहर पीपल के नीचे विश्राम कर रहा हूँ इस विश्वास के साथ कि अगले ही क्षण मेरी बान्धवी महिष-कन्याएँ एव मेरे बन्धु श्वानगण अपनी भूल को समझ कर मन ही मन लज्जित होगे और अपने दुर्व्यहार पर पछतायेंगे। इस प्रकार मैं भयभीत हृदय होते हुए भी कुत्तो की ओर देख-देख कर मुसकराता हुआ निर्भयता का नाटक करता हुआ बच्चो की कबड्डी देखने लगा। यद्यपि कलेजा धक-धक-धक कर रहा था।

मैं ने देखा कि एक द्रुत-पग एवं स्फूर्त-प्राण बच्चा ताल ठोक कर सामने आ रहा है और अपनी दुबली बाँह को अभिनय-मुद्रा में प्रस्तुत करते हुए बढा रहा है और विपक्ष लपक-लपक कर रह जाता है।

> बाँस कइनियाँ लचालची
> कौन वीर मोर भुजा धरी। (कइन = कंछी या टहनी)

उस के लौटते ही चोल-वेग से प्रतिपक्ष का कोई आता है और अत्यन्त द्रुतलय से पटता निकल जाता है .

हँडिया में गरई फड़कल करो
कौन वीर मोर जघा घरी (गरई = मछली)

तो तीसरा आ कर ललकार रहा है एव एक अद्‌भुत रहस्यवादी शिशुवेद की ऋचा बोल कर लौट जाता है

पीपल का पत्ता
वरैया का छत्ता
"जले आधी रात, जले आधी रात, जले आधी रात"

वह वीर जैसा कि कबड्डी या बरगत्ते का नियम है, बिना साँस तोडे ही दम बाँध कर बोलता जा रहा है 'जले आधी रात, जले आधी रात. .' और जब साँस टूटने को होती है तुरत पीछे मुड कर लौट आता है । अब चौथा वीर आ रहा है । वह उपर्युक्त तीनो की अपेक्षा कुछ चालाक लगता है । उस ने ऐसे बोल का आविष्कार कर लिया जिस के वाचन में ही श्वास-प्रश्वास दोनो क्रियाएँ आंशिक रूप से अपनेआप घटित होती हैं अत औरो की अपेक्षा उसे दम बांधना अधिक आसान है । वह लगातार बोलता जा रहा है, दो शब्द, 'आम छू, आम छू, आम छू, आम छू ' और दस-बीस आवृत्ति के बाद स्वाद परिवर्तन के लिए 'अमवा घवद छू' 'कौडी झनक छू' या 'कौडी बदाम छू' बोल देता है । इस तरह और लोगो से तिगुने समय तक वह पढता हुआ हाथ-पाँव चलाता हुआ, इस समर-भूमि में विचरण करता हुआ फिर लौट जाता है । यह लडका जरूर कायस्थ होगा, नही तो भूमिहार । इस के बाद एक मोटे-ताजे वीर का आगमन होता है और वह 'अहीर भैरव' घोष में हुडकता हुआ प्रतिपक्ष को भयभीत करता हुआ हूँ' की हुँकार के साथ प्रवेश कर के बढता है, परन्तु रहता है बिलकुल 'गाँग' के पास ही । प्रतिपक्ष के नजदीक नही जाता है—

कबडूडो लबडूडो, पाताल हहराऊ
चील,कौए हांक दे वाघ लड आऊँ।

तत्पश्चात् किसी घोडचढवा चौधरी का छरहरा गोरा बेटा नंगी तलवार की तरह बढ़ता निकल जाता है :

"चल भाई चुल्ली चल भाई चाल
घुंघरू घोड़े की नाल
घुंघरू घोड़े की नाल .. ..।" (चुल्ली—शरारती)

यह सब चल ही रहा था कि उधर कन्धे पर लट्ठ लिये एक प्रौढ वय का खिलाड़ी गुजरता है और लड़को के खेल को देख कर उस का मन भी लहरा उठता है और वह युवकों की कवड्डो का एक बोल दूर से ही ललकारता है—

"चल कवड्डो रेता, भगत मोर बेटा
भगताइन मोर जोडी, खेलब हम होरी।"

इस के पूर्व की शिशु-वेद की ऋचाएँ तो हास्य, वीर और अद्भुत रस से ही सम्बन्धित थीं। उन के बीच यह आदिरस (शृंगाररस) के बोल का धृष्ट हस्तक्षेप कुछ जमा नही। शिशुवेद में आदिरस वर्जित है। यद्यपि बंगाल के शिशुवेद में कवड्डी के विविध बोलों में एक अत्यन्त लोकप्रिय बोल है—

"आता गाछे तोता पाखी
डालिम गाछे मऊ
कथा कओ ना वऊ
-(शरीफे के पेड पर तोता
दाड़िम के पेड़ पर मधु
कुछ बात करो ना, वधू।)"

और प्रतिपक्ष का उत्तर होगा—

कथा कइबो कोन छले

कया कहते गात जले
-(बात करूँ किस छल से
बात करूँ तो अग जले ।)

यह सीधे-सीधे मान-भजन का काव्य है । आश्चर्य होता है कि कवटो और समर-भूमि में भी श्याम, राधिका और चण्डीदास है । पूर्वी पाकिस्तान बन गया और वहाँ पर चण्डीदास को फांसी का हुक्म हुआ तथा रवीन्द्रनाथ को निर्वासन का, तो बगाली मर-मिटने को तैयार । बगाल का मन ही कुछ ऐसा है कि चण्डीदास और उज्ज्वल नीलमणि की भाषा वह कहीं भी नहीं भूल पाता है । अन्यथा शिशु-मन और शिशुवेद में शृगार रस और मान-भजन को कोई स्थान नही । यों शिशु कभी-कभी मचलता भी है और कभी-कभी उसे फुसलाया भी जाता है 'लाल-पीली कन्या' का नाम ले कर । वह भी कहता है—'मां मुझे एक लाल-पीली बहू ला दे' । परन्तु यहां पर भी कोई शृगार रस नही । 'लाल-पीली वहू' एक शुद्ध 'अद्‌भुत' रस है उस के लिए जैसे उस की लाल-पीली पोशाके या उस की रग-बिरगी दुनिया जिस में बन्दर, पिल्ले, बिल्ली, सुग्गा आदि एक से एक सुन्दर प्राणी है । 'सुन्दर' माने ही 'अद्‌भुत' और रंग-बिरंगी । शिशु के लिए सुन्दर माने चन्द्रमुख एव पद्म पलाशलोचना नही । नारी का तो एक ही रूप वह जानता है और वह उस की अपनी मां और कुछ-कुछ उस की सयानी बहन जिस का वात्सल्य भी मातृवत ही रहता है । वास्तव में बहन, काकी, मौसी आदि को इसी मां के रूपान्तर के रूप में ही वह ग्रहण करता है । मां चाहे काली-कलूटी हो या नाटी-खोटी हो, उस को ही वह परम सुन्दर मानता है । वही उस की दृष्टि में सब से सुन्दर नारी है और वह कल्पना ही नही कर सकता कि उस की मां से भी अच्छी कोई और मां हो सकती है । इसी से दार्शनिको ने परमा-प्रकृति की कल्पना त्रिपुर सुन्दरी के रूप में की है । यह प्रकृति सांप, बिच्छू, गोजर, चेचक, गोबर, कीचड वाली होते हुए भी जब हम उस के प्रति शिशुवत् खडे होते हैं तो

यह परम सुन्दर लगती है। आदि शकराचार्य ने परमा-प्रकृति महामाया
के अग-प्रत्यग की वर्णना अपनी कृति 'सौन्दर्य-लहरी' में की है। यह
वर्णना लिबिडो की उपज नही। यह कविता शंकराचार्य के मन में विक-
सित भगवती के प्रति मातृभाव की भूमि से उपजी है। भगवती के सम्मुख
तीन-चार वर्ष के बालक के रूप में अपने मन को समर्पित कर देने पर जो
मनोदशा उपस्थित होगी, उस में कौन सा अग श्लील है, कौन अश्लील,
इस का प्रश्न ही नही उठेगा। एक बच्चा अपनी माँ के सारे अगो को
नित्य देखता है। वह नाभि पर सवार हो कर खेलता है। वह स्तनो को
हाथ में ले कर दुग्धफल की भाँति पान करता है। उसे कही भी अश्ली-
लता और पाप-दृष्टि का भय नही सताता। उस के लिए सारे अग समान
रूप से पुण्यमय, सुन्दर और श्लील है। इसी से बिना किसी सकोच के
भगवती की अनेक मूर्तियाँ नग्न दिखायी गयी हैं।

उस दिन उस क्रीडा-साहित्य को सुनते-सुनते मैं ने अनुभव किया कि मैं
किसी शुद्ध कविता (प्योर पोयट्री) के सम्मेलन में खडा हूँ। शुद्ध कविता
वह कविता है जिस का महत्त्व और प्रभाव अर्थ पर नही बल्कि उस के
काव्यत्व पर अर्थात् बिम्बो और लयात्मक सम्बन्धो पर निर्भर हो और जो
अर्थ के तकाजे को उपेक्षित करती चले। मुझे लगा कि मैं ऐसी ही कविता
के सम्मेलन में खडा हूँ। मुझे कवि-सम्मेलनो में प्राय. हाहा, हूहू आदि
विशिष्ट मित्रो के साथ खडा-खडा ही काव्य-सुधा का पान करने का
अभ्यास है और कभी-कभी जनसमुद्र के भयकर तरगनाद के मध्य किसी
कवि की काव्यतरणी को मरणान्तक हिचकोले खिलाने में मेरा भी हाथ
रहा है। मुझे लगा कि ये कबड्डी के बोल बच्चो की ऋचाएँ है या उन के
चर्यापद है जो अपनेआप बिना किसी डिंगल-पिंगल के अनुशासन के
जन्म लेते है। चर्या-पदो जैसी प्रतीक भाषा या सन्ध्या-भाषा इन में अन-
जाने उपस्थित हो जाती है। एक ही बोल की प्रथम और द्वितीय पक्ति
के बीच व्याकरण-सम्मत पूर्वापर अर्थ-सम्बन्ध नही मिलता है। कभी-

कभी ये विम्ब अरूपशैली में एक मनोदशा (मूड) पैदा कर के या अर्थ की दूरागत झकार दे कर रह जाते हैं जैसे चांदनी रात में दूरागत गीत का अस्पष्ट खण्ड जिस के शब्दो को पहचाना न जा सके पर जिस में उत्फुल्लता या उदासी सृजन करने की क्षमता हो। इस प्रकार जो अनुभव होगा, वह शब्दो के वँधे वँधाये अर्थ का अनुभव न हो कर श्रोता के मन में एक अस्पष्ट मनोदशा का एव अर्थ की एक व्यग्यात्मक झकार का अनुभव होगा। शिशुवेद के वोल बहुत कुछ इस शुद्धकाव्य की तकनीक का अनजाने में पालन करते हैं। उदाहरण के लिए पहले वोल को ही लें। 'वांस कइनिया लचालची, कौन वोर मोर भुजा धरो'। अर्थात् वांस की टहनी लचक-लचक, कौन है वह साहसी जो पकडेगा मेरी भुजा, जो रोक देगा मेरी राह ? इस अभिव्यक्ति में वांस की टहनी लचक-लचक का व्याकरण-सम्मत अर्थ-सम्बन्ध आगे की पक्ति से नही। यह वाक्याश महज 'लचक' को अरूप या ऐब्स्ट्रैक्ट शैली में विम्बाभिव्यक्ति मात्र करता है और लचक के विम्ब द्वारा उक्त वीर की वांस जैसी दृढ पर लचकती वांह को अप्रत्यक्ष अभिव्यक्ति देता है। इसी भांति 'हडिया में गरई फडकल करी, कौन वोर मोरे जंघा धरी' हांडी में रखी मछली निरन्तर फडकती है। है कोई वीर जो मेरी जांघ पकड सकेगा ? ऊपर से तो प्रथम वाक्यांश का दूसरे से कोई सम्बन्ध नही ज्ञात होता है पर फडकती मछली का विम्ब खिलाडी की अग-अग चचल-देह का अप्रत्यक्ष सकेत देता है। यह अर्थ नही पर अर्थ की दूरागत झकार है। आधुनिक विम्बवादी कविताएँ भी इसी अर्थ-झकार की तकनीक का अनुसरण करती हैं। एक अन्य वोल है—'पीपर का पत्ता, वरैया का छत्ता, जले आधी रात।' दूर कही पीपल का पेड है। उस के पत्ते पर वर्रे या कीडों का छत्ता है और वह छत्ता आधी रात को भक-भक कर के जल उठता है। इन विविध विम्बो द्वारा सुदूरता, अद्भुतता, रहस्यमयता और कुछ-कुछ भयावहता का सृजन होता है। ये पक्तियां अत्यन्त स्पष्ट ढग से सकेत करती हैं कि इस वोल का विषय वे

ओर है जो उस गुह्य, रहस्यमय और अद्भुत से चाक्षुष परिचय कर चुके हैं। ऐसा अवलम्बन लेकिन किन्डरगार्टनी काव्य में प्राय मिलता है। उदाहरण के लिए हर्ट मेथनोत की एक कविता का एक अंश है जिस में वह बेचैनी और भय को अभिव्यक्त कर रहा है :

पलकें मूँद लो पलकों के नीचे दहकते सूरज हैं	(बेचैनी)
देखो दर्पण में बन्द मकान में आखिरी कमरे में दर्पण में देखो आँखें, आँखें, आँखें !	(भयावहता)

पलकें मूँदने पर भी विराम या क्षमा नहीं, आरामदेह अन्धकार नहीं बल्कि चटक दहकती सूरज हैं। ऐसी भयावह मन स्थिति—गोया एक बच्चा किसी बड़े मकान के आखिरी छोर पर अकेले-अकेले पहुँच गया हो और वहाँ रखे एक दर्पण में अपना चेहरा देखे और उस सुनसान एकान्त का भय उस के चेहरे पर ऐसा अंकित हो जाये कि दर्पण में उसे आँखें, आँखें ही दिखाई दें मानो एकान्त सहसा आँखें फाड़ कर उस की ओर देख रहा हो। बहुत कुछ इसी तरह की मिलती-जुलती अभिव्यंजना-शैली शिशुवेद के बोलों में भी पायी जाती है। पर उन में प्राय भय की अभिव्यक्ति न हो कर उत्साह, आनन्द एवं आश्चर्य की या कभी हास्य की भी अभिव्यक्ति पायी जाती है। कभी-कभी इन शिशुओं की उक्तियों का कोई अर्थ ही नहीं निकल पाता और सामान्य दृष्टि से वे ऊलजलूल (एब्सर्ड) लगती हैं। फिर भी ऊपर उद्धृत बोलों में अन्तर्निहित बिम्बों में कम से कम एक विशिष्ट भाव की अर्थ-झंकार प्राप्त होती ही है। परन्तु आपसी मनोरंजन के लिए अकेले या समवेत उच्चारित कुछ बोलों में कभी-कभी इस अर्थ-झंकार को भी पाना मुश्किल होता है। अद्भुत, अद्भुत अति अद्भुत ! रंग-बिरंग, आश्चर्यमय, चमत्कारपूर्ण आदि भाव सुनते-सुनते ही

मन में उठते हैं। पर यह अद्भुत क्या है? यह पता नहीं चलता।

(१) तिलक रइया, बन गोरइया
बन का दूध, पिये गोरैया।
(तीतरराम बनगोराई
बन का दूध पीयें गोरैया)

(२) तालकाटो तर्गुल काटो, काटा बन का खाजा
हाथी पहने घुंघरू, चमक चले राजा

(३) (बंगला देश के चटगांव जिले में प्रचलित एक ऐसे ही
अर्थ-मुक्त शिशु-काव्य का अनुवाद नीचे दिया जा रहा है।)
आम का पत्ता जोड़ा-जोड़ा
मारूँगा चाबुक चढ़ूँगा घोड़ा
ओगे, बीबी पीछे लौट
आ रहा हूँ पगला घोड़ा
पगला घोड़ा है बिगड़ैल
आल राइट वैरी गुड
पाव रोटी बिस्कुट
मेम खाती कुट-कुट
साहब कहे वेरी गुड।

अँगरेजी साहित्य में नर्सरी रॉइम की तकनीक पर ही विक्टोरिया-युग में एक विशिष्ट प्रकार की कविता चली थी 'नॉनसेंस पोयट्री' अर्थ-मुक्त या 'वि-अर्थ' काव्य। एडवार्ड लियर की कृति 'नॉनसेंस रॉइम' उस युग में अति लोकप्रिय हुई थी। रस्किन जैसे गम्भीर आलोचक ने लिखा था कि यदि उस को अपने एक सौ प्रिय लेखकों की सूची बनानी हो तो एडवार्ड लियर का नाम सब से ऊपर होगा। उस की एक अत्यन्त प्रसिद्ध कविता है 'जम्बली'-जम्बली लोगों का चेहरा हरा है, हाथ नीले हैं और वे एक तूफानी दिवस को एक आटा चालने की चलनी पर पाल तान कर अपनी

समुद्र-यात्रा शुरू करते हैं और कविता के अन्त में हम पाते हैं कि वे उस नन्ही सी चलनी में ही लाद कर ला रहे हैं एक उल्लु, एक बैलगाडी, एक सेर चावल, एक टीन जाम, सुनहली मक्खियाँ, हरे रंग के कौए और बन्दर तथा दूर देश से विविध बाजारो में खरीदे गये तरह-तरह के सामान। आदि से अन्त तक असम्भव, ऊल-जलूल और अद्भुत का वातावरण चलता है। ऐसी कविताओ का एकमात्र उद्देश्य है अद्भुत रस का शुद्ध, अखण्डित, अविद्ध आनन्द। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने बंगाल के शिशु-काव्य की (जिसे बंगला में छडा कहते है)* पद्धति पर ऐसी ही अद्भुत रस की कुछ आनन्द-प्रधान नन्ही-नन्ही कविताओं का सृजन किया है। टैगोर की प्रतिभा अत्यन्त जागरूक थी। उन्होने क्लासिकल साहित्य और लोक-साहित्य—दोनो में से व्याप्त प्रत्येक जीवन्त विधा पर कुछ न कुछ प्रयोग अवश्य किया है। जैसे वैष्णव कवियो की पदावली को आदर्श मान कर 'भानुसिंह पदावली' लिखा, वैसे ही शिशुकाव्य की पद्धति पर नये-नये 'छडा' काव्य या बोल का सृजन किया। इन की सख्या ज्यादा नहीं, तो भी रवीन्द्रनाथ की सप्राणता और सजगता की सूचना इस से मिल जाती है।

"ओ पार ते कालो रंग
वृष्टि पडे झम-झम
ए पार ते लका गाछ
लाल टुक-टुक करे।
गुनवती भाई आभार केमन करे।"

(लंका = लाल मिर्च)

---

* 'छडा' शब्द 'छन्द' से निकला है या 'छड' से, यह विवादास्पद है। 'छड' चाहे बाँस का हो या लोहे का, नाप नाप कर काटते हैं। अत बात का 'छडा काटना' भी 'बात खरादना' या 'कानून छाँटना' की तरह मुहावरा बन सकता है।

परन्तु इस का अर्थ यह नहीं कि शिशु-काव्य सदा ही अर्थ-मुक्त या नॉनसेंस ही होता है। ऊपर के उद्धृत फगड्डों के बोलों में एक ढीला-ढाला, बिम्बात्मक या सांकेतिक अर्थ विद्यमान है। इस के अतिरिक्त ऐसा शिशुकाव्य भी प्रचुर मात्रा में प्राप्त होता है जिस में सीधा अर्थ अपनेआप बिना बौद्धिक प्रयत्न के स्पष्ट हो उठता है। उदाहरण के लिए सान्ध्य-मेघ पर

"लाल उपरणा
पीली धोती
मेघा साले पानी दे।"

या मयूर पर

"बिजली चमके
बादल गरजे
मोरवा नाचे
चल मोरवा बारात।"

या तोते पर .

"वन में रहे बनाफर खाये
पीये ठण्डा पानी
सोने के पिंजडवा चित्रकूट!
बोल सुगना चित्रकूट!
सीताराम चित्रकूट।"

या बिल्लो 'मौसी' पर

"नदी किनारे एक गाँव
बिल्ली मौसी म्याँव-म्याँव,
नदी किनारे गाँव है मौसी चार पाव है
मौसी खाये छाली, मौसा दे ताली।"

भाभी पर एक बोल :

"वन में घूमे धौरी गाय। पर्वत कान तुरही गाय
नदी में बहता पानी। घर में भाभी कानी
गोद में मुन्ना सोने का। गोद में मुनिया हीरे की।
पर भाभी मेरी रानी
देर आँगन की रानी
बोलो भाई, घामघूम। घामघूम।..."

मामा पर अपेक्षाकृत कम प्रचलित बोल है

"सात समन्दर देवहा पार
नैया लावे बार-बार
कौआ बोले चार बार,
मामा आवे एक बार।"

देवहा गोरखपुर की एक छोटी नदी है। मामा बहुत कम आता है, इसी से शिशु ने शिकायत की है कि आवगमन की सुविधा है, कौआ बार-बार चारा चाँट जाता है तो भी मामा कभी-कभी ही आते है।

बंगाल देश में शिशु-बोल या शिशुकाव्य केवल बच्चो तक ही सीमित नही है। वय सन्धि की देहरी पर स्थित लडकियो तथा विवाहिता युवतियों, विशेषत. नववधुओ में 'छडा बोल' रचने का खूब रिवाज है। अशिक्षा के युग में यह मनोरंजन और बौद्धिक विलास का साधन था। एक तरह से आबालवृद्ध सब छडा (बोल) रचते थे और परस्पर कहते थे। अब परम्परा मिट रही है या मिट ही गयी है। तो भी बंगाली विद्वानो ने बडे यत्न से इस बिखरी रत्नराशि को जिला प्रति जिला सहेज कर के संगृहीत किया है। उन का यह कार्य देख कर ईर्ष्या होती है। यों इस कार्य के महत्त्व का प्राथमिक उद्घाटन रवीन्द्रनाथ की पुस्तिका—'लोकसाहित्य ओ संस्कृति' के द्वारा ही हुआ था। इधर श्री भवतारण दत्त की पुस्तक 'बांगला देशेर छडा' प्रकाशित हुई है जो बंगला-शिशुबोलो का वृहत्तम संकलन है। गुजराती में यही काम वहाँ के प्रसिद्ध कवि एवं

लोकसाहित्य मर्मज्ञ झवेरभाई मेघाणी ने किया है। इस दिशा में हिन्दी क्षेत्र में ही अत्यल्प कार्य हुआ है। नीचे हम बंगाल में कुछ सयानी लडकियों के बीच प्रचलित दो छडा या बोल दे रहे हैं जिन में वहां की वैष्णव संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट है।

"चांद उठे छे फुल फुटे छे
कदम तला के रे ?
आमि राधार केष्टो ठाकुर
घोमटा तुले दे रे"
(चांद उठा है फुल फूटा है,
कदम तले कौन रे ?
मैं तो राधा का कृष्ण हूं,
जरा घूंघट उठाने दो।)
"ओ ललिते चाम्पकलिते एकटा कथा शुन छे
राधार घरे चोर ढुक छे चूडा बांधा मिन से।

(ओ ललिते ! ओ चम्पकलता ! एक खबर सुनी है। राधा के घर जूडा बांधे कोई मर्द चोर घुसा था।)

शिशु-वेद में दो अग अत्यन्त विशिष्ट है—लालिका (लोरी) और प्रहेलिका (पहेली)। शिशु लालिका का रसिक एव सहृदय श्रोता मात्र है, काव्य-रचना करती है मां या बहन। मुन्ना रो रहा है, मां उस के दरबार में काव्य-पाठ कर रही है। मुन्ना अच्छे मूड में आ गया तो इस का श्रेय शब्दार्थ को नही बल्कि बार-बार दोहराये जाने वाली ध्वनियो को है जो स्वय एक लय का रूप ले लेती है। 'दुर-दुर, दुर-दुर' जैसी निरर्थक ध्वनि भी शिशु को निद्राविष्ट कर देती है। कुछ भोजपुरी लोरियो का भावार्थ इस प्रकार है।

"मैं बाबू-बाबू कहती हूं, चन्दन रगडती हूं, चन्दन (मारे शर्म के) थोडा हो जाता है क्योंकि मेरे बच्चे का मुंह (उस से) गोरा है।"

"वन की चिडियाँ वन में भागी जाती है, अमुक (बच्चे का नाम) धनुष तान कर मारता है, अमुक वहन हीग-जीरे से राँधती है और वह अमुक मूँछे फहरा कर खाता है और चेरी की लडकी छमाछम घूँघरू वजाती हुई आती है और जूठा उठाती है।"

"मेरी गाय का मोल एक दमडी है और वह दूध एक छदाम का देती है (अर्थात् अपने मूल्य से कई गुने का दूध देती है) ओरी गैया! आ और मुन्ने को दूध पिला जा।"

"आओ रे पंछी! मन को भाओ रे पंछी! मुन्ने का मुँह चिढा जा रे पंछी।"

"ओ भाई मुन्ना, तू तो बडा चोर है। बाप का घोडा चुरा बैठा है। तू तो बडे पितामह का नाती है। तेरी 'गाँती' नौ सौ कपडो से बँधी है। तू जगल में हाथी पर चढ कर हाथी दौडा रहा है।"

मुन्ना इतनी निन्दास्तुति सुन कर शान्त हो जाता है और माँ उस के मुँह से कटोरे का दूध लगा देती है और मुन्ना पीने लगता है। माता छन्द-पाठ करने लगती है

"चन्दा मामा, आरे आवऽऽ, पारे आवऽऽ!
नदिया किनारे आवऽऽ!
सोने की कटोरिया में दूधभात ले आवऽऽ!
बचवा के मुँह में घुट्टुक।"

अव मुन्ने की सोने की बारी है! माँ लोरी गाती है, जिस के अनुसार नीद पटने से या कलकत्ते से आ रही है, मुन्ने को ही विशेष रूप से खोजती आ रही है। मुन्ना नीद देखते ही छिप जाता है और नींद तथा उस के बीच लुकाचोरी चलती है। यदि मुन्ना भलेमानुष की तरह नीद के वश में आ जाये तव तो ठीक अन्यथा सियार या भालू सम्बन्धी किसी भयावह लोरी का सहारा ले कर मुन्ने को सुलाना पडता है। परन्तु सियार सम्बन्धी सारी लोरियाँ भयावह नहीं होती। सियार एक कान

काटने वाला प्राणी है तो सियार मामा भी है। एक बंगला लोरी तो सियार को ही दयापात्र ठहराती है। इस का हिन्दी रूपान्तर इस प्रकार होगा—

> "आरे, आरे बाबा स्यार, आमराहार
> नहीं आऊँगा, बाम्हन पाड़ा, पूँछ काटे रे
> कितना रक्त बहा रे
> कितनी व्यथा हुई रे
> 'अमुक' औषध दिया रे
> पूँछ अच्छी हुई रे"

यहाँ अमुक के स्थान पर उन बच्चों का नाम उच्चारित किया जायेगा जिसे ठोक-ठोक कर सुलाया जा रहा है। बंगला देश के अन्दर विशेषतः पूर्व बंग में कुछ अत्यन्त सुन्दर लोरी-गीत प्रचलित हैं। कुछ के भावार्थ उस प्रकार हैं

"हमारा सोना बाबू जा रहा है, लाल-लाल मोजा पहने है और बड़े-बड़े बाघों की बेटियाँ खिड़की से उझक-उझक कर देखती हैं पर सोना धीर-पग जंगल की राह पर चलता जाता है।"

"हमारा नन्हा-मुन्ना गाय चराने जायेगा। उस गाय का नाम है हँसी और मैं अपने मुन्ने की मोहन-चूड़ावली को सोने से मढ़ दूँगी।"

"ओ चन्दामामा, हमारे मुन्ने के माथे पर टीका लगा जाओ। मेरे मुन्ने के माथे पर टीका लगा जाओ, मैं मुन्ने को मछली ला दूँगी, धान कूट कर लाई दूँगी, सोने की थाली में भात परोस दूँगी, राजा की बेटी से ब्याह दूँगी।"

"ओरी नींद आ जा, सियार खीरा खा रहा है पर वह नमक कहाँ पाये। अलोना खा कर जंगल भाग जाता है या नदी की बालू को नमक मान कर खाता है फिर थू'थू करता है।"

शिशुवेद की पहेलियों का प्रचलन कुछ सयाने बच्चों में ही सम्भव

है। दरअसल यह किशोर-साहित्य के अन्तर्गत आता है। यह शिशु-साहित्य नही। प्रहेलिका या पहेली कहने और बुझाने की प्रथा अति प्राचीन है। सभ्य और असभ्य दोनो तरह की जातियो में पहेलियां पायी जाती हैं। परन्तु शिशुओ की पहेलियो में अद्‌भुत रस की कविता पायी जाती है एवं उस में अर्थालंकार (यमक आदि का प्रयोग) या दृष्टिकूटो का प्रयोग नही होता है।

(१) एक पेड मैं ने यहां देखा, एक पेड कलकत्ता
जिस में फल ऊपर पत्ता (गुम)

(२) बत्तीस टंगा बत्तीस लोहार
तो भी न कटे कदम की डार। (परछाईं)

(३) नन्हा योगी जटा लपेटी
जटा में आग भवन में पानी। (हुक्का)

(४) इत्ते से में इत्ता हुआ, कभी नही पिछवाडे गया। (पीठ)

इन पहेलियो की अर्थ-शक्ति सहज और अद्‌भुत बिम्बों के विस्तार पर निर्भर है, शाब्दिक या आक्षरिक दावँपेंच पर नही। इन पहेलियो में कहीं भी शृंगारिकता नही अथवा शब्दगत या अक्षरगत दावँपेंच नही जैसा कि अमीर खुसरो की पहेलियो में प्राय पाया जाता है जिन्हें उन्होंने युवको और प्रौढो के लिए लिखा है। उदाहरण के लिए अमीर खुसरो की एक पहेली है :

"आदि कटे तो सब को भावे। मध्य कटे सब को खावे
अन्त कटे तो सब को मीठा।" (काजल)

शिशु का भाषा-संस्कार इतना समृद्ध नही रहता कि यह पहेली उस की समझ में आ जाये। इसी भाँति नीची कक्षा के कुछ छात्रों में भी कुछ सवाल और उन के जवाब चलते हैं जो भले ही ऊपर से देखने में पहेली लगें पर वे सीधे-सीधे व्याकरण या गणित के प्रश्न रहते हैं। उदाहरण के लिए एक प्रश्न .

(प्रश्न) एक परवल में नो सो वोया
नो सो वर्ष परवल जिया
नो सो परवल टूटे रोज
पण्डित कर, वोया की खोज
(परवल = पटवल, वीया = वोज)
(उत्तर) "छब्बीस पर चोवीस घरो, तापर चार सुजान
सात शून्य आगे घरो, यही वोया परिमान।"
(अर्थात् २,६२,४४,००,००,०००)

छन्दों में ही ऐसे प्रश्न खूब चलते हैं और उन का उत्तर भी दोहा-चौपाई या पद में देना पडता है। इसी कारण हम उन्हें शिशुवेद में सम्मिलित कर सकते हैं। गद्य में उत्तर होने पर तो वे अकगणित हो जाते हैं, साहित्य नही रहते।

हमें शिशुकाव्य या शिशुवेद का एक निर्मलतम उदाहरण निम्नलिखित असमिया छडा में मिलता है

"हुली हुली चाका
धान ना खावी पका
धान पकले चोडा दीम
डाल त परी खावा।
डालडूल भाङी दोम ए।
तेली घर क जावा
तेलिये दीवो तेल, गमछा
मालि ए दीवो फूल
जार जेनी विया आसे
वूढिए कुव्वो ढोल।
ढुलिआ ओ ढूलिओ
तोर भाइर विया

मोरी भाइर विया
तोर चारी पन
मोर चारो पन
घुगरा गाँथो दीआ
घुगरा करे जनर-जूनर
वर आइवारवेला
वर के लागे टेमी कटारो
कइना के लागे फालो
फालो ओ फाली, अधम फाली
कोत पाम में टुपरा फाली
कामरशाली गैलो मँइ'
टूटी डिमा पालो मँइ
कलर गाछते थइ मँइ'
नाव वाइवा गैलो मँइ'
नावते आसे सोन पायरा
ढोले हेन चूडार वादुली"

एक नन्हा सा वच्चा अपने घान के खेत में बैठी चाका (नन्ही 'गुद्दी' चिडिया) से वातचीत प्रारम्भ करता है। पर उस की वातें किसी तर्कपूर्ण लॉजिक या क्रम का अनुसरण नही करती हैं। उस का मन खेल रहा है, इस वात से उस वात पर। वह दूसरी वात पर आ कर पहली वात भूल जाता है। वह स्वभाव से खिलाडी है और न्याय-अन्याय, सही-गलत सोचने की मेधा का अभी जन्म नही हुआ है। नन्हें वच्चे रंग-विरंगी चिडियाँ देख कर मोह से आकर्षित हो जाते है और पा जाते है तो क्रूरतापूर्वक उसी को घसोटते हैं। उन में भले-वुरे की वुद्धि अभी पनपी नही है। वे निरन्तर शुद्ध, निर्मल, भोलीभाली मन.स्थिति में नही रहते हैं। दो-चार वाते उन्हें कौतुकमय और अद्भुत होने के

कारण याद रहती है। वे उन की बेतरतीब चर्चा करते हैं। वे माता-पिता, भाई-बहन को पहचानते हैं, उन्हें अपना मानते हैं। लोपसृष्टि को अपने कौतुक का या क्रीड़ा का उपकरण मान कर ही ग्रहण करते हैं। यही बाल-स्वभाव उपर्युक्त असमिया छड़ा में प्रस्फुटित हुआ है। इस का भावार्थ इस प्रकार होगा :

हट-हट चाकापछी
पका धान मत खाना
धान पकने दे
तुम्हें चिवड़े दूँगा, चिवड़े ही खाना
ऊँची डाल पर बैठ कर खाना
और उसी समय डालपात भग्न कर दूँगा।

(बच्चा चाका पक्षी को भुलावा दे रहा है कि क्या धान खाओगी, एक ही बार बढ़िया चीज़ चिवड़ा खाना। इस पर धोखेबाज़ी के पीछे भी उस को एक शरारत भरी योजना है जिसे वह मन में पचा नहीं पाता और बेवकूफ की तरह उसी पक्षी से कहता है—'ज्यों ही चिवड़ा ले कर डाल पर बैठोगी, मार दूँगा। डाल ही टूट जायेगी।' तभी उस को एक और असलग्न बात याद आती है और वह पक्षी से नीचे कहता है।)

ओ चाका तेली के घर जाना
जिस का जिस का विवाह है
उसे तेली तेल और गमछा देगा
बूढ़ी औरतें ढोल पीटेंगी।

(यह तेली बिना किसी सन्दर्भ के कैसे आ टपका, इस प्रश्न को शिशु-काव्य के अन्दर लाना ही फ़ुज़ूल है। बच्चा है अपने मन का बादशाह। जो याद आया वही लपेट में आ गया। तब तक चाका पक्षी भी भूल जाता है और अगली पंक्ति में ढोली अर्थात् ढोल-वादक को सम्बोधन है :

ढोलिया रे भाई ढोलिया

तेरे भाई का विवाह
मेरे भाई का भी विवाह
तुम्हारा चारपन (अस्सी) ताम्बूल
मेरा चारपन (अस्सी) ताम्बूल

(फिर अगली पंक्ति घांघरा-टोपी, पनडब्बा सरौते की बात आ जाती है। विवाह शिशु के लिए अत्यन्त कौतुकमय लालसा है चाहे अपने भाई का विवाह हो या ढोली, चमार, डोम का ही क्यो न हो—सभी विवाह समान रूप से मनोरंजक है।)

घाघरे को गाँथ दे वर के आने पर
घाघरा करेगा झनर—झनर
वर को चाहिए पानडब्बा और सरौता
कन्या को चाहिए फाली
फाली, धत्तेरे की फाली !
पाऊँगा कहाँ मैं टोपीदार फाली !

(फाली = केशबन्ध या मुकुट)

(भला मैं भाई की वहू के लिए टोपी लगा हुआ मकर-चूड केश-बन्ध कहाँ से ले आऊँ ! पर यह चिन्ता उसे ज्यादा देर नही सताती है और पुन विषय का परिवर्तन होता है और कुछ अत्यन्त 'ऐबसर्ड' बिम्बो मे वह शिशु सोचने लगता है, क्योंकि वह विषय-वस्तु से अत्यन्त ऊब गया है।)

ठठेर की दुकान पर गया मैं
दो अण्डे पाया, उन्हें मैं
केले की गाछ के नीचे रोपा, मैं
नौकावाहित करने गया मैं
नौके में स्वर्ण पारावत थे
ढोल जैसी विपुल काय चमगादड थी
जो बाँस के कोने में बैठी थी।"

ऐसे ही ऊलजलूल विम्ब चलते जाते है और हमें लगता है कि शिशु-जगत् और सुररीयलिस्ट चित्रकारों का चित्र-जगत् परस्पर मिल कर एक हो रहे हैं।

मैं ने यहाँ पर शिशु-काव्य या नर्सरी राँइम के लिए शिशुवेद शब्द का व्यवहार किया है। मेरी समझ से 'शिशु-चर्यापद' या 'शिशुवेद' ही नर्सरी राँइम का सही प्रतिशब्द है। द्वितीय प्रतिशब्द के मूल प्रस्तावक हैं डॉ. सुकुमारसेन। प्रथम तो वेद की तरह ही 'यह भी आदिम साहित्य है। द्वितीयत यह कि जिस तरह वेद अपौरुपेय हैं वैसे ही शिशुवेद के छन्द भी अपौरुपेय है अर्थात् ये किसी पुरुप या व्यक्ति विशेप की रचना नही वल्कि परम्परा से चले आ रहे है। तीसरी वात यह कि जिस प्रकार वेद की ऋचाएँ सुचिन्तित एव प्रयत्न-अर्जित साहित्य नही वल्कि विशिष्ट रहस्य-आकुल एव ऊर्ध्वमुखी मनोदशा में उपजी सहज उद्गान है, ठीक इसी भाँति ये शिशुवेद के वोल या छन्द या छडा भी किसी उत्फुल्ल मानसिक स्थिति में फूटे सहज छन्द मात्र है। इन्ही आधारो पर डॉ सुकुमार सेन ने 'शिशुवेद' शब्द को प्रस्तावित किया है। 'शिशु-चर्यापद' भी समान भाव से उपयुक्त शब्द है। विशेपत शिशुवेद के इन वोलो का उपयोग चर्यापद के रूप में ही खेलकूद की या खिलाने-पिलाने-सुलाने की या मनोरंजन-प्रशिक्षण की विविध चर्याओ में होता है। और इन की भाषा में भी चर्यापद की सन्ध्या–भापा के प्रतीको जैसी ही ऊल-जलूल शब्दावली का प्रयोग मिलता है। अत ये वोल एक अर्थ में शिशु वेद है तो उसी के समकक्ष अन्य अर्थ में शिशुचर्यापद भी। चाहे हम इसे शिशुवेद कहें या शिशुचर्यापद, जो स्मरण रखने की वात है वह यह है कि जिस जाति के शिशुवेद और स्त्री-आचार के सगीत (विवाह, व्रतवन्ध एव पूजा के गान) इन दोनों का उच्छेद हो गया हो उस जाति की आयुर्दाय समाप्त मान लेनी चाहिए। अत्यन्त खेद की बात है कि उत्तर भारत में स्त्री-आचार के पुराने सगीत की जगह नये सन्दर्भहीन वेसुरे तर्जों की

स्थापना हो रही है। रेडियो और सिनेमा के गीतो के वाक्यांशों को घुसेड कर इतनी भोजपुरी और खडी बोली की दुर्गन्धमय खिचडी तैयार हो रही है कि हमारे सामने अब सस्कृति की सुरक्षा के लिए खतरा उपस्थित हो गया है। उत्तर भारत में उर्दू कल्चर की सतही चकाचौंध से उत्पन्न गलित, एकरस तथा कुसंस्कार-गत परिवेश में देशी भाषा और देशी सस्कृति का भी अपभाषा और अपसंस्कृति में कुरूप रूपान्तर पहले ही से चालू था। उन्नीसवी शती में सहज, सप्राण, जन्मजात और सनातन भाव-बिम्बो का निषेध देशी भाषा में भी प्रारम्भ हो गया था। परन्तु इस के विरुद्ध हिन्दी तथा लोक-भाषाओ ने डट कर सघर्ष किया और जब बात कुछ-कुछ सँभली तो आ गया सिनेमा, और दो मास कस्बे में रह कर लौटने वाली अर्द्ध-शिक्षित लडकियों ने गलत भाषा-सस्कारो को ले कर स्त्री-आचार के संगीत को ही नया करना शुरू कर दिया। फलत. आज अप-सस्कृति के भयावह लक्षण उपस्थित हो गये हैं। इस का सर्वप्रथम फल होगा कि लोक-कथाओ, लोक-साहित्य, शिशु-वेद तथा स्त्री-आचार-सगीत की मृत्यु। तब हिन्दी भाषा भयावह रूप से दरिद्र हो जायेगी। हम शुद्ध सहज भावबिम्बो और अभिव्यक्ति पैटर्नों को खो कर सदैव अरबी-फारसी या संस्कृत-अंगरेजी की सैकेंडहैंड तथा किताबी पूँजी पर निर्भर हो जायेंगे। तब सूर और तुलसी जैसी समृद्ध भाषा लिखने वाले लेखक इस हिन्दी भूखण्ड में पैदा नही हो पायेंगे। इस बात को ध्यान में रखते हुए इस शिशु-वेद की रक्षा इसे अपने हृदय में स्थान दे कर करनी है। जो बात मर्म से निकलती है वह आवास के लिए मर्म की ही अपेक्षा करती है। भोजपुरी-मगही-मैथली-छत्तीसगढी के नाम पर प्रसारित भाषा-आन्दोलनो के तीसमारखां लोग एवं विश्वविद्यालयो के आनन्दलीन धुरन्धर सुखासीन महन्तगण धरती के इस बिना मूल्य प्राप्त अमूल्य आशीर्वाद की रक्षा करने की ओर ध्यान दें तो कुछ हो, क्योंकि कुछ करने की सर्वाधिक सुविधा इन्हें ही प्राप्त है।

पुनश्च बंगला और असमिया के उद्धरणों को छोट कर शेष सारे उद्धरणों का मूलपाठ भोजपुरी है, जिन में कुछ का अर्थ दिया गया है और कुछ का निकटतम खड़ी बोली-रूपान्तर प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत लेख भोजपुरी-मगही-मैथिली-छत्तीसगढ़ी-हरियानवी-राजस्थानी आदि उन सभी बोलियों के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया जा रहा है जो हिन्दी की उप-भाषा हो या न हो परन्तु हिन्दी क्षेत्र में बोली जाती है। मैं एक सांस्कृतिक समस्या की चर्चा कर रहा हूं और 'उपभाषा-राजनीति के सन्दर्भ से मुक्त हो कर इस लेख का पाठ करने के लिए आग्रह कर रहा हूं।

●

अपनी बात

पाठक जानना चाहेंगे कि इस संग्रह का नाम 'गन्धमादन' क्यों रखा गया। 'गन्धमादन' का अभिधार्थ होगा : जो सुगन्ध द्वारा मादन करे। ये निबन्ध शब्दों के महाकान्तार की रचना करते हैं जिस के भीतर कुसुमित अर्थों की विविधा सुगन्ध प्राप्त करने के लिए जाने-अनजाने मार्ग पर संचरण करने का कष्ट करना होगा। ये निबन्ध वाक्यों के चन्दन-काष्ठ हैं, जिन से भावों और विचारों की सुगन्ध प्राप्त करने के लिए पाठक को थोड़ा सा निर्मल-तरल मन दे कर इन्हें कष्टपूर्वक घिसना पड़ेगा। साहित्य का आनन्द ही बौद्धिक आनन्द है और प्रत्येक बौद्धिक आनन्द के लिए अल्प चेष्टा या थोड़ा प्रयत्न अपेक्षित है। श्रेष्ठ साहित्य वह साहित्य है जिस के चारों पाये—विस्तार, गहराई, उदात्तता और रोचकता (लालित्य) समान रूप से सबल हों क्योंकि धर्म की ही तरह साहित्य भी चतुष्पाद सत्ता है। फ़र्क़ यही है कि धर्म पर नग्न शिव सवार होते हैं तो साहित्य पर त्रिपुरसुन्दरी की सवारी होती है। सम्भवतः यही कारण है कि धर्म और साहित्य उस 'संयुक्त दरबार' के बाहर परस्पर शत्रु हो जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि साहित्य के चतुर्दिक मर्म को उपलब्ध करने के लिए थोड़ा कष्ट उठाना अनिवार्य है। केवल रोचकता-प्रधान चालू उर्दू शायरी की या केवल विस्तार-प्रधान यथार्थवादी उपन्यास या फ़िल्मी गीतों की बात मैं नहीं कर रहा हूँ। क्योंकि मैं उन्हें श्रेष्ठ साहित्य की कौन कहे, पूर्णांग साहित्य भी नहीं मानता हूँ। कोई और मानता हो तो माना करे। परन्तु जिसे सचमुच साहित्य कहते हैं उस के मर्म को समझने के

लिए राजा-रक—सभी को समान रूप से उस के महाकान्तार में पदयात्रा करनी पडती है एव अभिव्यक्ति के चन्दन-काष्ठ को बैठ कर घिसना पडता है। और मेरी रचनाएँ तो सनातन 'शुष्क काष्ठं तिष्ठति अग्रे' कह कर बदनाम किये गये गद्य में है। अत उन के विषय में यह बात और लागू होती है। तो भी इन रचनाओ के मर्म में छिपी अर्थ की 'गन्ध' पाठक की आत्म-सत्ता का 'मादन' करेगी, ऐसा मेरा विश्वास है। इसी से इस सग्रह का नाम रखा गया है—'गन्धमादन।'

यो 'गन्धमादन' शब्द पर मैं बचपन से ही मुग्ध हूँ। महाभारत के वनपर्व में महाबाहु भीमसेन गन्धमादन के कुसुमित शैल-कानन मे अपनी प्रिया द्रौपदी की प्रसन्नता के लिए महासौगन्धिक शतदलो का अनुसन्धान करते हुए प्रवेश करते है। यहाँ यक्षराज कुबेर का क्रीडा-कान्तार है, जिस के मध्य वह सुगन्ध-सम्पृक्त पद्म-वन स्थित है। इस के अन्दर किसी मनु पुत्र का प्रवेश सम्भव नही। यहाँ आरक्तनयन यक्षो और किम्पुरुषों का भीषण पहरा है जो गन्धमादिनी माध्वीका पान कर के भुजाओ और शीश पर मणि-माणिक धारण कर के इस नित्य ज्योत्स्ना से आलोकित भूमि पर शस्त्र ले कर निरन्तर विचरण करते है, और इन इच्छाचारी कामरूपी जीवो के लोक में मर्त्य का सचरण असम्भव है। इसी गन्धमादन की तलहटी में कदली वन पार करते समय भीमसेन की भेट अपने बडे भाई हनुमान् जी से भी हो जाती है। गन्धमादन से सटा हुआ कैलाश शिखर है जिस के क्रोड में अलक्ष्य पुरी अलका है। गन्धमादन का शैल-कान्तार मर्त्य चरणों की दिगन्त भूमि है जिस के आगे सशरीर जाना सम्भव नही, जिस के आगे सिद्ध, विद्याधर और देवता ही जा सकते है। भीमसेन की यह गन्धमादन-यात्रा नन्हें लघुकाय मनुष्य के भीतर निहित हिमालय से भी उच्चतर साहस और समुद्र से भी अधिक क्षुधित, विस्तृत और अनन्त जिज्ञासा को प्रामाणिकता देती हुई ज्ञात होती है। परन्तु इस दुर्गम पथ पर, साहस और जिज्ञासा की इस विकट यात्रा में मनुष्य का

सम्बल या पाथेय है किसी के प्रति या 'कुछ' के प्रति प्रगाढ आसक्ति या ममता। बिना ममता और प्रेम के, साहस और जिज्ञासा जड हैं। उन में चैतन्य का स्फुरण होना असम्भव है। इसी से व्यास ने भीम के लिए 'द्रौपदी वाक्य पाथेयो . ' लिख कर यह व्यक्त किया है कि इस दुर्गम यात्रा का पाथेय था प्रिया द्रौपदी का अनुरोध-वाक्य। वही भीम को इस बाधा-विपत्ति के मध्य बेपरवाह रूप में चला रहा था। 'गन्धमादन' को मैं मानवीय कल्पना के मध्य उपलब्ध रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द की चरम सीमा या दिगन्त भूमि के रूप में देखता हूँ। इस से आगे निषेध की लक्ष्मण-रेखा है। इस के आगे जाना समाज बाँध कर रहने वाले मनुष्य के लिए सम्भव नही। जब मैं इन निबन्धो को लिख रहा था तो मुझे कभी-कभी ऐसा लगा कि मैं भी भीमसेन की तरह गद्य की भारी-भरकम गदा लगाये कल्पना और अनुभूति के गन्धमादन में प्रवेश कर रहा हूँ और इस के आगे कोई सव्यसाची, कोई धनुर्धर बन्धु, कोई कवि, भले ही चला जाये, परन्तु किसी गदापाणि गद्यकार के लिए इस के आगे जाना निषिद्ध है। इस कारण से भी मैं ने इस संग्रह का नाम 'गन्धमादन' देना उचित समझा।

ऊपर के दोनो कारण सुचिन्तित कारण हैं। परन्तु इसे 'गन्धमादन' नाम देने का अयाचित एवं सहज प्राप्त कारण और कुछ है, और वह है एक दिन की एक छोटी सी घटना जिस के उपसंहार में मैं ने निश्चित किया कि मेरे वर्तमान संकलन का नाम होगा 'गन्धमादन।' एक दिन मैं ने अपने मित्र प्रोफ़ेसर ईश्वरचन्द्र बरुआ के घर उन की ही लूचियों और चाय का ध्वंस करते हुए उन के ही साथ 'ताम्बूल' शब्द ले कर कृतघ्नता-पूर्वक घोर मतभेद की सृष्टि की और विवाद के अन्दर अपने स्वभाव के आर्येतर अंशों का पुट दे कर उन्हें काफी विरक्त किया। हिन्दी में 'ताम्बूल' माने 'पान' और असमिया में (जो शुद्ध हिज्जे है 'असमीया' पर उच्चारण सदैव 'असमिया' होता है) इस का अर्थ है 'सुपारी'। मैं ने जब

बहुत तुमुल तर्क-वितर्क मचाया तो उन्होंने चिढ़ कर बगल के अध्ययन-कक्ष में बैठे अपने लड़के पुलक से कहा, 'पुलक, टेबुल पर मोनियर विलियम्स की संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी रखी है। जरा 'ताम्बूल' शब्द का अर्थ तो देखो, अभी फैसला हो जाये।' दूसरे ही क्षण पुलक भारी-भरकम शब्दकोश को हमारे हाथ में थमा गया। इस पर बरुआ साहब ने कुछ विरक्तिपूर्ण ढंग से कहा, "हुँः, कहा एक शब्द का अर्थ देखने के लिए तो गन्धमादन ही उठा लाये।" खैर कोश में 'ताम्बूल' शब्द का मुख्य अर्थ तो पान अर्थात् 'नागवल्ली पत्रम्' ही दिया था, पर यह भी लिखा था कि कहीं-कहीं 'बोलचाल' की 'कोलोकियल' संस्कृत में इस का अर्थ 'सुपारी' भी होता है। सो, बात दोनों की रह गयी। पर एक नयी उपलब्धि हुई असमिया मुहावरा 'गन्धमादन उठा लाना।' जिस का इस भाषा में बहुत दिनों से पर्याप्त प्रचलन है। असमिया-विश्वास के अनुसार लक्ष्मण-शक्ति के अवसर पर हनुमान जी जिन चार ओषधियों (मृतसंजीवनी, विशल्यकरणी, सुवर्णकरणी और सन्धानी) वाले शैल शिखर को उखाड़ कर लाये थे उस का नाम भी 'गन्धमादन' ही है।

अब पुनः दूसरे मतभेद का जन्म हुआ। उत्तर भारत में 'आध्यात्म रामायण' का पठन-पाठन रामावत सम्प्रदाय के केन्द्रों में वाल्मीकि की अपेक्षा अधिक होता है क्योंकि आध्यात्म रामायण के राम परमात्मा पर-ब्रह्म के अवतार हैं। आध्यात्म रामायण में तो इस पर्वत का नाम क्षीरसागर-स्थित 'द्रोणाचल' बताया गया है। यों गोसाईं जी ने 'मानस' में कोई नाम नहीं दिया है। 'कहा नाम गिरि औषधि ' तथा 'देखा शैल, न औषधि चीन्हा। सहसा करि उपारि कपि लीन्हा' कह कर वे प्रसंग समाप्त करते हैं। हम दोनों ने तय किया कि इस सन्दर्भ में वाल्मीकि जो कहें वही ठीक माना जायेगा। वाल्मीकि ने उस शैल का नाम तो नहीं दिया है परन्तु सर्ग ७८ के श्लोकों (२९-३०) में उस की स्थिति (लोकेशन) को बताया है हिमालय से उत्तर ऋषभ और कैलाश पर्वत के बीच

का शैल शिखर, जिस पर उक्त चारो औषधियाँ रात्रिकाल में भी प्राण और आरोग्य के प्रकाश से रत्नो की तरह प्रकाशित रहती हैं। इस बात को पढ़ कर मुझे भी ऐसा लगा कि वाल्मीकि प्रत्यक्ष नाम न दे कर भी अप्रत्यक्ष रूप से 'गन्धमादन' को ही उक्त शैल घोषित कर रहे है। 'महाभारत' में गन्धमादन की स्थिति जो बतायी गयी है वह हूबहू यही है। वाल्मीकि के अनुसार उक्त औषधि शैल के ठीक परे अर्थात् उत्तर में कैलाश पर्वत और देवभूमि है, तथा व्यास के गन्धमादन की भी स्थिति यही है। बाद में यक्षराज कुबेर पाण्डवो का आतिथ्य कर के उन्हें इसी दिगन्त भूमि से कैलाश और देवलोक को प्रणाम कर के लौट जाने को कहते हैं और पाण्डवगण भी उस से आगे नही जाते, वही से लौट आते हैं। असमियाभाषी समाज, जिस को आधुनिक आर्यभाषाओ में सर्वप्रथम १४ वी शती में अपनी असमिया भाषा में रामायण का पद्य-रूपान्तर करने का श्रेय प्राप्त है, यदि इस शैल-शिखर को गन्धमादन मान कर ग्रहण करता है तो इस में कोई अनौचित्य नही। यह मुहावरा मुझे बिल्कुल ठीक जँचा और मैं ने निश्चय किया कि मेरे इस सग्रह का नाम भी 'गन्धमादन' रहेगा। मेरी अपनी पीढी विविध विकारो से पीडित है। इस की बुद्धि पर 'शब्दो' और नारो के प्रेत सवार है, इस के मन में क्षुधित 'लिबिडो' (घोर कामतृषा) का दशमुख-अट्टहास है, इस के इन्द्रिय-द्वारो के रक्षक देवता इसे त्याग गये है और यहाँ शैतानो का बहुरूपी वंश आ कर स्वामी हो गया है। 'नये' शैतान 'नये' प्रेत उन 'पुराने' प्रेतों-शैतानो से कम मायावी और क्रूर नही। आज हम सब मानवीय चरित्र के अमानवीयकरण की प्रक्रिया में पुनर्जन्म लेते हुए ज्ञात होते है। ऐसी अवस्था में साहित्य के भीतर कही कोई 'गन्धमादन' खोजना जिस के क्रोड में तमसाच्छन्न रात्रि को विदीर्ण करता हुआ चार औषधियो का प्रकाश दहक रहा हो, मेरा आदर्श है, मेरी चेष्टा का लक्ष्य-बिन्दु है और इस बात के साक्षी है ये निबन्ध। अत मैं इस सग्रह को 'गन्धमादन' नाम दे रहा हूँ। मनुष्य की

मनुष्यता के प्रति मेरी इस प्रतिबद्धता को कोई गाली देना चाहे तो दे। परन्तु मैं 'मनुष्य' को (और उस की अपनी ही प्रतिमा के रूप में 'ईश्वर' और 'प्रकृति' को भी) छोड़ कर अन्य किसी के प्रति साहित्य को प्रतिबद्ध नहीं मानता। शेष अन्य प्रकार की प्रतिबद्धताएँ अधूरी हैं, चाहे वह प्रतिबद्धता बहुविज्ञापित समाजवाद के प्रति ही क्यों न हो। समाजवाद को मैं अर्थ के पुरुषार्थ से ही नयुक्त मानता हूँ। यह मूलत आर्थिक सम्बन्धों का दर्शन है और आज की राजनीति अर्थप्रधान है अत यह राजनीतिक दर्शन भी हो सकता है। परन्तु शेष तीनों पुरुषार्थों काम, धर्म और मोक्ष के सन्दर्भ में यह अक्षम और विगत है। साहित्य मोक्ष का ही लौकिक रूपान्तर है क्योंकि मोक्ष और साहित्य—दोनों का अनुभव भोक्ता के सांसारिक व्यक्तित्व के लोप की अपेक्षा करते हैं और दोनों का अनुभव शुद्ध आनन्द है। अत साहित्य के अन्दर समाजवाद के प्रति प्रतिबद्धता बहुत दूर तक स्वीकृत नहीं हो सकती। मैं समाजवाद का समर्थक हूँ परन्तु 'परब्रह्म' की तरह असीम और सर्वव्यापी रूप में नहीं। वह जीवन का आदि और अन्त नहीं। जीवन का आदि है 'काम' अर्थात् प्रकृति और अन्त है 'मोक्ष' अर्थात् ईश्वर। बीच में है अर्थ और धर्म, और यहीं पर समाजवाद को खोजा जा सकता है। साहित्य आदि, मध्य और अन्त तीनों का शास्त्र है जब कि राजनीति अर्थशास्त्र, शीलाचारिकी, विधि-विधान केवल मध्य के शास्त्र हैं। साइंस आदि और अन्त का शास्त्र है मध्य का नहीं। साहित्य की तरह यह भी किसी पार्टी या सिद्धान्त के प्रति प्रतिबद्ध नहीं हो सकता। कहने का अर्थ यह है कि साहित्य आदि और अन्त के साथ-साथ मध्य से भी संलग्न है, अत इस में 'चर्च,' 'पार्टी' और 'वाद' के लिए स्थान है अवश्य परन्तु इस का आदि और अन्त वे नहीं हो सकते। अत इस से उन के प्रति शतश प्रतिबद्धता की (जो 'दलाली' और 'स्वामिभक्ति' का ही दूसरा नाम है) आशा नहीं की जा सकती। और इस स्पष्ट कथन के लिए मैं किसी से क्षमा नहीं माँगता।

मैं जो ठीक समझता हूँ वह कहूँगा ही। चाहे इस के लिए मुझे जो संज्ञा दी जाये, मुझे इस की चिन्ता नही। मैं गोसाईं जी की चौपाई 'वुन्द अघात सहैं गिरि कैसे....' को पुन धन्यवाद देते हुए दोहरा दूँगा।

'रस आखेटक' की भूमिका में मैं ने लिखा था कि मेरा अगला संग्रह 'लौहमृदग' होगा। खेद है कि 'लौहमृदंग' का कुछ मैटर एक नयी पीढी के प्रकाशक के यहाँ कैद हो गया है। अत 'गन्धमादन' ही अब मेरा तीसरा प्रकाशित सग्रह है, और 'लौहमृदंग' की वारी इस के वाद आयेगी। 'प्रियानीलकण्ठी' की भूमिका में मैं ने शिकायत की थी कि पश्चिमी उत्तर प्रदेश, दिल्ली और पंजाव के पाठक मेरी रचनाओं को सम्भवत नही पढते हैं, या कम ही पढते है। मेरी भ्रान्ति के विरोध में मेरे पास कई पत्र आये और उत्तर प्रदेश सरकार ने उक्त पुस्तक को १९७१ में 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पुरस्कार' प्रदान कर के पुरस्कार अवधि के भीतर श्रेष्ठतम निवन्ध साहित्य के रूप में स्वीकृति दी। मेरे मन में अब कोई भ्रम नही। मैं सम्पूर्ण भारतवर्ष के पाठको का समान रूप से स्नेह-आदर पाता रहा हूँ और इस के लिए सव का आभारी हूँ।

अन्त में एक वात और कह दूँ। साहित्य के दायित्व के सम्वन्ध में जिन वड़ी-वड़ी वातो की मैं ने चर्चा की है वे सभी मेरे लेखन में मौजूद हैं, ऐसा दावा करना मेरा उद्देश्य नही। मेरा तात्पर्य इतना ही है कि ये सव वाते मेरे आदर्श या मेरी चेष्टा के लक्ष्य को व्यक्त करती है। चेष्टा में कितनी सफलता मिली है—इस का निर्णय मैं नही, मेरे पाठक करेंगे। और अभी तो मैं स्वय ही अपने को 'अस्ति' नही 'भवति' की प्रक्रिया में स्थित मानता हूँ। 'है' नही वल्कि नित्य 'हो रहे' की विकासमान प्रक्रिया ही हमारी, हम सव की, सही व्याख्या है।

कुवेरनाथ राय

नलवारी (असम)
२६ जनवरी '७२